

यशोभारती-जैन-प्रकाशनपुष्पम्-६

आर्षभिय-चरित-महाकाव्यम्
विजयोल्लास-महाकाव्यम्
तथा

सिद्धसहस्रनामकोशः

रचयितारः

स्व० न्यायविशारद-न्यायाचार्य-महोपाध्याय-
पू० श्रीमदयशोविजयजीमहाराजः

सम्पादकः संशोधकश्च

प्राचार्यश्रीयशोदेवसूरीश्वरजीमहाराजः

(भूतपूर्व-मुनि-श्रीयशोविजयजीमहाराजः)
साहित्य-कलारत्नम्

प्रकाशिका

श्रीयशोभारतीजैनप्रकाशनसमितिः



आर्षभीय-चरित-महाकाव्यं
विजयोल्लास-महाकाव्यं
-तथा-
सिद्धसहस्रनामकोशः

— रचयितारः —

न्यायविशारद-न्यायाचार्य-महोपाध्याय-
पू० श्रीमद्'यशोविजयजी'महाराजाः

सम्पादकः संशोधकश्च—

जैनमुनिः पू० श्रीयशोविजयजीमहाराजः

— साहित्य-कलारत्नम्

प्रकाशिका

श्रीयशोभारतीजैनप्रकाशनसमितिः

बम्बई

प्रकाशिका—

श्रीयशोभारती जैन प्रकाशन समिति:
द्वारा—जे० चित्तरंजन एण्ड कम्पनी
३१२, मेकर भवन, रूम नं० ३,
२१, न्यू मरीन लाइन्स, बम्बई - ४०००२०

प्रथमावृत्ति:—

प्रतयः—५००

मूल्यम्—२०-०० बीस रुपये

वि० सं० २०३४]

वीर सं० २५०४

[ई० सं० १९७६

© सर्वेअधिकाराः प्रकाशिका-समित्यधीनाः

प्राप्ति स्थान—

- (१) श्री यशोभारती जैन प्रकाशन समिति
द्वारा—जे० चित्तरंजन एण्ड कम्पनी,
३१२, मेकर भवन, रूम नं० ३,
२१, न्यू मरीन लाइन्स, बम्बई - ४०००२० (महाराष्ट्र)
- (२) श्रीयशोभारती जैन प्रकाशन समिति
द्वारा—श्रीकान्तिलाल डी० कोरा
५/४८ महावीर जैन विद्यालय, अगस्त क्रान्ति मार्ग,
बम्बई - ४०००२६ (महाराष्ट्र)

मुद्रक—निरुपमा प्रिन्टर्स, ५३३६ लड्डूघाटी, पहाड़गंज,
नई दिल्ली-११००५५

Shri Yashobharati Jain Publication Series-9

**Arshabhiya-Charita-Mahakavyam
Vijayollasa-Mahakavyam
and
Siddhasahasranamakoshah**

By

*Nyāya-Vishārada, Nyāyāchārya, Mahopādhyāya
Shrimad Yashovijayaji Mahaārja*

★★★

Chief Editor and Vetter

Jain Muni Śhri Yashovijayaji Maharaja
Sahitya-Kala-ratna

Publisher :

Shri Yashobharati Jain Prakashan Samiti
BOMBAY

Publisher

Shri Yashobharati Jain Prakashan Samiti,

C/o. M/s. J. Chittaranjan & Co.

312, Maker Bhawan, III

21, New Marine Lines, Bombay - 400020 (Maharashtra)

First Edition

Copies 500

Price : Rs. 20.00

Rupees Twenty

Vikram Samvat-2034]

Vir Samvat 2504

[A.D. 1978

© Shri Yashobharati Jain Prakashan Samiti,
BOMBAY.

Distribution Centres :

1. Shri Yasho Bharati Jain Prakashan Samiti,
C/o. M/s J. Chittaranjan & Co.
312, Maker Bhawan, III
21, New Marine Lince, Bombay-400020.
2. Shri Yasho Bharati Jain Prakashan Samiti,
C/o. Kanti Lal D. Kora, 5/48, Mahavir Jain Vidyalaya,
August Kranti Marg, BOMBAY-26

*Printers ; Nirupama Printers, 5339, Laddu Ghati, Paharganj,
New Delhi-110055.*

विषयानुक्रमणिका

- | | | | |
|---|---------|--------------------------|----------|
| १. प्रकाशकीय निवेदन | ... | ... | ६-८ |
| २. महोपाध्याय श्रीमद्यशोविजयजी गणिवर्य का चित्र एवं जीवन-चरित्र. | | | ६-२४ |
| ३. प्रस्तुत पुस्तक में संगृहीत ग्रंथों की स्वयं पू० उपाध्यायजी द्वारा लिखित पाण्डुलिपियों के परिचयात्मक चित्र | | | २५-२७ |
| ४. प्रधान-सम्पादकीय— आर्षभीयचरित्र अने विजयोल्लास बे महाकाव्यो अने एने अनुलक्षीने कथनीय कईक गुजराती) | | | (-११) |
| ५. सिद्धसहस्रनी प्रस्तावना (गुजराती) | | | (१२-२६) |
| ६. भगवान् श्री नेमिनाथजीनुं स्तवन... पू० म०म० श्रीमद् यशोविजयजी महाराज | | | (२७-२८) |
| ७. उपर्युक्त दोनों प्रस्तावनाओं का हिन्दी अनुवाद | | | (१-२६) |
| ८. भगवान् श्रीनेमिनाथजी का स्तवन (गुजराती भाषा में) | | | (२७-२८) |
| ९. प्राक्कथन डॉ० रुद्रदेव त्रिपाठी | | | १-४८ |
| १०. आर्षभीय-चरित-महाकाव्यम् | | | |
| प्रथमः सर्गः | १-३६ | द्वितीयः सर्गः | ३६-७० |
| तृतीयः सर्गः | ७१-१०१ | चतुर्थः सर्गः (अपूर्णः) | १०२-११६ |
| ११. विजयोल्लास-महाकाव्यम् | | | |
| प्रथमः सर्गः | १२१-१४७ | द्वितीयः सर्गः (अपूर्णः) | १४८-१६४ |
| १२. सिद्धसहस्रनाम कोशः १६५-१६४ सिद्धसहस्रनामावलीपाठः १८५-२०७ | | | |
| परिशिष्ट | | | |
| १. आर्षभीयचरितमहाकाव्यस्य श्लोकानामकाराद्यनुक्रमणिका | | | २०६-१८ |
| २. विजयोल्लासमहाकाव्यस्य श्लोकानामकाराद्यनुक्रमणिका | | | २१६-२२२ |
| ३. सिद्धसहस्रनामकोशस्य श्लोकानामकाराद्यनुक्रमणिका | | | २२३-२२४ |
| ४. सिद्धसहस्रनामकोशस्य नाम्नामकाराद्यनुक्रमणिका | | | २२५-२४० |
| ५. शुद्धि-पत्र | | | २४१-२४२ |
| ६. श्रीमद्यशोविजयजीमहाराज की कृतियों की सूची | | | (क से ज) |
| ७. मुनि श्रीयशोविजयजी (वर्तमान-आचार्य श्रीयशोदेव सूरीश्वरजी) महाराज की कृतियों की सूची | | | (झ से घ) |

प्रकाशकीय निवेदन

परमपूज्य आचार्य श्री १००८ श्रीमद् विजयप्रतापसूरीश्वरजी महाराज तथा युगदिवाकर परमपूज्य आचार्य श्री १००८ श्रीमद् विजयधर्मसूरीश्वरजी महाराज एवं परमपूज्य साहित्य-कलारत्न मुनिवर श्रीयशोविजयजी महाराज की प्रेरणा से आज बीस वर्ष पूर्व सन् १९५७ ई० में बम्बई के माटुंगा उपनगर में दानवीर धर्मश्रद्धालु श्रेष्ठिवर्य श्रीयुत माणकलाल चुन्नीलाल के शुभ करकमलों से 'श्रीयशोविजय-स्मृतिग्रन्थ' के प्रकाशन का भव्य-समारोह सम्पन्न हुआ था। उस समय बम्बई के अनेक सुप्रसिद्ध तथा अग्रणी समाजसेवी उपस्थित हुए थे। उसी प्रसङ्ग पर सत्रहवीं शती में उत्पन्न, हमारे परमोपकारी, जैनशासन के समर्थ ज्योतिर्धर, सैकड़ों ग्रन्थों के प्रणेता, षड्दर्शनवेत्ता, न्यायविशारद, न्यायाचार्य, महोपाध्याय श्रीमद् यशोविजयजी महाराज द्वारा रचित ग्रन्थों के प्रकाशन का कार्य सुगम बने, इस दृष्टि से एक छोटा-सा फण्ड इकट्ठा किया गया और उसमें जैन-जनता ने उदारता-पूर्वक सहयोग दिया। तदनन्तर उनके ग्रन्थों को प्रकाशित करने के लिए 'श्री यशोभारती जैन प्रकाशन समिति' नामक एक संस्था की स्थापना की गई। इस संस्था द्वारा आज तक कुछ ग्रन्थों का प्रकाशन किया गया, जिनमें 'ऐन्द्रस्तुतिचतुर्विंशतिका, यशोदोहन और वैराग्यरति' आदि ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण हैं। इन ग्रन्थों के प्रकाशन के पश्चात् फण्ड कम होने से चिर-स्थायी फण्ड के लिए प्रयास किया गया। जैन श्रीसंघ ने पुनः प्रशंसनीय उत्साह से सहयोग दिया। उसके परिणाम-स्वरूप पूर्ववत् प्रकाशन के कार्य को आगे बढ़ाया गया। उसी का यह परिणाम है कि पू० उपाध्यायजी के अन्य ग्रन्थों के प्रकाशन का कार्य सुलभ हो सका। एतदर्थ उपदेशकों, प्रेरकों और ज्ञानप्रेमी दानदाताओं को हम धन्यवाद देते हैं।

पूज्य उपाध्याय श्रीमद् यशोविजयजी महाराज की रचनाएं क्रमशः प्राकृत, संस्कृत, गुजराती, हिन्दी और मिश्रभाषा में हैं। वे संस्कृत भाषा के एक महान्

कवि और टीकाकार थे। उनकी रचना-शैली प्रौढ-पाण्डित्य से परिपूर्ण थी। अतः उनका आनन्द सर्वसाधारण को प्राप्त हो, इस बात को लक्ष्य में रखकर संस्था ने प्रारम्भ से ही गुजराती और हिन्दी भाषा में अनुवाद करवाकर ग्रन्थ-प्रकाशन को प्राथमिकता दी है। इस दिशा में गत वर्ष पूज्य उपाध्यायजी महाराज के संस्कृत भाषा में रचित स्तोत्रों का हिन्दी अनुवाद करवाकर 'स्तोत्रावली' नामक ग्रन्थ के रूप में प्रकाशन किया गया। इनके प्रकाशन से जहाँ भक्तजनों को भगवद्भक्ति की प्रेरणा प्राप्त हुई वहीं काव्य-कलारसिकों को उनकी उत्तम काव्यकला का आनन्द भी मिला। हिन्दी भाषा में अनुवाद होने से भारत के सभी प्रान्तों में उसका समान आदर हुआ और संस्था का यह कार्य सर्वत्र सम्मान को प्राप्त हुआ।

ऊपर यह कहा गया है कि श्री उपाध्याय जी न केवल कवि ही थे, अपितु एक महान् टीकाकार भी थे। इस दृष्टि से उनकी साहित्यशास्त्र के एक महान् ग्रन्थ 'काव्य-प्रकाश' पर की हुई टीका की प्रति परमपूज्य, जैन साहित्य के प्रखर संशोधक, ग्रन्थ-प्रकाशक तथा आजीवन श्रुतोपासक, विद्वद्भयं, आगम-प्रभाकर मुनिप्रवर 'श्रीपुण्यविजयजी महाराज' ने एक अशुद्धप्राय प्रति की अत्यन्त सुन्दर अक्षरों में स्वयं अपने हाथ से प्रेस कापी तैयार की तथा वह इस संस्था के प्रेरक पूज्य मुनि श्रीयशोविजयजी महाराज को सहर्ष प्रदान की। यद्यपि दुर्भाग्य से यह टीका केवल दूसरे और तीसरे उल्लास पर ही मिली और शेष उल्लासों के बारे में कुछ निर्णयात्मक रूप में कहा भी नहीं जा सकता है तथापि इन दो उल्लासों की उपलब्ध टीका को सर्वप्रथम सम्पादित कर विद्वज्जनों तक पहुंचाने का आर्ष-पुरुषार्थ पू० मुनि श्री यशोविजयजी महाराज ने किया। अत्यन्त परिश्रम-पूर्वक पाण्डुलिपि के आधार पर शुद्ध पाठयोजना की तथा खण्डित अंशों को यथासम्भव जोड़ने का सफल प्रयास किया, यह अत्यन्त आनन्द का विषय था। संस्कृत-साहित्य के प्रत्येक अध्येता के लिए 'काव्य-प्रकाश' का अध्ययन अत्यावश्यक होता है और यही कारण है कि इसकी अनेक टीकाएं बनी हैं। ऐसे उत्तम ग्रन्थ की इस महत्त्वपूर्ण टीका का हिन्दी अनुवाद भी हो जाय तो अत्युत्तम हो, ऐसी भावना होने के कारण डॉ० रुद्रदेव त्रिपाठी के माध्यम से इसका अनुवाद करवाया गया और विद्वत्प्रवर मुनिराज श्री

यशोविजय जी के निरीक्षण-परीक्षण के पश्चात् डॉ० ह्रददेव त्रिपाठी के सम्पादन में ही इसका उन्हीं के विस्तृत उपोद्धात—जिसमें जैन साहित्य-ग्रन्थ और टीकाकारों के परिचय के साथ ही, 'काव्यप्रकाश' की अब तक उपलब्ध १४६ टीका और टीकाकारों का परिचय है—के साथ व्यवस्थित प्रकाशन भी हुआ ।

इसी परम्परा में पूज्य मुनि श्रीयशोविजयजी महाराज के निर्देशन में ही—
स्याद्वावरहस्यम् बीतरागस्तोत्र के आठवें प्रकाश की 'बृहद्, मध्यम और जघन्य' नामक तीन वृत्तियों से युक्त, 'प्रमेय-माला, आत्मव्याप्ति—वादमाला-(द्वितीय-तृतीय विषयतावाद-न्यायसिद्धान्तमञ्जरी-शब्दखण्ड-टीकादिसंग्रहः)' का भी प्रकाशन हो रहा है, जो अब प्रायः पूर्णता पर है ।

इस दिशा में हमारा अगला चरण यह ग्रन्थ है । प्रस्तुत ग्रन्थ में क्रमशः—
१. आर्षभीय-चरित-महाकाव्य २. विजयोल्लासमहाकाव्य तथा ३. सिद्धसहस्रनाम-कोशः ये तीन ग्रन्थ (जिनमें प्रथम, द्वितीय अपूर्ण और तृतीय पूर्ण) हैं । इनका प्रकाशन किया गया है ।

'स्तोत्रावली' तथा 'काव्यप्रकाश' के समान ही इस ग्रन्थ के सम्पादन, मुद्रण आदि का कार्य पूज्य मुनिराजजी के निर्देशन में डॉ० ह्रददेव त्रिपाठी ने ही किया है । साथ ही पूज्य श्री की कार्यव्यस्तता के कारण भूमिका लेखन के लिए भी डॉ० त्रिपाठी जी ने महाराज श्री से अपेक्षित साहित्य प्राप्त करके विस्तारपूर्वक विभिन्न विषयों का विवेचन किया है तथा इस ग्रन्थ को उपयोगी बनाने का प्रयास किया है, तदर्थ समिति उनकी आभारी है ।

'यशोभारती जैन समिति' द्वारा प्रकाशित यह नौवां ग्रन्थ विद्वजनों को अवश्य ही आनन्दित करेगा इस मङ्गल-कामना के साथ इसके प्रकाशन में शास्त्रदृष्टि अथवा मतिदोष से कोई त्रुटि रह गई हो, तो उसके लिए क्षमा-प्रार्थी हैं और आशा करते हैं कि सुधी पाठक हमें सूचित करने की कृपा करेंगे और स्वयं सुधार कर इसके अध्ययन-अध्यापन द्वारा श्रम को सफल बनायेंगे ।

मन्त्री—

माघ शुक्ला ५,

वि० सं० २०३४

श्रीयशोभारती जैन प्रकाशन समिति,

बम्बई :

न्यायविशारद, न्यायाचार्य, महोपाध्याय,

—परमपूज्य—

श्रीमद् यंशोविजयजी महाराज



आर्षभीयचरित महाकाव्य, विजयोल्लास महाकाव्य
तथा सिद्धसहस्रनामकोश के प्रणेता

न्यायविशारद, न्यायाचार्य, महोपाध्याय, षड्दर्शनवेत्ता

पूज्य श्रीमद यशोविजयजी महाराज .

[संक्षिप्त व्यक्तित्व और कृतित्व]

—मुनि श्रीयशोविजयजी महाराज

गुजरात-प्रदेश

हमारे भारतवर्ष के पश्चिमी भाग में गुजरात प्रदेश है। इस भूमि पर ही शत्रुञ्जय, गिरनार, पावागढ़ जैसे अनेक पर्वतीय पवित्र धाम हैं, जो दूर-दूर से लोगों के मन को आकर्षित करते हैं। धार्मिक क्षेत्र में दिग्गजस्वरूप समर्थ विद्वान्, महान् आचार्य और श्रेष्ठ सन्त, तपस्विनी साधवियाँ तथा राष्ट्रीय अथवा सामाजिक क्षेत्र में सर्वोच्च कोटि के नेता, कार्यकर्ता, साहित्यक्षेत्र में विविध भाषा के विख्यात लेखक, कवि और सर्जक भी गुजरात की भूमि ने उत्पन्न किए हैं। महान् वैयाकरण पाणिनि के संस्कृत-व्याकरण से निर्विवादरूप में अति उच्चकोटि का माने जाने वाले 'सिद्धहेम-शब्दानुशासन' नामक व्याकरण की अनमोल भेंट केवल गुजरात को ही नहीं, अपितु समस्त विश्व को जो प्राप्त हुई है, उसके रचयिता गुजरात की सन्तप्रसू भूमि पर उत्पन्न जैनमुनि कलि-कालसर्वज्ञ हेमचन्द्राचार्य जी ही थे।' भारत के अठारह प्रदेशों में अहिंसा धर्म

१. सोमप्रभसूरि ने 'शतार्थ-काव्य' की स्वोपज्ञवृत्ति में श्री हेमचन्द्राचार्य जी के बारे में निम्नलिखित पद्य दिया है जो कि उनकी कृतियों का परिचायक है—

क्लृप्तं व्याकरणं नवं विरचितं छन्दो नवं द्वयाभ्या-
लङ्कारौ प्रथितौ नवौ प्रकटितं श्रीयोगशास्त्रं नवम् ।
तर्कः सज्जनितो नवौ जिनवरादीनां चरित्रं नवं,
बद्धं येन न केन केन विधिना मोहः कृतो दूरतः ॥

का व्यापक प्रचार करनेवाले गुर्जरेश्वर परमार्हत महाराजा कुमारपाल भी गुजरात की धरती पर उत्पन्न होनेवाले नर-रत्न थे। जिनके आदेश से सेना के लाखों की संख्या में नियुक्त व्यक्ति, हाथी एवं घोड़े भी जहाँ वस्त्र से छना हुआ पानी पीते थे। सिर में पड़ी हुई जू तक को जिसके राज्य में मारा नहीं जा सकता था, जिसने धरती से हिंसा-राक्षसी को सर्वथा देशनिकाला दे दिया था, वे महाराजा कुमारपाल पूज्य श्री हेमचन्द्राचार्यजी के ही शिष्य थे। यही कारण है कि हेमचन्द्राचार्य एवं कुमारपाल की जोड़ी द्वारा लोकहृदय में बहाई गई अहिंसा, दया, कृपा, प्रेम, कोमलता, सहिष्णुता, समभाव, शान्तिप्रियता, धार्मिकभाव, सन्तप्रेम, उदारता आदि गुणों की धारा इस देश में प्रमुख स्थान रखती है। वस्तुतः अपने गुरुदेव के आदेश से कुमारपाल द्वारा योग्यता और सत्ता के सहारे गुजरात की धरती के प्रत्येक घर से लेकर कण-कण तक फैलाई गई अहिंसा भारत के इतिहास में बेजोड़ है, अद्भुत है और सदा के लिए अमर है।

जसवन्तकुमार भावी यशोविजयजी,

ऐसी गुजरात की पुण्य भूमि पर उत्तर गुजरात में एक समय गुजरात की राजधानी के रूप में प्रसिद्धि-प्राप्त 'पाटण' शहर है जो कि मन्दिर, सन्त, महात्मा, धर्मात्मा तथा श्रीमन्तों से सुशोभित है। उस पाटण नगर के निकट ही 'धीणोज' गाँव है। इस धीणोज से कुछ दूरी पर 'कनोडू' नामक गाँव है। आज वह गाँव सामान्य गाँव जैसा है। आज वहाँ संभवतः जैनों के एक-दो ही घर होंगे किन्तु सोलहवीं शती में वहाँ जैनों की बस्ती अधिक रही होगी। इसी 'कनोडू' गाँव में 'नारायण' नामक एक जैन व्यापारी रहते थे, जो धर्मिष्ठ थे, उनकी पत्नी का नाम 'सौभागदे' (सौभाग्यदेवी) था। इस पत्नी ने किसी

१. पूज्य उपाध्यायजी ने स्वरचित किसी भी कृति में अपनी जन्मभूमि, शैशवकाल की निवासभूमि एवं माता-पिता आदि का उल्लेख नहीं किया है किन्तु प्रायः १५० वर्ष पश्चात् उनके बारे में कान्तिविजयजी द्वारा लिखित 'जसबेलड़ी' अर्थात् 'सुजसवेली भास' से कुछ परिचय प्राप्त होता है।

सुयोग्य समय में एक महान् तेजस्वी पुत्ररत्न को जन्म दिया। माता-पिता ने उसका नाम 'जसवंत कुमार' रखा। ये जसवंत ही थे हमारे भावी महान् विद्वान् मुनि 'यशोविजयजी'।

जन्मकाल

अत्यन्त खेद की बात है कि 'वे किस वर्ष के किस मास में किस दिन उत्पन्न हुए थे' इसका कहीं कोई उल्लेख हमें प्राप्त नहीं होता है। उनके जीवन को व्यक्त करने वाली—'सुजसबेली, ऐतिहासिक वस्त्रपट, हैमधातुपाठ की लिखित पोथी, ऊना के स्तवन का लिखित पत्र तथा उनके द्वारा रचित ग्रन्थों की प्रशस्तियाँ'^१—इन सब सामग्रियों का अध्ययन करने से आपका जन्म सम्भवतः वि० सं० १६४० से १६५० के बीच माना जा सकता है तथा वे सं० १७४३ में स्वर्गवासी हुए थे और इस उल्लेख के आधार पर ही उनकी आयु सौ वर्ष की रही होगी यह अनुमान किया जा सकता है।

शासन-सेवा के लिए समर्पण

सं० १६७८ में 'सुजसबेली' रचना के कथनानुसार पण्डित मुनि 'नय-विजय जी' कुणगेर से चातुर्मास करके कनोडू पधारे। जसवंत की माता 'अपने पुत्र का जीवन धार्मिक-संस्कारों से सुवासित बने' इस भावना से प्रतिदिन देव-दर्शन तथा गुरुदर्शन के लिए जाती थीं तब जसवंत को भी साथ ले जाती थीं। देवदर्शन करके नित्य उपाश्रय में गुरु को वन्दना और सुखसाता की पृच्छा करके माङ्गलिक पाठ का श्रवण करतीं और अपने घर गोचरी-भिक्षा का लाभ देने की प्रार्थना करतीं। धीरे-धीरे जसवंत अन्य समय में भी उपाश्रय जाता-आता,

१. 'सुजसबेली' (ढाल १, कड़ी १३) के अनुसार उपाध्यायजी की बड़ी दीक्षा का समय वि० सं० १६८८ दिया है, 'ऐतिहासिकवस्त्रपट' में वि० सं० १६६३ का उल्लेख करते हुए यशोविजयजी का उल्लेख किया है, 'हैमधातुपाठ' की प्रति वि० सं० १६६५ में लिखित तथा 'उन्नतपुरस्तवन' की वि० सं० १६६८ की प्रति पू० उपाध्यायजी द्वारा लिखित प्राप्त होती है, अतः इन सभी के आधार पर इस समय का अनुमान किया जाता है।

साधुओं के साथ बैठता, साधु महाराज उसे प्रेम से बुलाते तथा दीक्षा के सम्बन्ध में बालक को ज्ञान हो उस पद्धति से प्रेरणा देते । रत्नपरीक्षक जौहरी जिस प्रकार हीरे को परखता है तथा उसके मूल्य का अनुमान निकालता है, उसी के अनुसार गुरुवर्य नयविजयी ने भी जसवन्त के तेजस्वी मुख, विनय तथा विवेक से पूर्ण व्यवहार, बुद्धिमत्ता, चतुरता, धर्मानुरागिता आदि गुणों को देखकर उसमें भविष्य के एक महान् नररत्न की भाँकी पाई और जसवन्त के भविष्य का अङ्कन कर लिया ।

गुरुदेव श्री नयविजयी जी महाराज ने स्थानीय जैन श्रीसंघ की उपस्थिति में बालक जसवन्त को जैन-शासन के चरणों में समर्पित करने अर्थात् दीक्षा देने की माँग की । जैनशासन को ही सर्वस्व माननेवाली माता ने सोचा कि 'यदि मेरा पुत्र घर में रहेगा तो अधिक से अधिक वह घनाढ्य बनेगा, देश-विदेश में प्रख्यात होगा या कुटुम्ब का भौतिक हित करेगा ।' गुरुदेव ने जो कहा है उस पर विचार करती हूँ तो मुझे लगता है कि 'मेरा पुत्र घर में रहेगा तो सामान्य दीपक के समान रहकर घर को प्रकाशित करेगा किन्तु यदि त्यागी होकर ज्ञानी बन गया तो सूर्य के समान हजारों घरों को प्रकाशित करेगा, हजारों आत्माओं को आत्मकल्याण का मार्ग बताएगा । अतः यदि एक घर की अपेक्षा अनेक घरों को मेरा पुत्र प्रकाशित करे, तो इससे बढ़कर मुझे और क्या प्रिय हो सकता है ? मैं कौसी बड़भागी होऊँगी ? मेरी कुक्षी रत्नकुक्षी हो जाएगी ।' ऐसे विचारों से माता के हृदय में हर्ष और आनन्द का ज्वार उठा, जैनशासन को अपनाई हुई माता ने उत्साहपूर्वक गुरु और संघ की आज्ञा को शिरोधार्य किया और अपने अतिप्रिय कुमार को एक शुभ चौबड़िये में समस्त जैन श्रीसंघ की मंगल उपस्थिति में प्रसन्नतापूर्वक गुरु श्रीनयविजयीजी को समर्पित कर दिया । यह भी एक धन्य क्षण था । इस प्रकार जैन-शासन के भविष्य में होने वाले जयजयकार का बीजारोपण हुआ ।

-
१. 'पत्तनासन्नवर्त्ति-कुणगिरि'-ग्रामतः समेतानां श्रीनयविजय-गुरुवर्याणां बभूव परिचय' इति । 'जम्बूस्वामी रास उद्धरण, भूमिका—जैनस्तोत्रतसन्दोह, भाग प्रथम ।

जसवन्त की भागवती दीक्षा

धर्मात्मा सोभागदे ने वैरागी और धर्मसंस्कारी जसवन्त को शासन के चरणों में अर्पित कर दिया। छोटे से कनौड़ ग्राम में ऐसे उत्तम बालक को दीक्षा देने का कोई महत्त्व नहीं था। अतः श्रीसंघ ने अनुकूल साधन-सामग्रीवाले निकटस्थ पाटण नगर में ही दीक्षा देने का निर्णय लिया। पिता नारायणजी का पाटण शहर के साथ उत्तम सम्बन्ध था। इसलिए हमारे चरित्रनायक पुण्यशाली जसवंतकुमार की भागवती दीक्षा शुभ-मुहूर्त में 'अणहिलपुर' के नाम से प्रसिद्ध पाटण शहर में बड़ी धूमधाम से सम्पन्न हुई।

पद्मसिंह की विरक्ति और दीक्षा

बचपन से ही बालक जसवन्त के वैराग्यपूर्ण संस्कारों का प्रभाव उसके भाई पद्मसिंह पर पूर्णतया पड़ रहा था, अतः अपने भाई को संयम के पथ पर जाते हुए देखकर जसवन्त के भाई 'पद्मसिंह' का मन भी वैराग्य के रंग में रंग गया। धर्मात्मा माता-पिता उसमें सहायक बने और पद्मसिंह द्वारा दीक्षा लेने की उत्कट भावना व्यक्त करने पर उसे भी उसी समय दीक्षा दी गई। जैनश्रमण परम्परा के नियमानुसार गृहस्थाश्रम का नाम बदलकर जसवन्त का नाम—'जसविजय' 'यशोविजय' और पद्मसिंह का नाम 'पद्मविजय' रखा गया। इन नामों का समस्त जनता ने जयनादों की प्रचण्ड घोषणा के साथ अभिनन्दन किया। जनता का आनन्द अपार था। चतुर्विध श्रीसंघ ने सुगन्धित अक्षतों द्वारा आशीर्वाद दिए। दोनों पुत्रों के माता-पिता ने भी अपने दोनों लाड़लों को आशीर्वाद देने हुए हादिक बधाई दी। अपनी कोख को प्रकाशित करनेवाले दोनों बालकों को चारित्र के वेश में देखकर उनकी आँखें अश्रु से भीग गईं। घर में उत्पन्न प्रकाश आज से जगत् को प्रकाशित करनेवाले पथ पर प्रस्थान करेंगे, इस विचार से दोनों के हृदय आनन्दविभोर हो गए।

संयम-साधना और धार्मिक शिक्षा

पहले छोटी दीक्षा दी जाती है, बाद में बड़ी। अतः इस दीक्षा के पश्चात् बड़ी दीक्षा के योग्य तप किया। पूरी योग्यता प्राप्त होने पर उन्हें बड़ी दीक्षा

दी गई । तदनन्तर गुरु नयविजयजी विहार करके अहमदाबाद पधारे । वहाँ विविध प्रकार का धार्मिक शिक्षण आरम्भ किया । तीव्र बुद्धिमत्ता के कारण वे तेजी से पढ़ने लगे । पढ़ने में एकाग्रता और उत्तम व्यवहार को देखकर श्रीसंघ के प्रमुख व्यक्तियों ने बालमुनि जसविजय में भविष्य के महान् साधु की अभिव्यक्ति पाई । बुद्धि की कुशलता, उत्तर देने की विलक्षणता आदि देखकर उनके प्रति बहुमान उत्पन्न हुआ, धारणा-शक्ति का अनूठा परिचय मिला । वहाँ के भक्तजनों में 'धनजी सुरा' नामक एक सेठ थे । उन्होंने जसविजयजी से प्रभावित होकर गुरुदेव से प्रार्थना की कि 'यहाँ उत्तम पण्डित नहीं हैं अतः विद्याधाम काशी में यदि इन्हें पढ़ने के लिए ले जाँएँ तो ये द्वितीय हेमचन्द्राचार्य जैसे महान् और धुरन्धर विद्वान् बनेंगे ।' इतना निवेदन करके धनजी भाई ने इस कार्य के लिये होनेवाले समस्त व्यय का भार उठाने तथा पण्डितों का उचित सत्कार करने का वचन भी दिया ।^१

विद्याधाम काशी में शास्त्राध्ययन

यशोविजय गुरुदेव के साथ उत्तम दिन, विहार करके परिश्रम-पूर्वक गुजरात से निकल कर दूर सरस्वतीधाम काशी में पहुँचे । वहाँ एक महान् विद्वान् के पास सभी दर्शनों का अध्ययन किया । ग्रहण-शक्ति, तीव्रस्मृति तथा आश्चर्यपूर्ण कण्ठस्थीकरण शक्ति के कारण व्याकरण, तर्क-न्याय आदि शास्त्रों के अध्ययन के साथ ही वे अन्यान्य शास्त्रों की विविध शाखाओं के पारङ्गत विद्वान् भी बन गये । दर्शन-शास्त्रों का ऐसा आमूल-चूल अध्ययन किया कि वे 'षड्दर्शनवेत्ता' के रूप में प्रसिद्ध हो गए । उसमें भी नव्यन्याय के तो वे बेजोड़ विद्वान् बने तथा शास्त्रार्थ और वाद-विवाद करने में उनकी बुद्धि-प्रतिभा ने

-
१. 'यशोदोहन' में 'इस दीक्षा का समय वि० सं० १६६८ दिया है तथा यह दीक्षा हीरविजयजी के प्रशिष्य एवं विजयसेन सूरि जी के शिष्य विजय देवसूरिजी ने दी थी' ऐसा उल्लेख है । देखो पृ० ७ ।
 २. वहीं इसके लिए दो हजार चाँदी के दीनार व्यय करने का भी उल्लेख है ।

अनेक प्रमाण प्रस्तुत किए। वहाँ आपको अध्ययन कराने वाले पण्डितजी को प्रतिदिन एक रुपया दक्षिणा के रूप में दिया जाता था।

सरस्वती-मन्त्र-साधना

काशी में गङ्गातट पर रहकर उपाध्यायजी ने 'ऐङ्कार' मन्त्र द्वारा सरस्वतीमन्त्र का जप करके माता शारदा को प्रसन्न कर वरदान प्राप्त किया था जिसके प्रभाव से पूज्य यशोविजय जी की बुद्धि तर्क, काव्य और भाषा के क्षेत्र में कल्पवृक्ष की शाखा के समान पल्लवित, पुष्पित एवं फलवती बन गई। तब से ही श्री यशोविजयजी महाराज विभिन्न शास्त्रों का स्वयं आलोडन करके उन पर टीका आदि का निर्माण और उत्तमोत्तम प्राकृत, संस्कृत, हिन्दी एवं गुजराती भाषा में काव्य रचनाएँ करने लगे।

शास्त्रार्थ एवं सम्मानित पदवीलाभ

एक बार काशी के राज-दरबार में एक महासमर्थ दिग्गज विद्वान्—जो अज्ञेन थे—के साथ पू. उपाध्यायजी ने अनेक विद्वज्जन तथा अधिकारी-वर्ग की उपस्थिति में शास्त्रार्थ करके विजय की वरमाला धारण की थी। उनके अगाध पाण्डित्य से मुग्ध होकर काशीनरेश ने उन्हें 'न्यायविशारद' विरुद से सम्मानित किया था। उस समय जैन संस्कृति के एक ज्योतिर्धर और जैन प्रजा

१. इस सम्बन्ध में वि० सं० १७३६ में स्वरचित 'जम्बूस्वामी रास' में स्वयं उपाध्यायजी ने निम्नलिखित पंक्तियाँ दी हैं—

शारदा सार दया करो, आपी वचन सुरंग।
तू तूटी मुझ ऊपरे, जाप करत उपगंग ॥
तर्क काव्यनो तैं सदा, दीधो वर अभिराम।
भाषा पण करी कल्पतरु शाखासम परिणाम ॥

इसी प्रकार 'महावीर-स्तुति' (पद्य १) तथा 'अञ्जन्तमतपरिक्षा' की स्वोपज्ञवृत्ति की प्रशस्ति (पद्य ३) में भी ऐसा ही वर्णन किया है।

के इस सन्त ने जैन धर्म और गुजरात की पुण्यभूमि का जय-जयकार करवाया तथा जैन शासन का अभूतपूर्व गौरव बढ़ाया ।

आगरा में न्यायशास्त्र का विशिष्ट अध्ययन

काशी से विहार करके आप आगरा पधारे और वहाँ चार वर्ष रहकर किसी न्यायाचार्य पण्डित से और भी तलस्पर्शी अभ्यास किया । तर्क के सिद्धान्तों में आप उत्तरोत्तर पारङ्गत होते गए । वहाँ से विहार करके गुजरात के ग्रहमदा-बाद नगर में पधारे । वहाँ श्रीसंघ ने विजयी बनकर आनेवाले इस दिग्गज-विद्वान् मुनिराज का भव्य स्वागत किया ।

अवधान प्रयोग तथा सम्मान

उस समय ग्रहदाबाद में महोबतखान नामक सूबा राज्य-कार्य चला रहा था । उसने पूज्य उपाध्याय जी की विद्वत्ता के बारे में सुनकर आपको आमन्त्रित किया । सूबे की प्रार्थना पर आप वहाँ पधारे और १८ अवधान-प्रयोग कर दिखाए । सूबा आपकी स्मरणशक्ति पर मुग्ध हो गया । आपका भव्य सम्मान किया और सर्वत्र जैनशासन के जयजयनाद द्वारा एक अभूतपूर्व कीर्तिमान स्थापित किया । इसी प्रकार के अन्य अवधान-प्रयोग भी आपने किये होंगे । इससे भी आपकी तीव्र स्मृति शक्ति का परिचय मिलता है ।

उपाध्याय पद-प्राप्ति

वि० सं० १७१८ में श्रीसंघ ने तत्कालीन तपागच्छीय श्रवणसंघ के अग्रणी श्रीदेवसूरिजी ने प्रार्थना की कि 'यशोविजयजी महाराज बहुश्रुत विद्वान् हैं और उपाध्याय पद के योग्य हैं । अतः उन्हें यह पद प्रदान करना चाहिए ।' इस प्रार्थना को स्वीकृत करके सं० १७१८ में श्रीयशोविजयजी गणी को उपाध्याय पद से विभूषित किया गया ।

- इसी प्रकार श्री यशोविजय जी गणी ने वि० सं० १६७७ में जैनसंघ के समक्ष आठ बड़े अवधान किए थे, जिसका उल्लेख उनकी हिन्दी रचना 'ग्रध्यात्मगीत' में मिलता है ।

शिष्य-सम्पदा की दृष्टि से श्री उपाध्याय जी महाराज के अपने छह शिष्य थे, ऐसी लिखित सूचना प्राप्त होती है।^१

विभिन्न विरुद-प्राप्ति

उपाध्याय जी ने स्वयं लिखा है कि 'न्याय के ग्रन्थों की रचना करने से मुझे 'न्यायाचार्य' का विरुद विद्वानों ने प्रदान किया है।^२ इसके अतिरिक्त आपको 'न्यायविशारद, कवि, लघुहरिभद्र, कूर्चालीशारद तथा तार्किक' आदि गौरवपूर्ण विरुदों से भी विद्वानों ने अलंकृत किया था।^३

उपाध्यायजी ने अनेक स्थानों पर विचरण किया था किन्तु प्रमुख रूप से वे गुजरात और राजस्थान में रहे होंगे ऐसा उनके ग्रन्थों एवं स्तुतियों से ज्ञात होता है।

स्वर्गवास एवं स्मारक

'सुजसबेली' के आधार पर उनका अन्तिम चातुर्मास बड़ौदा शहर के पास डभोई (दर्भावती) गाँव में हुआ और वहीं वे स्वर्गवासी हुए। इस स्वर्गवास का वर्ष सुजसबेलि के कथनानुसार सं० १७४३ था तदनन्तर उनका स्मारक डभोई में उनके अग्नि-संस्कार के स्थान पर बनाया गया और वहाँ उनकी धरणपादुका स्थापित की गई। पादुकाओं पर वि० सं० १७४५ में प्रतिष्ठा करने का उल्लेख है।

१. इन शिष्यों के छः नाम—हेमविजय, जितविजय, पं० गुणविजयगणि, दयाविजय, मयाविजय, मानविजयगणि आदि प्राप्त होते हैं।
२. जैसलमेर से लिखित पत्र में आपने लिखा था कि—“न्यायाचार्य विरुद तो भट्टाचार्यई न्यायग्रन्थ रचना करी देखी प्रसन्न हुई दिऊं छई।”
३. तर्कभाषा (प्रशस्ति पद्य ४) तत्त्वविवेक (प्रारम्भ पद्य २) तथा सुजसबेलि में इनका उल्लेख है।

निष्कर्षरूप परिचय

उपाध्यायजी के जीवन का 'निष्कर्षरूप परिचय' 'यशोदोहन' नामक ग्रन्थ में^१ मैंने दिया है वही परिचय यहाँ भी उद्धृत करता हूँ जिससे उपाध्याय जी के जीवन की कुछ विशिष्ट भाँकी होगी ।

“विक्रम की सत्रहवीं शती में उत्पन्न, जैनधर्म के परम प्रभावक, जैन-दर्शन के महान् दार्शनिक, जैनतर्क के महान् तार्किक, षड्दर्शनवेत्ता और गुजरात के महान् ज्योतिर्धर, श्रीमद् यशोविजयजी महाराज एक जैन मुनिवर थे । योग्य समय पर अहमदाबाद के जैन श्रीसंघ द्वारा समर्पित उपाध्याय पद के विरुद्ध के कारण वे 'उपाध्यायजी' बने थे । सामान्यतः व्यक्ति 'विशेष नाम' से ही जाना जाता है किन्तु इसके लिए यह कुछ नवीनता की बात थी कि जैन संघ में आप विशेष्य से नहीं अपितु 'विशेषण' द्वारा मुख्य रूप से जाने जाते थे । “उपाध्यायजी ऐसा कहते हैं, यह तो उपाध्याय जी का वचन है” इस प्रकार उपाध्यायजी शब्द से श्रीमद् यशोविजयजी का ग्रहण होता था । विशेष्य भी विशेषण का पर्यायवाची बन गया था । ऐसी घटना विरल व्यक्तियों के लिए ही होती है । इनके लिए तो यह घटना वस्तुतः गौरवास्पद थी ।

इसके अतिरिक्त उपाध्याय जी के वचनों के सम्बन्ध में भी ऐसी ही एक और विशिष्ट एवं विरल घटना है । इनकी वाणी, वचन अथवा विचार 'टंक-शाली' ऐसे विशेषण से प्रसिद्ध हैं । तथा 'उपाध्याय जी की साख (साक्षी) 'आगमशास्त्र' अर्थात् शास्त्रवचन ही है' ऐसी भी प्रसिद्धि है । आधुनिक एक विद्वान् आचार्य ने आपको 'वर्तमान काल के महावीर' के रूप में भी व्यक्त किया था ।

-
१. देखिए 'यशोदोहन' पृ० ६—१२ में सम्पादकीय निवेदन । यह ग्रन्थ गुजराती भाषा में 'प्रो० हीरालाल रसिकदास कापड़िया' द्वारा लिखित है तथा यशोभारती जैन प्रकाशन समिति, बम्बई से प्रकाशित हुआ है ।

आज भी श्रीसंघ में किसी भी बात पर विवाद उत्पन्न होता है तो उपाध्याय जी द्वारा रचित शास्त्र अथवा टीका के 'प्रमाण' को अन्तिम प्रमाण माना जाता है। उपाध्याय जी का निर्णय कि मानो सर्वज्ञ का निर्णय। इसी-लिए इनके समकालीन मुनिवरों ने आपको 'श्रुतकेवली' ऐसे विशेषण से संबोधित किया है। श्रुतकेवली का अर्थ है 'शास्त्रों के सर्वज्ञ' अर्थात् श्रुत के बल में केवली के समान। इसका तात्पर्य यह है कि सर्वज्ञ के समान पदार्थ के स्वरूप का स्पष्ट वर्णन कर सकने वाले।

ऐसे उपाध्याय भगवान् को बाल्यावस्था में (प्रायः आठ वर्ष के निकट) दीक्षित होकर विद्या प्राप्त करने के लिए गुजरात में उच्चकोटि के विद्वानों के अभाव तथा अन्य किसी भी कारण से गुजरात छोड़कर दूर-सुदूर अपने गुरुदेव के साथ काशी के विद्याधाम में जाना पड़ा और वहाँ उन्होंने छहों दर्शनों तथा विद्याज्ञान की विविध शाखा-प्रशाखाओं का आमूल-चूल अभ्यास किया तथा उस पर उन्होंने अद्भुत प्रभुत्व प्राप्त किया। उसके फलस्वरूप विद्वानों में ये 'षडदर्शनवेत्ता' के रूप में विख्यात हो गए।

काशी की राजसभा में एक महान् समर्थ दिग्गज विद्वान्—जो कि अर्जुन था, उसके साथ अनेक विद्वान् तथा अधिकारी वर्ग की उपस्थिति में प्रचण्ड शास्त्रार्थ करके विजय की वरमाला पहनी थी। पूज्य उपाध्याय जी के अगाध पाण्डित्य से मुग्ध होकर काशीनरेश ने उन्हें 'न्यायविशारद' विरुद्ध से अलंकृत किया था उस समय जैन-संस्कृति के एक ज्योतिर्धर ने—जैन प्रजा के एक सपुत्र ने—जैनधर्म और गुजरात की पुण्यभूमि का जय-जयकार करवाया था तथा जैन-शासन की शान बढ़ाई थी।

ऐसे विविध वाङ्मय के पारङ्गत विद्वान् को देखते हुए आज की दृष्टि से उन्हें दो-चार नहीं, अपितु अनेक विषयों के पी-एच० डी०—वाचस्पति कहें तो भी अनुचित न होगा।

भाषा-ज्ञान एवं ग्रन्थ-रचना

भाषा की दृष्टि से देखें तो उपाध्याय जी ने अल्पज्ञ अथवा विशेषज्ञ, बालक

अथवा पण्डित, साक्षर अथवा निरक्षर, साधु अथवा संसारी सभी व्यक्तियों के ज्ञानार्जन की सुलभता के लिए जैनधर्म की मूलभूत प्राकृत भाषा में, उस समय की राष्ट्रीय जैसी मानी जानेवाली संस्कृत भाषा में तथा हिन्दी और गुजराती भाषा में विपुल साहित्य का सर्जन किया है। उपाध्यायजी की वाणी सर्वनय-सम्मत मानी जाती है अर्थात् वह सभी नयों की अपेक्षा से गर्भित है।

विषय की दृष्टि से देखें तो आपने आगम, तर्क, न्याय, अनेकान्तवाद, तत्त्व-ज्ञान, साहित्य, अलङ्कार, छन्द, योग, अध्यात्म, आचार, चारित्र, उपदेश आदि अनेक विषयों पर मार्मिक तथा महत्त्वपूर्ण पद्धति से लिखा है।

संख्या की दृष्टि से देखा जाए तो उपाध्यायजी की कृतियों की संख्या 'अनेक' शब्दों से नहीं अपितु 'सैकड़ों' शब्दों से बताई जा सके इतनी है। ये कृतियाँ बहुधा आगमिक और तार्किक दोनों प्रकार की हैं। इनमें कुछ पूर्ण तथा कुछ अपूर्ण दोनों प्रकार की हैं तथा कितनी ही कृतियाँ अनुपलब्ध हैं। स्वयं स्वैताम्बर-परम्परा के होते हुए भी दिगम्बराचार्यकृत ग्रन्थ पर आपने टीका लिखी है। जैन मुनिराज होने पर भी अजैन ग्रन्थों पर टीकाएँ लिख सके हैं। यह आपके सर्वग्राही पाण्डित्य का प्रखर प्रमाण है।

शैली की दृष्टि से यदि हम देखते हैं तो आपकी कृतियाँ खण्डनात्मक, प्रतिपादनात्मक और समन्वयात्मक हैं। उपाध्यायजी की कृतियों का पूर्ण योग्यतापूर्वक पूरे परिश्रम के साथ अध्ययन किया जाए, तो जैन आगम अथवा जैनतर्क का सम्पूर्ण ज्ञाता बना जा सकता है। अनेकविध विषयों पर मूल्यवान् अति महत्त्वपूर्ण सैकड़ों कृतियों के सर्जक इस देश में बहुत कम हुए हैं उनमें उपाध्यायजी का निःशङ्क समावेश होता है। ऐसी विरल शक्ति और पुण्यशीलता किसी-किसी के ही भाग्य में लिखी होती है। यह शक्ति वस्तुतः सद्गुरु-कृपा, सरस्वती का वरदान तथा अनवरत स्वाध्याय इस त्रिवेणी-सङ्गम की आभारी है।

तीव्र स्मृति शक्तिशाली

उपाध्याय जी 'अवधानकार' अर्थात् बुद्धि की धारणाशक्ति के चमत्कारी,

भी थे।' अहमदाबाद के श्रीसंघ के समक्ष और दूसरी बार अहमदाबाद के मुसलमान सूबे की राज्यसभा में आपने अवधान के प्रयोग करके दिखलाये थे। उन्हें देखकर सभी आश्चर्यमुग्ध बन गए थे। मानव की बुद्धि-शक्ति का अद्भुत

इस प्रसंग में आपकी स्मृति-तीव्रता के दो अन्य प्रसंग भी बहुचर्चित हैं। जो इस प्रकार हैं—

१. बचपन में जसवन्त कुमार जब अपनी माता के साथ उपाश्रय में साधु महाराज को वन्दन करने जाता था, उस समय उनकी माता ने चातुर्मास में प्रतिदिन 'भक्तामर-स्तोत्र' सुनकर ही भोजन बनाने और खाने का नियम लिया था। एक दिन वर्षा इतनी आई कि रुकने का नाम ही नहीं लेती थी। ऐसी स्थिति में माता सोभागदे ने भोजन नहीं बनाया। मध्याह्न का समय भी बीतता जा रहा था। तब बालक जसवन्त ने माता से पूछा कि आज भोजन क्यों नहीं बनाया जा रहा है तो उत्तर मिला— 'वर्षा के न रुकने से उपाश्रय में जाकर भक्तामर-सुनने का नियम पूरा नहीं हो रहा है। अतः रसोई नहीं बनाई गयी।' यह सुन जसवन्त ने कहा—मैं आपके साथ प्रतिदिन वह स्तोत्र सुनता था अतः वह मुझे याद है ऐसा कह कर वह स्तोत्र यथावत् सुना दिया। इस प्रकार बाल्यावस्था में ही उनकी स्मृति तीव्र थी।
२. एक बार वाराणसी में जब अध्ययन पूर्ति पर था और पू० यशोविजयजी ने वाद में विजय प्राप्त कर ली थी तब अध्यापक महोदय अपने पास पाण्डुलिपि के रूप में सुरक्षित एक न्यायग्रन्थ को पढ़ाने में संकोच करने लगे। वे यह समझते थे कि यदि यह ग्रन्थ भी पढ़ा दिया तो मेरे पास क्या रहेगा? उपाध्याय जी इस रहस्य को समझ गये थे। अतः एक दिन वह ग्रन्थ देखने के लिए विनयपूर्वक माँग लिया और मिलने पर रात्रि में स्वयं तथा अपने अन्य सहपाठी मुनिवर ने उस पूरे ग्रन्थ को कण्ठस्थ करके प्रातः लौटा दिया। कहा जाता है कि उस ग्रन्थ में प्रायः १० हजार श्लोकप्रमाण जितना विषय निबद्ध था। यह भी उनकी धारणा-शक्ति का अपूर्व उदाहरण है।

परिचय देकर जैन-धर्म और जैन साधु का असाधारण गौरव बढ़ाया था। उनकी शिष्य-सम्पत्ति अल्प ही थी। अनेक विषयों के तलस्पर्शी विद्वान् होते हुए भी 'नव्य-न्याय' को तो ऐसा आत्मसात् किया था कि वे 'नव्यन्याय के अवतार' माने जाते थे। इसी कारण वे 'ताकिक-शिरोमणि' के रूप में विख्यात हो गए थे। जैनसंघ में नव्यन्याय में आप अनन्य विद्वान् थे। जैनसिद्धान्त और उनके त्याग-वैराग्य-प्रधान आचारों को नव्यन्याय के माध्यम से तर्कबद्ध करने वाले एकमात्र अद्वितीय उपाध्याय जी ही थे। उनका अवसान गुजरात के बड़ौदा शहर से १९ मील दूर स्थित प्राचीन दर्भावती, वर्तमान डभोई शहर में वि० सं० १७४३ में हुआ था। आज उनके देहान्त की भूमि पर एक भव्य स्मारक बनाया गया है जहाँ उनकी वि० सं० १९४५ में प्रतिष्ठा की हुई पादुकाएँ पधराई गई हैं। डभोई इस दृष्टि से सौभाग्यशाली है। इस प्रकार संक्षेप में वहाँ के उपाध्याय जी के व्यक्तित्व तथा कृतित्व को छूनेवाली घटनाओं संक्षेप में सच्ची भाँकी कराई गई है।”

पूज्य उपाध्याय जी महाराज ने अपने जीवन्-काल में जिन बहुमूल्य ग्रन्थों की रचना की थी, उनकी परिमार्जित सूची हम इस ग्रन्थ के अन्त में प्रकाशित कर रहे हैं।



१—इस सूची में अंकित ग्रन्थों के ही अकारादि क्रम से संकलित प्रत्येक ग्रन्थ के आदि और अन्त भाग के अंश तथा ग्रन्थ-प्रशस्ति से युक्त एक ग्रन्थ भी तैयार किया जा रहा है, जिसे शीघ्र ही प्रकाशित करने की योजना है।

श्रीमद् यशोविजयजी
'आर्षभय-चरित' की प्रति को प्रतिकृति

प्राप्तिः किये का सावनतः...
मपः वप्राश्री दिवा...
ने इगतेगरे मः कन्वेववतरे...
नो नपतामः कननामिशये...
रुनतोप...
सप्ततश्चुजातित...
वी त्रस्पादसामने...
मकागत...
वि शिरमत्तेतिमैतदिदि...
पुरेवित्तै...
आनुष्टिभर्भदेराके...
दतीवनीण...
उवाः कश्चेवको...
मिदरी...
यशसात्तण...
नममुद्यताः चुसिता...

फोटोस्टेट कापी ब्लाक

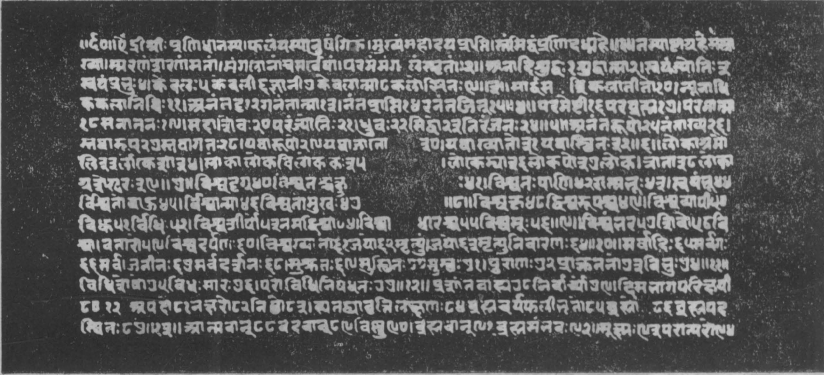
[पू० मुनि श्रीयशोविजयजी
साहित्य-कला-संग्रह से प्राप्त]

प्रकाशक—

श्रीयशोभारती जैन प्रकाशन
सभिति, बम्बई

न्यायविशारद, न्यायाचार्य, महोपाध्याय

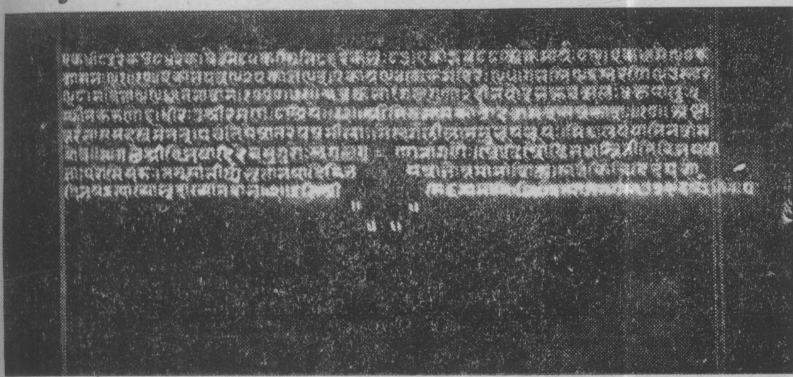
श्रीमद् यशोविजयजी महाराज-विरचित 'सिद्धसहस्रनामकोश'
की पाण्डुलिपि के पहले पत्र की प्रतिकृति



फोटोस्टेट कापी ब्लाक
[मुनि श्रीयशोविजयजी
साहित्य-कला-संग्रह से प्राप्त]

प्रकाशक —
श्रीयशोभारती जैन प्रकाशन
समिति, बम्बई

न्यायविशारद, न्यायाचार्य, महोपाध्याय
 श्रीमद् यशोविजयजी महाराज-विरचित 'सिद्धसहस्रनामकोश'
 की पाण्डुलिपि के अन्तिम पत्र की प्रतिकृति



फोटोस्टेट कापी ब्लाक
 [मुनि श्रीयशोविजय जी
 साहित्य-कला-संग्रह से प्राप्त]

प्रकाशक—
 श्रीयशोभारती जैन प्रकाशन
 समिति, बम्बई

ॐ आदीश्वराय नमः ।

नमो लोअे सब्बसाहूणं ।

आर्षलीय चरित्र अने विजयोदत्तास
जे महाकाव्यो अने अने अनुलक्षीने
उत्थनीय कंठि.

वि. सं. २००६ अने ई. सं. १९७३ नी^१ सालमां भारी
भातृभूमि-जनभूमि अने न्यायविशारद न्यायाचार्य
महोपाध्याय श्रीमद् यशोविजयलु महाराजश्रीनी स्वर्गवास
भूमि उलोछ [दत्तावती] मुकामे, पू० स्व० पू० यशोविजयलु
महाराजना नवी लव्य हेरी अने गुरुमूर्तिनी प्रतिष्ठा प्रसंगे,
साथे साथे महोपाध्यायलुना लुवन अने कुवनथी नैन-
अनैन विक्रानो अने प्रजने परिचित कराववा 'श्री यशोविजय
सारस्वत सत्र' आ नाम नीचे सत्रोत्सव पणु उजववानुं
नक्की करुं' छतुं. पूज्यपाद चार आचार्योनी अध्यक्षतामां
सवार, जपोर नडेर सलाओ। येनाती, पूज्यपाद गुरुहेवाना

१. उत्सव कागणु वदि पीजथी कागणु वदि आठम सुधी छतो.
सत्र सातम-आठम ता. ७-३-५३ अने ८-३-५३ जे दिवस छतुं.

વક્તવ્ય સાથે દેશના વિવિધ ભાગોમાંથી આવેલા અનેક વિદ્વાનોએ પૂં ઉપાધ્યાયજીનાં જીવન-કવન ઉપર અભ્યાસ-પૂર્વક મનનીય પ્રકાશ પાડ્યો હતો. સભામાં પાંચેક હજારની જનતા ઉપસ્થિત હતી. આ એક અભૂતપૂર્વ પ્રસંગ હતો. ખાસ કરીને ગુજરાતની પ્રજાને ગુજરાતના એક મહાન ધર્મ-સપૂતને ઓળખવા માટે કરેલો આ પ્રયાસ આ સત્રને લીધે, તેમજ સરકારી તંત્ર અને એના પ્રચાર સાધનોના સુંદર સહકારથી તેમજ વર્તમાનયત્રોના ઉત્સાહથી સફળતાને વર્યો હતો અને મારો ઉદ્દેશ સફળ થતાં મને તેનો અવહુનીય અને અમાપ આનંદ થયો હતો.

કરેલો સંકલ્પ

આ સત્રની યેઠકના મારા પ્રવચનને અંતે મેં એક સંકલ્પ બહાર કરેલો કે, ઉપાધ્યાયજી ભગવંતની અનુપલબ્ધ કૃતિઓને ઉપલબ્ધ કરવા માટે તમામ પ્રયાસો કરીશ. પછી પ્રાપ્ત કૃતિઓની પ્રેસ કોપી કરી-કરાવી તેનું સંશોધન કરી, આધુનિક પદ્ધતિએ સંપાદિત કરી મુદ્રિત કરાવી, પ્રકાશિત કરાવીશ.

એ પછીનું કાર્ય, છાપેલા અનુપલબ્ધ બનેલાં ગ્રન્થો જે ઘણા જરૂરી હશે તેનું પુનર્મુદ્રણ કરાવવાનું કરીશ અને તે પછી ભાષાંતર યોગ્ય જે કૃતિઓ હોય તેનું ભાષાંતર કરી પ્રગટ કરાવવું, તે પછી ઉપાધ્યાયજીનાં જીવન-કવન ઉપર અભ્યાસપૂર્વક એક નિબંધ લખવો વગેરે.

પરમપૂજ્ય આગમપ્રભાકર પૂં મુનિપ્રવર શ્રી પુણ્ય-વિજયજી મહારાજ આ સત્રની ઉજવણીથી અસાધારણ રીતે ખુશી થયા હતા, તે પછી ભેગો થયો ત્યારે મને પાર વિનાના

અભિનંદન આપી પૂજા જ રાજીવો વ્યક્ત કરેલો. પછી અમે સાથે પણ રહ્યા અને સંકલ્પ મુજબ અભિનવ કૃતિઓ માટે પ્રયાસો આદર્યા, અન્ય મિત્રોએ પણ પ્રયાસ કર્યા. કેટલીક કૃતિઓ પ્રાપ્ત થઈ. અમદાવાદ દેવશાળા પાઠાના ભંડારને પુનરોદ્ધાર કરવામાં પૂઠ પુણ્યવિજયજી મહારાજશ્રી સાથે હું પણ હતો. ત્યાંથી પણ ઉપાધ્યાયજીના સ્વહસ્તાક્ષરમાં જ તેઓશ્રી રચિત કૃતિઓ સારી સંખ્યામાં મળી. એ પ્રાપ્તિમાં સહુથી વધુ ફાળો પૂજ્ય પુણ્યવિજયજી મહારાજને હોતો. જેઓશ્રી મારા પ્રત્યે અનન્ય પક્ષપાત ધરાવતા હતા. તે પછી મારી વિનંતિથી તેઓશ્રીએ સુંદર સુવાચ્ય પ્રેસકોપી કરનાર ધર્માત્મા શ્રી નગીનદાસ કેવળચંદ દ્વારા કેટલીક પ્રેસ કોપીઓ પણ કરાવી આપી, પોતે કરેલી તે પણ મને આપી. તે પછી તેનું સંશોધન, સંપાદન, મુદ્રણાદિના કાર્યો ઉત્સાહથી આરંભાયા અને ફલતઃ આજે યશોભારતીનું આ નવમું પુસ્તક બહાર પડતાં કરેલા સંકલ્પના કિનારા નજીક પહોંચવા આવ્યો છું. અને એકાદ બે વરસમાં કિનારે ઉતરી પણ જશું અને કરેલ સંકલ્પ કે લીધેલ માનસિક પ્રતિજ્ઞાની પૂર્ણાહુતિ થતાં જીવનમાં એક વિશિષ્ટ વાડમયની સેવા કર્યાનો ઉંડો સંતોષ મેળવીશ.

આજ સુધીમાં પ્રકાશિત થયેલી કૃતિઓની નોંધ

આજ સુધીમાં યશોભારતી જૈન સંસ્થા તરફથી પૂઠ ઉપાધ્યાયજી ભગવાનની પંદર કૃતિઓ જે પ્રગટ થઈ ચુકી છે તેની યાદી આ પ્રમાણે છે.

૧. ઐન્દ્રસ્તુતિ. સ્વોપજ્ઞ-સ્વકૃત ટીકા, ભાષાંતર સાથે.

૨. વૈરાગ્યરતિ (મૂલ માત્ર.)

૩. સ્તોત્રાવલી સંસ્કૃત કૃતિ. હિન્દી ભાષાંતર સાથે (સ્તુતિઓ, સ્તોત્રો પત્રો આદિ)
૪. કાવ્ય પ્રકાશ. ૨, ૩ ઉલ્લાસની ટીકા, હિન્દી ભાષાંતર સાથે.
૫. સ્યાદ્રવાદ રહસ્ય બૃહદ્ ટીકા.
૬. „ „ મધ્યમ ટીકા.
૭. „ „ બૃહન્ય ટીકા.
૮. તિડન્વયોક્તિ. [પ્રારંભ માત્ર]
૯. આત્મજ્યાતિ.
૧૦. પ્રમેયમાલા.
૧૧. વાદમાલા ખીલ.
૧૨. „ ત્રીલ.
૧૩. વિષયતાવરહ.
૧૪. ન્યાય સિદ્ધાન્તમંજરી (શબ્દખંડ પૂરતી ટીકા)

બાઈન્ડીંગ કરેલા ૬ ગ્રન્થોમાં અને સાતમા નંબરના પુષ્પ સુધીમાં નાની-મોટી ઉપરોક્ત ૧૪ કૃતિઓ છપાઈ ગઈ છે. ત્રીજા પુષ્પ તરીકે યશોદોહન છપાયું છે. જેમાં ઉપાધ્યાયજીના ઉપલબ્ધ બધાંય ગ્રન્થોનો પરિચય છે. શરૂઆતની ચાર પુષ્પકૃતિઓ સ્વતંત્ર એક જ ગ્રન્થરૂપે અને છઠું પુષ્પ, ચાર કૃતિઓથી અને સાતમું છ કૃતિઓથી સંયુક્ત છે.

આજે આઠમા પુષ્પ તરીકે ઉપાધ્યાયજીની ત્રણ કૃતિઓનું સંયુક્ત પ્રકાશન થઈ રહ્યું છે. ઉપરોક્ત ૧૪ માં ત્રણ ઉમેરતાં કુલ ૧૭ કૃતિઓ યશોભારતી જૈન ગ્રન્થ પ્રકાશન સંસ્થા પ્રગટ કરી રહી છે. તેમાંની પંદર કૃતિઓ તો પહેલ

વહેલી જ પ્રગટ થઈ છે. યાકીની જે ઐન્દ્રસ્તુતિ અને થોડાંક સ્તોત્રોવાળી સ્તોત્રાવલી અગાઉ અન્ય સ્થળેથી મુદ્રિત થઈ હતી. એમ છતાં પ્રસ્તુત બંને પ્રકાશનો અપૂર્ણ હતાં. તેથી તે બંને સુધારા-વધારા સાથે. નવીન કૃતિઓના ઉમેરો કરવા પૂર્વક ભાષાંતર સાથે, વિશિષ્ટ રીતે પ્રકાશિત થયાં છે.

હવે ૧૦૮ એલ, અઢારસહસ્ર શીલાંગ રથ, કૂપદ્રષ્ટાંત૦ વિચારબિન્દુ, તેરકાઠીઆ, આ છ કૃતિઓ બહાર પડવાની છે. ત્યારે કુલ ૨૩ કૃતિઓ પ્રકાશિત થશે. કાર્ય ચાલુ છે.

હવે પ્રસ્તુત ગ્રન્થ અંગે

આજે ઉપાધ્યાયજીની સ્વકૃતિ તરીકેનું આઠમું પ્રકાશન થઈ રહ્યું છે. યશોભારતી સંસ્થા તરફથી આઠમું આ પ્રકાશન ઉપાધ્યાયની ત્રણ કૃતિઓથી સંયુક્ત છે અને તેથી તેના પર ત્રણ નામો 'છાપવામાં આવ્યા છે.

આ ત્રણેય કૃતિઓનો પરિચય વિદ્વદ્વચ, પ્રખર સાહિત્યકાર ડો. શ્રી રૂદ્રદેવજી ત્રિપાઠીએ આ ગ્રન્થમાં જ આપ્યો છે તે જોઈ લેવો. જે કહેવાનું શેષ રહે છે તે અહીં જણાવું છું.

આ ત્રણેય કૃતિઓનું રચના પ્રમાણ ઘણું ઓછું હોવાથી ઠરેકની અલગ અલગ પુસ્તિકાને જન્મ આપવો એ હાથે કરીને નબળાં બાળકોની જ માતને જન્મ આપવો જેવું દેખાય અને તે અદર્શનીય બની જાય. એનો કોઈ અર્થ પણ ન રહે. પુસ્તકનું કલેવર પુષ્ટ બને, એ માટે આ સંયુક્ત પ્રકાશન નક્કી

૧. લાવએરીનું લીસ્ટ કરનારાએ, આ કૃતિની ત્રણેય કૃતિઓને તે તે અક્ષરવિભાગમાં અલગ અલગ નોંધવી. જેથી જરૂરી મેળવી શકાય.

કચું. કહ વધ એ માટે ૧/૧૬ કાઉન સાઈઝ પસંદ કરી.
જેથી પુસ્તકને કહ સાંપડ્યું.

પ્રથમની બે કૃતિઓ ચરિત્રો રૂપે છે. બંને કૃતિઓ કાવ્યાત્મક છે. આ બંને કાવ્યો 'મહાકાવ્યોની હરોળમાં ઉભા રહે તેવાં છે. એકનું નામ આર્ષમીય અને બીજાનું નામ છે વિજયોલ્લાસ. બંને કૃતિઓને થોડી ઐતિહાસિક પણ ગણી શકાય. આર્ષભીય કાવ્ય મોટા ભાગે દ્વયર્થકકાવ્ય છે. એટલે કે એક શ્લોક બે પ્રકારનાં જુદા જુદા અર્થને વ્યક્ત કરે તે.

આ બે કૃતિઓ કાવ્યની છે. કાવ્યના વિષય ઉપર ઘણું ઘણું લખી શકાય જૈન સાહિત્ય-કાવ્ય ઉપર ઘણા વિદ્વાનોએ મથોમિત લખ્યું છે. એમ છતાં મારા જ્ઞાનવિકાસ માટે અને કોઈ કોઈ અભ્યુપશાંસેલી ખાખતોને અનુલક્ષીને કાવ્યનાં યાસા પર યથામતિ કંઈક લખી શકાય. જેમાં જૈનધર્મમાં કાવ્ય પરંપરાને શું સ્થાન હતું ? આ પરંપરામાં માત્ર સાધુઓ જ જ્ઞાન-વિજ્ઞાનના ક્ષેત્રો સંભાળતા રહ્યાં, તે ગૃહસ્થો (રડયા-ખડયા અપવાદ સિવાય) શા માટે આ વિદ્યાથી અસ્પૃશ્ય રહ્યા અને આજે છે તે જૈન-અજૈન કાવ્યોમાં વચ્ચેની તુલનાત્મક છણાવટ. જૈનધર્મમાં સ્વતંત્ર પ્રતિભા ધરાવતાં કાવ્યો છે ખરાં ? અનુશાસક કે ઉપજીવ્ય કૃતિઓ કઈ ? સ્વતંત્ર અને ઉપજીવ્યમાં વધુ પ્રમાણ કેવું ? કાવ્યમાં રસો નવે હોય પણ એનું પૂર્ણવિરામ જૈન-અજૈન બંનેમાં સમાન બિન્દુ ઉપર હતું કે અસમાન ? એનું પર્યાવસાન કયા રસમાં થતું

-
૧. સર્જનની અજબ-ગજબની ધૂતી જગાવનાર ઉપાધ્યાયજીની સર્જન સમૃદ્ધિ અને તે પાછળનો તેઓશ્રીનો અપ્રમતભાવ બોતાં હરકોઈનું શરૂ કરી જાય તેવું છે.

હતું અને જૈન ધર્મની એ મૂળભૂત ખાસીયત, આખરી ધ્યેય, કે અંતિમ લક્ષ્યનું સાતત્ય કવિઓએ કેવી રીતે જાળવી રાખ્યું ? તે ઉપરાંત સૈકાવાર કાવ્યની રચના કઈ કઈ થઈ અને તેને લગતી જરૂરી બાબતોનો યથાશક્તિ-યથામતિ રૂપરેખા આપવાની તીવ્રેચ્છા રાખેલી પણ વર્તમાનની શારીરિક માનસિક કે મસ્તિષ્કની પ્રતિકૂલ પરિસ્થિતિ અને અન્ય સાધનાક્રમ વ્યાલતો હોવાથી આજે એ બધું લખી શકાય તેવી સ્થિતિ નથી; અને તેથી તેનો રંજ જરૂર છે.

કમનસીબી એ છે કે બંને કૃતિઓ 'અપૂર્ણ' મળી છે.

આ કૃતિનું આર્ષભીય નામ વાચકોને અપરિચિત લાગશે. આવા નામની ખાસ પ્રસિદ્ધિ પણ કયાંય જોવા મળી નથી. સામાન્ય વાચકને વિચાર થઈ પડે કે આર્ષભીય એટલે શું હશે ? વ્યાકરણના નિયમથી ઋષભસ્વ દ્વં આર્ષભીયમ્ ઋષભદેવ સંબંધી જે હોય તે આર્ષભીય અને આ ચરિત્ર છે. તેથી ઋષભનું જે ચરિત્ર તેને આર્ષભીય કહેવાય.

પહેલા તીર્થંકરનું માતા-પિતાએ પાડેલું સાન્વર્ધક નામ 'ઋષભ હતુ'. ઋષભ ઇન્દ્ર બન્યા ત્યારે સહુના નાથ-સ્વામી બન્યા કહેવાય, પણ ઉચ્ચારની થોડીક અસરલતાના કારણે કે ખીલ ગમે તે કારણે ઋષભનામને બદલે આદિ ભગવાન હોવાથી 'આદિનાથ-આદીન્દ્ર આ નામને ખૂબ જ પ્રસિદ્ધિ

૧. કૃતિઓ કેમ અધૂરી રહી હશે ? એ પ્રશ્નાર્થક જ રહેશે.
૨. સાધના કરનારે તો ઋષભ નામનો ઉપયોગ કરવો લાભપ્રદ છે.
૩. કલ્પસૂત્ર ગ્રંથમાં ભગવાનને પાંચ વિશેષણોથી ઓળખાવ્યા છે. ઉસમ, પદમોરાયા, પદમભિક્ષ્ણાયરે, પદમજિજ્ઞે, પદમ-

મળી છે. અજ્ઞેન ગ્રન્થ-વેદ-પુરાણાદિકમાં ઋષભ અને આદિ-નાથ બંને નામોનો ઉલ્લેખ થયો છે.

ઋષભદેવનો મહિમા જ્યારે આ દેશમાં ઉત્કટ બન્યો હશે ત્યારે અજ્ઞેન ધાર્મિક અગ્રણીઓએ જ્ઞેનોના પહેલા તીર્થ કરને પોતાના ઇશ્વરી અવતારમાં સમાવિષ્ટ કરવાનો વિચાર નિષ્ક્રિય કર્યો, ત્યારે તેમને ચોવીશમાંથી બીજા કોઇને પસંદગી ન આપતાં બુદ્ધિ કૌશલ્ય વાપરીને એમને પહેલા તીર્થ કરને પસંદ કરીને એમને અવતારમાં સ્થાપિત કરી દીધા. અને એમને અવતાર તરીકેના નામમાં 'ઋષભ' નામ જ પસંદ કર્યું. અને ઋષભને અવતાર તરીકે જાહેર કર્યા. અને ભાગવદ્ પુરાણમાં અવતારોના વર્ણનમાં તેમનું 'જીવનચરિત્ર પણ દાખલ કરી દીધું. આમ જડબેસલાક રીતે જ્ઞેન તીર્થ કર ઋષભ, ઋષભાવતાર રૂપે અજ્ઞેન વિભાગમાં માન્ય, વંદનીય, અને પૂજનીય બંની ગયા.

ભાષાંતર અંગે—

ભારતીય સંસ્કૃતિનો આત્મા પ્રાકૃત ભાષામાં જીવે છે તેમ આર્યકુલની ગણાતી સંસ્કૃત ભાષામાં પણ જીવે છે. આ ભાષા હજારો વર્ષથી આ દેશમાં સર્વત્ર પથરાયેલી છે. કેમકે

તિથ્યંકરે, હસમ-રૂપભ, પ્રથમ રાગ, પ્રથમ બિક્ષાચર-સાધુ આદિ વીતરાગ, આદિ તીર્થ કર. આજે કોઇ પ્રશ્ન કરે કે આ યુગના આદિ રાગ, સાધુ પહેલા વીતરાગ અને આદિ તીર્થ કર કોણ? તે જવાબમાં રૂપભદેવ.

૪. જુઓ ભાગવત પુરાણ.

૫. રૂપભદેવાવતારનું ચરિત્ર જ્ઞેનોથી થોડું જુદું પડે છે. જો કે અન્તમાં થોડી વિચિત્ર વિકૃતિઓ જોવા મળે છે.

આ ભાષાને નિયમબદ્ધ કરવામાં આવી છે એટલે એને દેશકાળના સીમાડા બાધક ન બન્યા. જ્યારે ખીજી લોકભાષા-પ્રાકૃત બોલી માટે બાર ગાઉએ બોલી બદલાય એવી સ્થિતિ હતી. વ્યવહારની ભાષા વ્યાકરણશાસ્ત્રથી સુસંસ્કારી એટલે નિયમ-બદ્ધ બનતાં સંસ્કૃત ભાષા જન્મી, એટલે આ દેશની હરકોઈ વ્યક્તિ એને શીખી શકે તેવી પરિસ્થિતિ નિર્માણ થઈ. એટલે જ આ ભાષામાં તમામ દર્શનકારોએ પોતાના સાહિત્યની જંગી રચનાઓ કરી છે. ભારતીય સંસ્કૃતિના આત્માને એકતાના સૂત્રે બાંધનાર, વિવિધતામાં એકતાનો અનુભવ કરાવવામાં આ ભાષાનો ફાળો ઘણો ઉમદા રહ્યો છે.

જો કે દરેક ધર્મશાસ્ત્રકારોએ પોત પોતાના મૂલભૂત શાસ્ત્રો માટે સ્વતંત્ર ભાષાઓ અપનાવી છે. જેમકે જૈનોએ પ્રાકૃત, વૈદિકોએ સંસ્કૃત અને બૌદ્ધોએ પાલી. એમ છતાં આ ધર્મશાસ્ત્રોને સમજાવવા માટે જે ભાષાનો છૂટથી ઉપયોગ થયો તે બહુલતાએ સંસ્કૃત ભાષાનો જ થયો છે. આ સમજાવવા માટે રચાયેલી સંસ્કૃત રચનાઓ સર્વત્ર ટીકા શબ્દથી ઓળખાય છે. આમ ભારતીય સંસ્કૃતિનો આત્મા ભાષામાં શબ્દબદ્ધ થઈ વણાઈ ગયો. આવી વ્યાપક સર્વત્ર સમાન સમાહરને પાત્ર બનેલી ભાષા પ્રત્યે આજે પનોતી ઉતરી છે. દેવભાષાથી ઓળખાતી ભાષા પ્રત્યે એની જન્મ-દાત્રી ધરતીમાં જ અભાવ, અપ્રીતિ, તિરસ્કાર અને અતિ ઉપેક્ષાના ભાવો પ્રગટ થઈ રહ્યાં છે. વિદ્યાર્થીઓનું આ ભાષા પ્રત્યે સાવકી મા કરતાંએ ખરાબ એવું વર્તન જોઈને કોઈપણ સંસ્કૃતપ્રેમી ભારતીયને દુઃખ અને ચિંતા થયા ત્રિના નહીં રહે.

ચરિત્રો આજ ભાષામાં લખાયા છે. એટલે જો આ ભાષાનો અનુવાદ થાય તો જ તેનો લાભ બહુજન ઉઠાવી શકે. આ માટે પ્રયાસ કર્યો પણ ભાષાંતરકારોનો દુકાળ, કિલબટ

ભાષા રચનાને ભાષામાં સમજનારા એણા થઈ ગયા. સાધુ-
શ્રમણસંઘમાં પણ સંસ્કૃત ભાષા પ્રત્યે ઘટેલો આદર, આ બધા
કારણે તત્કાલે સાડું ભાષાંતર થઈ શકે તેવી શક્યતા ન
હોવાથી અહીં આપી શકાયું નથી. એટલે આ ગ્રન્થનો ઉપ-
યોગ કેટલો થશે એની ચિંતા છતાં, ચિંતા ન કરતાં ઉપાધ્યાય-
જીની ઘણી મહામૂલી કૃતિઓ કાળના ખર્ખરમાં સ્વાહા થઈ
ગઈ તેમ, નવી ઉપલબ્ધ કૃતિઓનું નળને અને તે ચિરંજીવ
બની રહે, એ ઉદ્દેશથી સંસ્થા પ્રકાશન કાર્ય કરી રહી છે.

હવે પ્રતિ પરિચય જોઈએ.

આર્ષલીયની પ્રતિનો જરૂરી પરિચય

આર્ષલીયની પ્રતિનું દીર્ઘમાપ ૯૧૧ ઈંચ એક દોરો,
પહોળાઈ ૪૧૧ ઈંચ એ દોરો છે. પહેલા ખાનામાં પંક્તિ ૧૩
છે. પ્રારંભના પાંચ ખાનામાં અક્ષરો એક ઈંચમાં ચારથી
પાંચ સમાય તેવડા મોટા લખ્યા છે. તે પછી અક્ષરો નાના
થતા બધ છે. પણ દીઠ પંક્તિપ્રમાણ ૧૪ થી ૧૬ સુધીનું
પહોંચે છે. અને અક્ષર સંખ્યામાન એક ઈંચમાં વધતું ગયું છે.

આ પ્રતિ એક જ હાથે લખાઈ હોય તેમ લાગતું નથી.
પણ પાછળનું લખાણ ખુદ ઉપાધ્યાયજીના પોતાના અક્ષરમાં
હોય તેમ સમજાય છે. પ્રતિની સ્થિતિ સારી છે. આની એક
જ નકલ મળી છે કાળી શાહીમાં લખાઈ છે. એક ભક્ત-
જનની વિનંતિથી તેને સંભળાવા માટે આ રચના કરી છે
તેવું લેખકે જણાવ્યું છે. વળી અન્તિમ શ્લોકમાં તેમને પોતાને
પત્રંદ એવા રક્ષી શબ્દનો પ્રયોગ કર્યો છે. આર્ષલીય પ્રતિ
અંગેની આલોચના પૂરી થઈ.

વિજયોદ્દલાસની પ્રતિ માપમાં લગભગ આર્ષભીય જેવી જ છે. બાકી લિપિની લઢણ અને પ્રતિની સ્થિતિ સારી છે.

આ બંને કાવ્યો નહિં પણ મહાકાવ્યોની રચના જોતાં એક નૈયાયિક પણ કેવા સફળ સાહિત્યકાર બની શકે છે તે જોઈ શિરસા મનસા મત્થપણ વંદામિ પૂર્વક મસ્તક નમી પડે છે. આર્ષભીય અને વિજયોદ્દલાસ બે કાવ્ય માટે માફ જે કંઈક કથયિતવ્ય હતું તે અહીં જણાવી દીધું છે. હવે 'સિદ્ધસહસ્ર' અંગે લખું છું.

પાલીતાણા
સાહિત્ય મંદિર,
આસો સુ. પૂનમ
સં. ૨૦૩૫

યશોદેવસૂરિ.

સ્વયંક્રિતવનો સૂચક કોઈ પણ એક સાંકેતિક શબ્દ મુક્તા હતા. ઉપાધ્યાયજીએ 'શ્રી' શબ્દ ઉપર પસંદગી ઉતારી હતી.

- આ ચરિત્રમાં શ્લોક ૧૩૨ માં સાર્થત્રયોદશસુવર્ણ ૦ ૧૩૧ કોડ સોનેયાની વૃષ્ટિની નવી જ વાત રજૂ કરી છે. આમ તે ૧૨૧ કોડ સોનેયા વૃષ્ટિની વાત સર્વત્ર આવે છે. વિદ્વાનોએ વિચારવું.



सर्वविघ्नहरणाय श्रीलोकेश्वरपाश्र्वनाथाय नमः ।

सिद्धसहस्रनाम प्रस्तावना.

सिद्धकोश अथवा सिद्धसहस्रनाम प्रकरण आ जे नामथी परिव्यायक आ लक्ष्मीकृति अंगे जे कंठ कथयितव्य हुतुं ते गहुधा धर्मस्नेही श्री अभूतलाल बाईजे लक्ष्मी नाथुं छे. अने ते आ ज ग्रन्थमां मुद्रित करी प्रगट क्युं छे. जे आ ज पुस्तकना प्रारंभना पेज उदथी वांछी लेवुं, जेथी कृतिना विस्तृत परिचय भली जशे. जे शेष मारे कहेवानुं छे ते अहीं जणुं छुं.

भारतमां सहस्रनामो द्वारा केळ पणु छष्ट देव-देवीनां विविधनामो द्वारा शुष्कतीर्तन नाम स्तवन-स्तुति करवानी परंपरा गुगुग-पुराणी छे. सहस्रथी प्रथम अज्ञेनाये सहस्रनामो द्वारा आवी स्तुति रचनाओ करी. ते पछी औद्ध-ज्ञेनाये पणु करी. जैनदर्शनमां पणु आ परंपरा अर्वाचीन नथी, प्राचीन मात्र नथी, पणु अति प्राचीन-पुराणी प्रथा छे.

उपलब्धकृतिना आधारे कहीये तो जैनसंघमां योथी रशताण्ढिथी उजिनसहस्र नामनी कृति भणी आववाथी

१. ऋग्वेद जेटली प्राचीन तो प्परी ज.

२. सहस्र रयनानी अज्ञेनानी यादी धणुि सांणी होवाथी नभूना

૧૬૦૦ વર્ષ પહેલાં આ હતી તે પુરવાર થાય છે. પણ આ પહેલાં આવી કોઈ કૃતિ રચાણી હશે ખરી? એ પ્રશ્નાર્થક રહે છે. આ કૃતિ દિગમ્બરીય છે.

આવી રચના શુષ્ક લાગતી હોય છે એટલે આ દિશામાં અત્યંત વ્યક્તિઓએ કલમ ચલાવી છે. પ્રાપ્ત સાધનોથી અનુમાન કરી શકાય કે એથી શતાબ્દિથી બે હજારની શતાબ્દિ સુધીમાં જૈન સમાજમાં સહસ્રનામથી અંકિત કૃતિઓ પંદરેકથી વધુ તો નહિ જ હોય.

આ વિષય જ એવો છે કે જેમાં માત્ર નામોની જ રચના હોય છે. એમાં ણીગુ' કંઈ કથયિતવ્ય હોતું નથી. જે કે નામો રચવાનું પણ કાર્ય સહેલું નથી. એમાંએ કાર્ય કારણ ભાવની વ્યવસ્થિત તત્વવ્યવસ્થા જે દર્શનમાં હોય ત્યાં શબ્દો નક્કી કરવા માટે ખૂબ જ પ્રતિભા અને સાવધાની માગી લે તેવી બાબત છે. છતાંય એકંદરે ણીબ વિષયોનું જે ખેડાણ થયું છે એની સરખામણીમાં આ દિશાનો પ્રયાસ

રૂપે જ થોડા નામોનો અહીં નિર્દેશ કરે છું. ૧ વિષ્ણુસહસ્ર, ગોપાલસહસ્ર, ગણેશ, દત્તાત્રેય, સૂર્યનારાયણ, પુરૂષોત્તમ વગેરેના સહસ્રનામો રચાયા છે. દેવીઓમાં લક્ષ્મી, રૈણિકા, પદ્માવતીનાં પણ સહસ્રનામો રચાયાં છે.

૩. 'જિન' શબ્દનો અર્થ જીતે તે જિન. આટલાથી અર્થ તૃપ્તિ થતી નથી. અર્થ સાકાંક્ષ રહે છે એટલે પ્રશ્ન થાય કે કોને જિતે? તો આત્માના રાગદ્વેષરૂપી શત્રુને. આ જીતાઈ જાય એટલે આત્મા વીતરાગ બની જાય. જિન-વીતરાગ એક જ અર્થના વાચક છે. વીતરાગ થયા એટલે સર્વત્ર સમભાવવાળા બન્યા એટલે જ સર્વગુણસંપન્ન બન્યા.

નાનો કહી શકાય. આ એક શોખની-રસની ખાખત છે. અનિ-
વાર્ય જરૂરીયાતની ખાખત નથી. છતાંએ હિન્દુ પરંપરા કે
વૈદિક ક્ષેત્રમાં સ્પર્શાએલા ક્ષેત્રો જૈનીક્ષેત્રમાં અણુસ્પર્શ્યા
રહે, આ ક્ષેત્રોમાં જૈનોની દેષુ ન હોય તે એક સ્વતંત્ર સંસ્કૃતિ
ધરાવતા જૈનસંઘ માટે સમુચિત ન હોવાથી જૈનમુનિઓએ
કરેલો આ પ્રયાસ ખરેખર જૈન સંઘ માટે અતિ અગત્યનો
અને ઉપકારક ગણી શકાય તેવો છે.

જૈન સાધુઓની દેશક્ષાળને ઓળખીને સમયસાથે તાલ-
મિલાવવાની યુગલક્ષી ઉદ્ધત ભાવનાના પરિણામે ત્યાગ, વૈરાગ્ય
ના પાયા ઉપર ઉભેલા જૈનધર્મમાં પણ અજોડ વિષયો ઉપર
જૈનાચાર્યો-મુનિઓએ વિશાળ સર્જન કર્યું. અનેક વિષયોના
ખેતરો ખેડી નાખ્યા અને પરિણામે જૈન સમાજને મહાન
સંસ્કૃતિનો મહાન વારસો મળ્યો. જેના લીધે દેશમાં આજે
જૈનસમાજ પોતાની આ વિશાળ જ્ઞાન-સાહિત્ય સમૃદ્ધિનાં
કારણે ઉન્નત મસ્તકે જીવન જીવી રહ્યો છે. અને છેલ્લા
પચીસ વર્ષમાં દેશ-પરદેશમાં પણ સંશોધન ક્ષેત્રે, જૈનતત્વ-
જ્ઞાને અને જૈનગ્રન્થોએ વિદ્વાનોમાં ભારે ઉત્સાહ અને આતુરતા
જગાડી દીધી છે.

જન-માનસ વિવિધ સંસ્કારોથી સભર છે. અનેક કોમ્પ્યુ-
ટરને શરમાવી શકે તેવા અગાધ, વિશાળ, વ્યાપક અને
વિવિધ ખ્યાલો ધરાવતાં મગજને નાના નહિં પણ વિશાળ
વિચારો, નાની કલ્પના નહિં પણ વિશાળ કલ્પનાઓ વધુ
આકર્ષી શકે છે. આ અતિજ્ઞાનીઓ-બુદ્ધિશાળીઓ માટેની
બાણીતી સમજી શકાય તેવી ખાખત છે. નાની આકૃતિ કરતાં
મે ટીં આકૃતિ (આઠ લેક્લથી મોટી) વધુ ધ્યાન ખેંચે છે. એ
માનવ અક્ષુ અને મનનું સાદું ગણિત છે. અલ્પતા કરતાં
(સારી ખાખતોની) વિશાળતા કોને ન ગમે ?

આવા માનસિક કારણે એક નામ કરતાં અનેક નામથી, અનેક કરતાં દશ નામથી, દશ કરતાં ન્યારે વધુ આનંદ અનુભવ્યો એટલે મન આગળ વધે. દશમાં વધુ આનંદ આવ્યો તો સોમાં તો આનંદની છોળો ઉડશે. આવી કોઈ પુણ્યભાવનામાંથી શતકોની રચના થઈ. પછી એ અંગેનો ઉત્સાહ લક્ષમણરેખા એળંગી જતાં જીવડો સીધો કુદકો મારી હજાર, વાસ્તવિક રીતે તો ૧૧૦૦૮ નામની રચના ઉપર પહોંચ્યો અને એ ઈચ્છાને સંતોષવા ભગવાનને વિવિધરૂપે કલ્પવા માંડયા. વિવિધ ગુણોની અલંકૃત કરવા પડયા. ખુદ્દિને ઉંડી ક મે લગાડી મંથન કર્યું. જેનકેન પ્રકારે અનેક સાન્વર્થક નામો ગનાવી (છન્દને અનુકૂળ રહીને) સહસ્રનામની ભવ્ય કૃતિને જન્મ આપ્યો. કહો કે જન્મ મળ્યો.

ઉપર જે કહ્યું તે માનવ સ્વભાવને અનુલક્ષીને કહ્યું, પણ એ કરતાં ય વધુ વાસ્તવિક કારણ એ સમજાય છે કે મન્ત્રશાસ્ત્રનો એક સર્વ સામાન્ય નિયમ-ધોરણ એવું છે કે કાર્યની સફળતા માટે કોઈ પણ મન્ત્રનો જાપ એછામાં એછો એક હજારનો રોજ થવો જ જોઈએ તો જ તેની ફલશ્રુતિનાં કંઈકે દર્શન થાય, હજારનો જાપ રોજ થતો જાય તો હાંખા ગાળે જાપકને અભૂતપૂર્વ શક્તિનો સંચાર, દર્શન અને રહસ્યોનો કંઈક અનુભવ થયા વિના રહે નહિ, પણ આના કરતાંએ વધુ વાસ્તવિક એ લાગે છે કે ભગવાનના

-
૧. જુઓ, શિલ્પમાં શું થયું કે ભગવાન શ્રી પાર્શ્વની મૂર્તિમાં પાંચ સાત, કે નવ ફણાથી સંતોષ ન થયો, એટલે સીધા વધીને સહસ્રફણા એટલે એક હજાર સર્પમુખના ઢાંકણવાળી મૂર્તિ-ઓનું નિર્માણ થવા પામ્યું. એવું અહીં વિચારી શકાય.

શારિરીક લક્ષણોની સંખ્યા ૧૧૦૦૮ છે. આવા અંકને લક્ષ્યમાં રાખી ભગવાનના ગુણનિબંધ ૧૦૦૮ નામોની સ્તવના કરવાનું કહાય બન્યું હોય !

ઉપર નિર્દિષ્ટ કારણોને લક્ષ્યમાં રાખીને પણ આવા સહસ્ર (૧૦૦૮) નામોની કૃતિઓ રચાઈ હોય તો તે સુસંગત બાબત છે.

અલબત્ત પરમાત્માના ગુણો અનંત છે. અનન્ત ગુણોના અનન્ત નામો પણ રચી શકાય, પણ માનવ બુદ્ધિથી તે શક્ય નથી એટલે જે વધુ યોગ્ય, ભાવોત્પાદક આકર્ષક અને ઉત્તમ હોય તેવાં જ નામોનું નિર્માણ કરવાની પ્રથા છે.

આ બાતની પ્રથા જૈન, વૈદિક અને બૌદ્ધ ત્રણેય સંસ્કૃતિમાં હતી. આવી રચનાઓ મુખ્યત્વે પોતપોતાના ઈષ્ટ દેવો અને દેવીઓને કેન્દ્રમાં રાખીને રચવામાં આવી હોય છે.

સ્તવ-સ્તવના કે સ્તોત્ર ચાર પ્રકારે થાય છે. ૧. રનામ-સ્તવ. ૨. સ્થાપનાસ્તવ. ૩. દ્રવ્યસ્તવ અને ૪. ભાવસ્તવ. આ સ્તવનામાં સર્વકાળના સર્વ ક્ષેત્રોના તીર્થંકરો-પરમાત્માઓને આવરી લેવાના હોય છે. જેથી કોઈ પણ સ્થાનની કોઈ

૧. જૂઓ મહા. પુ. ૫૧ સૂચ, ૬૯

૨. નામાકૃતિદ્રવ્યભાવૈઃ પુનતસ્ત્રિજગજ્જનં ।

ક્ષેત્રે કાલે ચ સર્વસ્મિન્નર્હતઃ સમુપાસ્મહે ॥ (સકલોર્હત)

-જૂઓ શાસ્ત્રો-દીકાઓ-ચરિત્રો-કાવ્યકૃતિઓ.

-આની મજા એ છે કે આથી, ત્રણેય કાલના અનંત આત્માઓની સ્તુતિનો લાભ સ્તુતિ કરનારને પ્રાપ્ત થાય છે.

પણ ક્ષેત્રમાં રહેલી ઇશ્વરીય વ્યક્તિઓ અસ્તુત્ય રહી ન જાય, અને તેથી પરમ મંગલ-કલ્યાણની પ્રાપ્તિ થાય.

સહસ્ર નામોની રચના અરિહંતો-અહંતો સિવાય વર્તમાન ચોવીશીના કોઈ પણ તીર્થ કરને ઉદ્દેશીને પણ કરી શકાય છે. પણ આ ચોવીશીમાં સહસ્ર નામો રચી શકાય કે પ્રાપ્ત થાય તેવા ભગવાન જો કોઈ પણ હોય તો તે પાર્શ્વનાથ ભગવાન છે. તેથી તેઓશ્રીના નામની સ્તુતિ રચાણી છે. જેનું નામ 'પાર્શ્વનાથ નામસહસ્ર' છે. અરિહંતથી વધુ ઉચ્ચ સ્થાન ધરાવતા સિદ્ધાત્માઓના સહસ્ર નામો ઉપાધ્યાયજી સિવાય બીજા કોઈએ કર્યા હોય એવું જાણવામાં નથી, એટલે જ સહસ્ર નામની રચના ઉપાધ્યાયજી સુધી અરિહંતોને અનુલક્ષીને જ થતી હતી તે ધ્યાનમાં રાખવું ઘટે.

આ પ્રથાનો આદર શ્વેતામ્બર-દ્વિગમ્બર બંને સંપ્રદાયોમાં થયો છે. એમાં સહસ્રની સહુથી જુની રચના શ્વેતામ્બર આચાર્ય શ્રી સિદ્ધસેન દિવાકરજીની છે. અને તેનો સમય ચોથી શતાબ્દનો છે. ત્યારપછી લગભગ ૫૦૦ વરસ બાદ વિદ્વાન દ્વિગમ્બર આચાર્યશ્રીએ, 'જિનસહસ્ર' નામના સ્તોત્ર-સ્તવની રચના કરી. આ રચનાનો સમય નવમી શતાબ્દનો છે.

પણ આમાં એક વિવેક કરવો જરૂરી છે કે દિવાકરજીની રચનામાં નામ ભલે હજાર હોય પણ તે ગદ્ય પદ્ધતિએ સંગૃહીત થયા છે. પદ્ય-શ્લોક રૂપે નહિં. અને શૈલીનો પ્રકાર પણ ભિન્ન છે. એટલે વાસ્તવિક રીતે શ્લોકબદ્ધ પદ્ધતિએ

૧. એમના જ બનાવેલા આદિ પુરાણના એક અંશ-ભાગ ૩૫ આ કૃતિ છે. પણ સ્વતંત્ર રચના નથી.

રચાયેલી રચના સહુથી પ્રથમ આચાર્ય શ્રી જિનસેનની છે. એમ પ્રાપ્ત સાધનો જોતાં કહી શકાય.

જિનસેનજીની કૃતિ પછી લગભગ ત્રણ સૈકા પછી (વિ. સં. ૧૨૨૯) કલિકાલ સર્વજ્ઞ શ્રી હેમચંદ્રાચાર્યજી આવી જ કૃતિ આપણને આપે છે. ફક્ત નામમાં થોડોક ફરક કરીને, 'અર્હન' નામસહસ્રસમુચ્ચય ' નામ રાખીને આપે છે. અર્થ- દ્રષ્ટિએ અર્હન કે જિન એક જ અર્થના વાચક છે. જો કે આ કૃતિને ' જિન સહસ્ર ' થી પણ ઓળખાવામાં તો આવે જ છે.

જિનસહસ્રનામ સ્તોત્ર અથવા અર્હનમસ્કાર સ્તોત્ર, આવા નામની અન્તિમ મુદ્રિત કૃતિ સત્તરમી શતાબ્દિ (સં. ૧૭૩૧) ની મલે છે. જેના કર્તા ઉપાધ્યાય શ્રી વિનયવિજયજી મહારાજ છે. જિનસહસ્રની રચનાઓ એકંદરે સાત મળી છે. એમાં ત્રણ દિગમ્બરની અને ચાર શ્વેતામ્બરની છે. દિગમ્બરની ત્રણેય કૃતિઓ મુદ્રિત થઈ ગઈ છે. જ્યારે શ્વેતામ્બરની બે મુદ્રિત થઈ છે અને બે અમુદ્રિત છાણી અને પુનાના ભંડારમાં હસ્તલિખિત પ્રતિ રૂપે વિદ્યમાન છે.

એમાં મને દિગમ્બરીય આશાધર પંડિત (વિ. સંવત ૧૨૮૭) વિરચિત રચના એની વિશિષ્ટ કમખંદ્ર ગોઠવણ અને નામોમાં વ્યક્ત થતી પ્રતિભાના કારણે રચનાની દ્રષ્ટિએ

૨. દિગમ્બરીય જિનસહસ્રના નામો અને શ્વેતામ્બરીય અર્હન સમુચ્ચયના નામોમાં અન્યગત નવમા શતકની રચનાને યાદ કરીએ તો બાકીના શતકના નામોમાં અસાધારણ સામ્ય દેખાઈ આવે છે. આજે આ પ્રથાને એક સમસ્યા રૂપ લેખવા કરતાં સાહિત્યના ક્ષેત્રમાં પરસ્પર એક બીજાનું આદાન પ્રદાન કરવાની કેવી પ્રથા હતી તે રૂપે સમજવું વધુ ઉચિત રહેશે.

ધણી 'વિશિષ્ટ કૃતિ' લાગી છે. આશાધરને કવિકાલિદાસ તરીકે ઓળખાવ્યા છે. તેઓ ગૃહસ્થ વિક્ષાન હતા.

૧. ભારત વિવિધ ધર્મો અને પન્થોનો દેશ છે. આવા દેશમાં પ્રભુ પ્રભુ વચ્ચે સહિષ્ણુતાનો સેતુ ટકી રહે, સંપનો દોરો પરોવાએલો રહે, તો જનતા વિવિધતામાં પણ એકતાને અનુભવે, જેથી ભાતૃભાવ, પ્રેમ અને મૈત્રીની ભાવના મજબૂત થતી રહે. આ માટે જૈનાચાર્યોએ પ્રસંગ આવે સાહિત્યના ક્ષેત્રમાં ઉદાત્ત ઉદાહરણો પૂરાં પાડ્યાં છે. એમાં પ્રાચીનોમાં સુપ્રસિદ્ધ મહાન આચાર્યોમાં સૂરિપુંગવ શ્રી હરિભદ્રજી, તે પછી શ્રી હેમચંદ્રાચાર્યજી, શ્રી માનતુંગસૂરિજી અને તે પછી ઉપાધ્યાયજી યશોવિજયજી આદિને ગણાવી શકાય. દ્વિગચરમાં પંડિતપ્રવર શ્રી આશાધરજીને રજૂ કરી શકાય. આશાધરજીએ સહસ્ત્રનામોના શતકોમાં અર્થની દૃષ્ટિએ જૈનદૃષ્ટિને ખ્યાલમાં રાખીને પ્રભુ-શતક, યુદ્ધશતકની કરેલી રચનાઓ પ્રસ્તુત ખ્યાતના પ્રભુદ્ધ પુરાવા છે.

આ, ભગવાન મહાવીરે આ દેશને આપેલી તદ્દન નવી, અદ્ભુત અનેકાન્તદૃષ્ટિની સર્વતોમુખી દૃષ્ટિને આભારી છે. બેદમાં અબેદ અને અબેદમાં બેદને સ્થાપન કરી સત્યને જીવંત રાખવું એ આ દૃષ્ટિની ફલશ્રુતિ છે. સાપેક્ષદૃષ્ટિ એ અનેકાન્તવું બીજું નામ છે. તમામ સંઘર્ષોના ઉકેલ માટેનો આ એક મહાન સિદ્ધાન્ત છે. અને આ અનેકાન્તના સિદ્ધાન્તને 'સ્વાહ'વાદ શૈલી દ્વારા જૈનાચાર્યોએ ખૂબ ખૂબ વિકસાવ્યો છે.

ઉપાધ્યાયજીએ પણ ઉપરોક્ત પરંપરાનો આદર યથેચિત કર્યો છે. એમને જ શાબ્દિક અધકાથી દૂર રહેવાનું જણાવતાં ભાષામાં રચેલ સિદ્ધ સહસ્ત્રનામ વર્ણનની કૃતિમાં કહ્યું છે કે-

‘સહસ્ર’ નામની સહુથી આઘ રચના (અજ્ઞેન કૃતિ) વિષ્ણુ સહસ્ર નામની છે. અને તેથી ઉપલબ્ધ સહસ્રના વાહમયમાં તે સહુથી વધુ પ્રાચીન છે.

જિનસહસ્ર નામ ઉપરાંત વ્યક્તિગત તીર્થંકરની એક રચના ઉપલબ્ધ છે તે ભગવાન પાર્શ્વનાથજીની છે. અને એથી એનું નામ ‘પાર્શ્વ સહસ્ર નામ’ છે. જે વાત ઉપર જણાવી છે.

ભગવાન પાર્શ્વનાથ આ કાળના લોકપ્રિય તીર્થંકર રહ્યા છે અને સદાએ રહેશે. ૨૩ મા એક જ ભગવાન એવા છે કે જે સેંકડો નામોથી ભારતમાં ઓળખાય છે અને એનાં મંદિરો મૂર્તિઓ પણ વધુ છે. જૈનેતરોમાં શંકર ભગવાનનું જે સ્થાન છે તેવું સ્થાન જૈનોના લોક હૃદયમાં પાર્શ્વનાથ પ્રભુનું છે. જેમ શંકર આશુતોષ કહેવાય છે એમ ભગવાન પાર્શ્વની ભક્તિ પણ શીઘ્રતોષ આપનારી છે. આ ઉપરાંત ગ્રહોમાં જોઈએ તો મુખ્ય સૂર્યગ્રહની તેમજ શ્રી ઉપદ્રાવતી આદિ દેવ-દેવીઓની પણ સહસ્ર નામની રચનાઓ મળે છે.

સહસ્રનામની રચનાઓ સંસ્કૃતથી અનભિન્ન જીવો માટે ભાષામાં પણ રચાઈ છે. તેના કર્તા તરીકે બનારસીદાસ, જીવહર્ષ અને ઉપાધ્યાયજી તો છે જ.

*

*

*

ઈસ્યા સિદ્ધ જિનનાં કહ્યાં સહસ્ર નામ,
રહો શબ્દ ઝઘડો કહ્યાં લહો શુદ્ધ ધામ.

1. આ કૃતિ મહાભારતના અનુશાસનપર્વમાં છે.
2. આશુ એટલે જલ્દી તોષ-પ્રસન્ન થાય, સંતોષ આપે તે,
3. જૈનેતરમાં એમને માન્ય અંગિકાસહસ્ર, રૈણુકાસહસ્ર આદિની અનેક દેવીઓની કૃતિઓ છે.

હવે પ્રસ્તુત ગ્રન્થના મૂલ મુદ્દા પર આવીએ, જે કૃતિના કારણે ઉપરોક્ત ભૂમિકા ધાંધવી પડી તે કૃતિનું નામ છે 'સિદ્ધસહસ્રકોશ' જે અગાઉ જણાવી ગયો છું.

જિન સહસ્રનામોની કૃતિઓ જૈન સંઘ પાસે હતી એટલે ઉપાધ્યાયજીએ એકને એક ચીજમાં વધુ ઉમેરો કરવા કરતાં નવો વિષય પસંદ કરવાનું મુનાસિબ માન્યું અને એમનાં મનમાં (જિન અરિહંતની રચનાને છોડીને) સિદ્ધ ભગવાંતોના સહસ્રનામો રચવાની અભિનવ કલ્પના સ્કુરી અને તેને સાકાર બનાવીને આપણને સિદ્ધસહસ્ર નામની વિશિષ્ટ ભેટ આપી. એ ખરેખર ! ઉપાધ્યાયજીની ખુદ્દિ પ્રતિભાને આભારી છે.

જિનસહસ્રમાં જેવી નામોની રચના થાય છે તેવી તો આમાં ક્યાંથી થાય ? કેમ કે જિન તીર્થંકરોની તે વખતની ગુણવસ્થા જુદી છે. જિનો ત્યારે સદેહી છે. ઉપદેશની પ્રવૃત્તિ વગેરેથી સંકળાએલા હોય છે. અઘાતી ચાર કર્મો પણ બેઠાં હોય છે. ત્યારે સિદ્ધોને આમાનું કશું જ નથી હોતું. એટલે સ્વાભાવિક રીતે જ સકલ કર્મ રહિત બનેલા સિદ્ધોને જે ગુણો ઘટમાન થાય તે ગુણોનું નિર્માણ કરવું પડે અને એ રીતે જ નામસંગ્રહ થતો હોય છે. અલબત્ત આમાં જિન-સંગ્રહમાંના નામો મળશે ખરાં પણ તે થોડાંક.

૧૦૦૮ નામોના સંગ્રહ માટે સ્થાપિત ધોરણ મુજબ શતકનું ધોરણ રાખી દશ શતકો નિર્માણ કર્યાં છે. આ કૃતિ માટે સંપૂર્ણ અનુકૂળ ગણાતા અનુક્રુપ્ છંદની પસંદગી આપી છે. દરેક શતકમાં ૧૦૦ નામનો સુમેળ રાખ્યો છે. પણ સૌ નામ માટેના વિભાગોની સંખ્યા સમાન નથી. નામ દૂંકાક્ષરી હોય ત્યારે તે માટે ઓછા શ્લોકો રચવા પડે,

આથી દસ શતકમાં ૯ થી ૧૩ ની સંખ્યાના શ્લોકોનું ધોરણ છે. કર્તાએ પોતાને ઉપાધ્યાય નહિ માત્ર ગણિ તરીકે ઓળખાવ્યા છે. આ કૃતિ પૂ. આ. શ્રી દેવસૂરિજીના સામ્રાજ્યમાં રચી છે. એમના ભક્તજનના શ્રવણ માટે રચી છે. તેવું તેમને શતકના અન્તમાં જણાવ્યું છે.

સિદ્ધ એટલે શું ?

જેનો જે દેવને માને છે તે એ પ્રકારે છે. એક સાકાર અને બીજા નિરાકાર. એક કર્મ સહિત. એક કર્મ રહિત.

સાકાર એટલે દેહધારી હોય તે અવસ્થા. દેહધારી હોય ત્યારે જનકલ્યાણ માટે તેઓ અવિરત ઉપદેશની વર્ષા કરે છે. અને એજ સાકાર દેહધારી દેવ પોતાનું માનવદેહનું આયુષ્ય પૂર્ણ થતાં અવશેષ જે ચાર અઘાતી કર્મો હોય તેનો સર્વથા ક્ષય કરી સર્વાત્મપ્રદેશે નિષ્કર્મ બની, સકલ કર્મથી મુક્ત થતાં આત્માનું પોતાનું શાશ્વત જે સ્થાન મોક્ષ કે મુક્તિ જે અખળેના અખળે માઈલ દૂર છે ત્યાં આંખના એક જ પલકારામાં પસાર થતી અસંખ્યાતી ક્ષણો(-સમયો) પૈકીની માત્ર એક જ ક્ષણમાં પહોંચી જાય છે. ત્યાં અનાદી કાળથી જ્યોતિરૂપે અનંતાનંત આત્માઓ વિદ્યમાન છે. શાશ્વત નિયમ મુજબ એક આત્માની જ્યોતિમાં અનંતાનંત આત્માઓની જ્યોતિ સમાવિષ્ટ થતી જ રહે છે. (જેમ પ્રકાશમાં પ્રકાશ ભળતો રહે છે તેમ) ત્યાં નથી શરીર, નથી ધર, નથી ખાવાનું-પીવાનું, કોઈ ચીજ નથી, કોઈ ઉપાધિ નથી, એનું નામ જ મોક્ષ. મોક્ષનું બીજું નામ સિદ્ધ છે, શિવ-મુક્તિ નિર્વાણ વગેરે છે. આ મોક્ષ-સિદ્ધ સ્થાનમાં રહેનારા જીવો પણ સિદ્ધો જ કહેવાય અને સર્વકર્મ વિમુક્ત અતએવ સર્વ-

શુભસંપન્ન, સર્વોચ્ચ કૌટિએ પહોંચેલા આજ 'સિદ્ધાત્માઓને ઉપાધ્યાયજીએ વિધવિધ નામે સ્તવ્યા છે.

ખીજી વાત સ્પષ્ટ કરવી જરૂરી છે કે જિનસહસ્રમાંના 'સહસ્ર' શબ્દથી પૂરા એક હજાર જ ન સમજવા, પણ એક હજારને આઠ સમજવાના છે. પણ 'અષ્ટાધિક જિન સહસ્ર' આવું નામકરણ ખરોખર ન લાગે એટલે અન્યના નામકરણમાં સહસ્રનો પૂર્ણાંક રાખ્યો છે, અને તે ઉચિત છે.

માનવની પ્રવૃત્તિ હંમેશાં ફલોદેશ્યક હોય છે. પ્રવૃત્તિનું સારું ફળ મળશે એવું લાગે તો શ્રદ્ધાપૂર્વક પ્રવૃત્તિ કરે, ન લાગે તો ન કરે. કહાચ કરે તો એ મન વિના. એટલે પ્રશ્ન એ થાય છે કે નામસહસ્રનો પાઠ કરવાથી શું લાભ થાય ? આનો જવાબ એ કે નામાવલિના રચયિતાઓએતો નામ-સ્તવ કરનારો આત્મા, તીર્થકર નામકર્મ એટલે ઈશ્વર જનવા સુધીનું પુણ્ય ધાંધી શકે એટલી હદ સુધીનો મહિમા ગાયો છે. એ પ્રાપ્ત થાય એ દરમિયાન-વચગાળાઓની અવસ્થા-ઓમાં આ સહસ્રનામોનો પાઠ કરવાથી શુભની અને પરમ શાંતિની પ્રાપ્તિ, પાપોનો નાશ, અભીષ્ટ સિદ્ધિ અને સર્વ દુઃખોથી મુક્તિ વગેરે લાભો મળે છે.'

ઉપાધ્યાયજી મહારાજે પણ સિદ્ધોને નમસ્કાર કરવાથી

૧. ઉપાધ્યાયજીએ સિદ્ધોને ગુજરાતી ભાષામાં પણ સ્તવ્યા છે. જેનું નામ સિદ્ધસહસ્ર નામ વર્ણન છંદ' રાખ્યું છે. જે ગુર્જર સાહિત્ય સંગ્રહ ભાગ એકમાં મુદ્રિત થયેલ છે. યદ્યપિ ઉપલબ્ધ આ કૃતિમાં નામો ઘણાં ઓછાં છે.
૨. સ્તુવન્તઃ.... પ્રાણુયુર્માનવાઃ શુભમ્ । (વિષ્ણુસહસ્ર)
-સર્વવિધનૈકહરણં સર્વકામફલપ્રદમ્ (ગણેશસહસ્ર)
-પરમં શં પ્રશાસ્મહે । (મહાપુરાણ ૨૫ । ૯૯)

ગૌણરૂઢ તરીકે ઋદ્ધિ-સિદ્ધિની પ્રાપ્તિ અને મુખ્ય રૂઢ તરીકે મહોદય પ્રાપ્તિ-મુક્તિની પ્રાપ્તિ જણાવ્યું છે.

મુક્તિનું જ બીજું નામ મહોદય છે. ઉદય શબ્દ તેા સંસારવર્તી ઉન્નતિમાં લાગુ પડે છે, પણ મહાન ઉદય (શબ્દના યથાર્થ સ્વરૂપમાં મહોદય) સૃષ્ટિ ઉપર થતો જ નથી. એ તેા મોક્ષમાં જ પહોંચાય ત્યાં જ તે અનુભવાય છે. આ દર્શાવ્યું સિદ્ધોને પ્રણિપાત નમસ્કાર કરવાનું રૂઢ.

સ્મરણનું રૂઢ શું ? તેા ઉપાધ્યાયજીએ કહ્યું કે મંગલ નહિ પણ પરમ મંગલ. મંગલ એટલે પાપનો-વિપ્લનો નાશ. વળી સ્વર્ગલોકની પ્રાપ્તિ અને તેના સર્વોત્તમ રૂલમાં સિદ્ધ-સ્થાનની પ્રાપ્તિ. તાત્પર્ય એ કે આ સ્તવના ભુક્તિ મુક્તિપ્રદા છે. એટલે બાહ્ય-આભ્યંતર બન્ને પ્રકારના સુખોને આપનારી છે.

અહીં ચર્યાને માટે અવકાશ નથી. પરંતુ એકાંગી, અને નિશ્ચયનયવાદી બનીને ધર્મારાધન કે ભક્તિના રૂઢ તરીકે માત્ર મુક્તિને જ જણાવવી જોઈએ એવો આગ્રહ રાખનાર ભુક્તિ શબ્દ તરફ નજર કરે.

આ ઉપરથી કેટલાક વાચકોને એમ થાય કે સ્તવનું મહત્વ વધારવા ખાતર જ આવા પ્રલોભનો ખતાવાતાં હોય છે. એવું તેા નથી ને ?

આનો જવાબ વિશેષ વિવેચન કર્યા વિના જ જૈન-અજૈન વિક્ષાનોએ પોતાના અનુભવની જે વાર્તા-વાણી જે શ્લોકોમાં ઉતારી છે. તે જ શ્લોકો તેના અર્થ સાથે અહીં ઉદ્ધૃત કરે છે.

જેમને આ સિદ્ધકોશની રચના કરી એજ મહર્ષિની વાણી એક શ્લોકમાં રજૂ કરે છે. ભક્તિ. માર્ગ શું છે તે જણાવતાં કહે છે કે :—

શ્રુતાબ્દેઃ ધવગાહનાત્ સારાઽસારસમુદ્ધૃતઃ ।

મક્તિર્માગવતી વીજં પરમાનન્દસમ્પદામ્ ॥૧॥

અર્થ— આગમ શાસ્ત્રોના સાગરમાં ડૂબકી મારી અને સાર મેં એ મેળવ્યો છે કે-પરમાનંદ રૂપ મોક્ષસ્થાનની પ્રાપ્તિ કરવી હોય તો તમો સહુ પવિત્ર એવી ભગવાનની ભક્તિનું આલંબન લઈ લો.

અજ્ઞેનોમાં પણ આના જેવા જ લાવને વ્યક્ત કરતો શ્લોક જૂઓ :—

અલોહ્ય સર્વશાસ્ત્રાણિ વિચાર્ય ચ પુનઃ પુનઃ ।

ઇદમેકં સુનિષ્પન્નં ધ્યેયો નારાયણો હરિઃ ॥૧॥

અર્થ— સર્વશાસ્ત્રોનું વાંચન-મનન કર્યું, પછી તે શાસ્ત્ર વચનો પર વારંવાર ચિંતન કર્યું, પણ સરવાળે તો મને એક જ સાર મળ્યો છે કે-આ વિશ્વની અંદર પરમાત્મા એ એક જ ધ્યાનને લાયક કે પ્રાપ્ત કરવાને લાયક છે.

મનોવૈજ્ઞાનિક દષ્ટિએ વિચારીએ તો માનવ સ્વભાવને સરળ અને સહજ સાધ્ય માર્ગ વધુ ગમતો હોય છે. ભક્તિ માર્ગ અમીર કે ગરીબ, શિક્ષિત કે અશિક્ષિત, બાળ કે વૃદ્ધ સહુને માટે લાભકર્તા હોય છે વિવિધ પ્રકારના ભક્તિમાર્ગનું શરણું દિવ્યપ્રકાશ આપી અંતિમ આત્મસિદ્ધિ પ્રાપ્ત કરાવે છે.

ખીબ બધા સાધનાના માર્ગો કપરા છે. દુર્ગમ છે. કષ્ટ સાધ્ય છે. બુદ્ધિ હોય તો સમજી શકાય તેવા છે અને દીર્ઘ સમય માગે તેવા છે. સામાન્ય કક્ષાના જીવો માટે એ સુસાધ્ય નથી. માટે તો એક અજ્ઞેન કવિએ સારભૂત નવનીત આપતાં

૧. આવશ્યક સત્રોમાં, સ્તોત્રો સ્તુતિઓ શાંતિપાઠોમાં તો ભૌતિક લાભોની વાતો પાર વિનાની જણાવી છે.

કહ્યું છે—“ પુરાણ કો પાર નહિ, વેદન કો અન્ત નહિ; વાણી તો અપાર કહી, કહાં ચિત દીજ્યએ; સામન કો સાર એક, રામનામ રામનામ લીજ્યએ.”

એટલે સહુ કેઈએ, આખાલવૃદ્ધો માટેનો રાજમાર્ગ ઈશ્વર-પ્રભુ-ભગવદ્ સ્મરણ જ ળતાવ્યો છે. કારણ કે ઈશ્વરનું સ્મરણ હૃદયની અન્થીઓને લેદી નાંખવામાં અણેડ કામ કરે છે. શાકાહાર્યાન્તર દુઃખ, અશાંતિને ભગાડી મૂકે છે. અતૃપ્તિથી બરેલા જીવનમાં જીવ ન્પરમતૃપ્તિ અને દુઃખ દાવાણ્ણમાં જલતાને પરમશાંતિ કરાવે છે.

આ નામોનો જાપ પણ કરી શકાય છે અને એથી આ પુસ્તકમાં અન્તમાં આપેલા પરિશિષ્ટમાં ચતુર્થી વિભક્તિમાં તમામ નામ આપીને અન્તમાં નમઃ શબ્દ જોડીને તમામ નામો છાપ્યાં છે. જેથી દરેક પદ જાપને યોગ્ય જનાવી આપ્યું છે. આથી આના પ્રેમીઓને રેડીમેડ માલંથી જરૂર આનંદ થશે જ.

ઘણાં નામો અર્થની દષ્ટિએ આનંદ આપે તેવાં છે. આની જો કોઈ ટીકા રચે તો એની ખૂબીઓનું દર્શન જાણવા મલે.

ચાલો ત્યારે આપણે સહુ, સર્વશુભસંપન્ન, પુરૂષોત્તમ, સુર્વોત્તમ, સર્વોચ્ચ કોટિના આત્માઓની નામ ગંગામાં ડુબકી મારવાનો સંકલ્પ કરીને મન-આત્મા અને તનના મેલોને ઘેતા રહીએ.

આ ત્રણેય પ્રકાશનમાં મતિદોષ, દષ્ટિદોષ અને પ્રેસ-દોષની ક્ષતિ રહી અર્થ હોય તે માટે અન્થકાર પાસે ક્ષમા.

જૈન સાહિત્ય મંદિર	} આસો સુદિ-પૂર્ણિમા
પાલીતાણા તા. ૧૧-૧૦-૭૬	

૧ ભગવાન-શ્રી નેમિનાથજીનું સ્તવન

નોંધ:—વિ. સં. ૧૭૧૩ પૂઠ ઉપાધ્યાયજી મહારાજે મહેસાણામાં ચોમાસું રહીને રચેલું સ્તવન અહીં પ્રથમવાર જ પ્રગટ થાય છે.

સદ્ગુરૂના પ્રણુમી પાય, યુષ્ણસું શ્રી યદુપતિરાય;
 ઉલટ અધિકે રહ્યો થાય, રે! સામલિઆં ૧
 કરનેડી રાજુલ ખોલઈ, અષ્ટભવની પ્રીતિ જ ખોલઈ;
 નવમઈ ભવિ કાં ઉમડોલઈ, રે! સામલિઆં ૨
 પૂરવલી પ્રીતિ સંભારો; તુમ્હ દરિસણુ લાગઈ પ્યારો;
 કિમ રાખો નેહ ઉધારો, રે! સામલિઆં ૩
 કંત અજણુ હોઈ તેહનીં કહીઈ, નેહ કીજઈ તો નિરવહીઈ,
 ડૂંર-ઉઈ એકમડા ન રહીઈ, રે! સામલિઆં ૪
 આવી પાવ સરતિ સુખકારા દીસઈ છઈ અતિ મનોહાર;
 બાપઈ એ કરઈ પુકારા, રે! સામલિઆં ૫
 પંથી સમહીં ધરિ આવઈ, કંદર્પ તે અધિક જગાવઈ;
 એક નિકુર નેમ ન આવઈ, રે! સામલિઆં ૬
 સખિ! શ્રાવણુ માસ તે આયો, અંગિં મુઝ મદન જગાયો;
 વિરહીનઈ અતિ દુઃખદાયો, રે! સામલિઆં ૭
 ઝિરમિર વરસઈ છઈ મેહ, તાપઈ મુજ દાઝઈ દેહ;
 એણી અતિ સાલઈ સનેહ, રે! સામલિઆં ૮
 આંચો તે આસો માસ, આવો એણુઈ આવાસ;
 પૂરોનિં મુઝ મન આસ, રે! સામલિઆં ૯
 ભાદવદઈ લોગ મ છોરો, અબલાસું કાંમ ન ચોરો;
 તુમ્હ સાથિ કિસ્થો ચાલઈ જોરો રે! સામલિઆં ૧૦

૧. આ સ્તવનનું હસ્તલિખત પાનું મલી આવતાં તેની નકલ કરી અહિં પ્રસિદ્ધ કર્યું છે. ઉપાધ્યાયજીનાં સ્તવનો હવુ પણ છુટક હસ્તપાનાંઓ કે ગુદકાઓ દ્વારા મળવા જોઈએ.

તુઝ વિષ્ણુ ત્રિશિ નિંદ ન આવઈ, મુઝ અન્ન ન ભાવઈ;
 દોહિલા તુઝ વિષ્ણુ દિન જાવઈ, રે ! સામલિઆ૦ ૧૧
 પ્રેમઈ પૂરી યોલઈં નારી, યોવન કાં જાઓ હારી;
 જુઓ હઈંડઈં કંથ વિચારી, રે ! સામલિઆ૦ ૧૨
 કુણુ આગલિ દુકખ કહીજઈ, યોવનરો લાહો લીજઈ;
 જિમ દુઃખ સઘલાં તે છીજઈ, રે ! સામલિઆ૦ ૧૩
 સખિ ! જાઈ મનાવો એકાંત, વેગિં તેડી આવો કંત;
 જિમ વિરહનો થાઈ અંત, રે ! સામલિઆ૦ ૧૪
 આવી રૂડી એ ચિત્રશાલી, નેહઈં નિજ રિજુઓ નિહાર;
 એહવી સેજ કાં મૂકો સુંહાલી, રે ! સામલિઆ૦ ૧૫
 નાહલિઓ વેગિ મનાવો, જોરઈં હાથ ગ્રહી ઝાલી લાવો;
 ધણુ મૂંઝી નિરધાર કાં જાવો, રે ! સામલિઆ૦ ૧૬
 એહવા રાજુલ વચન યોલંતી પ્રિઉનું તે ધ્યાન ધરંતી;
 જિરનારી ચઢી વિલવંતી, રે ! સામલિઆ૦ ૧૭
 સામી મુઝ સુષ્ટિ એક વાત, એસી છઈં તુમારી ઘાત (?)
 માની વચન શિવાદેવી જાત, રે ! સામલિઆ૦ ૧૮
 નેમ હાથિં સંયમ લેઈ અવિહડ તખ પ્રીતિ કરેઈ;
 શિવપુર પિઉપહિલી પુહચેઈ, રે ! સામલિઆ૦ ૧૯
 નેમ યુષ્ટિઓ મન ઉલ્લાસ, મહીસાણુઈં રહીઅ ચઉમાસ;
 પૂગી છઈં મુઝ મનિ આસ, રે ! સામલિઆ૦ ૨૦
 સંવત સતર તેર વરસિં, કાર્તિક સુદિ પંચમી દિવસિં;
 તવન કરિઉં મન હરખિં, રે ! સામલિઆ૦ ૨૧
 પંડિત શ્રી નયવિજયઈંશ, શ્રી જસવિજય તેહનો સીસ;
 સીસ તત્વ દિઈ આસીસ, રે ! સામલિઆ૦ ૨૨

इति श्रीनेमिजिनस्तवनं संपूर्णम् ।

ॐ आदीश्वराय नमः

नमो लोए सव्वसाहूणं ।

आर्षभीयचरित तथा विजयोल्लास

दोनों महाकाव्य एवं उनके सम्बन्ध में संक्षिप्त कथनीय

वि० सं० २००६ तथा ई० सं० १९५३ के^१ वर्ष में मेरी मातृभूमि-जन्मभूमि और न्यायविशारद न्यायाचार्य महोपाध्याय श्रीमद् यशोविजयजी महाराजश्री की स्वर्गवास भूमि 'डभोई' [दभाविती] नगरी में, पू० स्व० उ० श्रीयशोविजयजी की नवीन भव्य देहरी तथा गुरुमूर्ति की प्रतिष्ठा के प्रसंग पर, साथ ही साथ महोपाध्यायजी के जीवन और कवन से जैन-अजैन विद्वान् एवं प्रजा को परिचित कराने के लिए 'श्रीयशोविजय सारस्वत सत्र' नाम से एक सत्रोत्सव भी आयोजित करने का निर्णय किया। पूज्यपाद चार आचार्यों की अध्यक्षता में प्रातः और मध्याह्न में सार्वजनिक सभाएँ होती थीं, पूज्यपाद गुरुदेवों के वक्तव्यों के साथ ही देश के विविध भागों से आये हुए अनेक विद्वानों ने पूज्य उपाध्यायजी के 'जीवन तथा कवन' विषय पर अध्ययनपूर्ण मननीय प्रकाश डाला था। सभा में प्रायः पाँच हजार जनता की उपस्थिति थी। यह एक अभूतपूर्व प्रसंग था। मुख्यरूप से गुजरात की जनता को गुजरात के एक महान् धर्मसंपूत को परिचित कराने के लिये किया गया यह प्रयास इस सत्र के द्वारा, तथा शासकीय तन्त्र एवं उसके प्रचार साधनों के सुन्दर सहयोग से, साथ ही समाचार पत्रों के उत्साह से सफलता को प्राप्त हुआ था और मेरा उद्देश्य सफल होने से मुझे उसका अवर्णनीय एवं अपार आनन्द हुआ था।

१. यह उत्सव फाल्गुन कृष्णा (गुजराती) द्वितीया से फाल्गुन कृष्णा अष्टमी तक हुआ था। इसी में सारस्वत-सत्र सप्तमी और अष्टमी दि० ७-३-५३ एवं ८-३-५३ को दो दिन आयोजित था।

किया गया संकल्प--

इस सत्र की बैठक के मेरे प्रवचन के अन्त में मैंने एक संकल्प सभी के समक्ष प्रकट किया था कि, "उपाध्यायजी भगवन्त की अनुपलब्ध कृतियों को उपलब्ध करने के लिए मैं सभी सम्भव प्रयत्न करूंगा। तदनन्तर प्राप्त कृतियों की प्रेसकापी करके अथवा करवाकर उनका संशोधन-पूर्वक आधुनिक पद्धति से सम्पादन करके मुद्रित करवाकर प्रकाशित कराऊंगा।

इसके बाद का कार्य, मुद्रित किन्तु अनुपलब्ध बने हुए ग्रन्थ, जो बहुत आवश्यक होंगे उनका पुनर्मुद्रण कराने की व्यवस्था करूंगा और तदनन्तर भाषान्तर के योग्य जो कृतियाँ होंगी उनका भाषान्तर करके प्रकाशित कराना, इसके पश्चात् उपाध्यायजी के जीवन-कर्वन पर अध्ययन-पूर्वक एक निबन्ध लिखना आदि होगा।"

परमपूज्य आगम-प्रभाकर पू० मुनिप्रवर श्री पुण्यविजयजी महाराज इस सत्र की योजना से अत्यन्त प्रसन्न हुए थे और उसके पश्चात् जब मैं उनसे मिला तब उन्होंने मुझे अगणित अभिनन्दन देते हुए अपनी अपार प्रसन्नता अभिव्यक्त की थी। तदनन्तर हम साथ भी रहे एवं संकल्पानुसार अभिनव कृतियों के लिए प्रयास आरम्भ किये, अन्य मित्रों ने भी प्रयास किये। कुछ कृतियाँ प्राप्त हुईं। अहमदाबाद के 'देवशाना पाडा' में स्थित भण्डार का पुनरुद्धार करने में पू० पुण्यविजयजी महाराज के साथ मैं भी था। वहाँ से भी उपाध्यायजी के स्व-हस्ताक्षरों में ही उनके द्वारा रचित कृतियाँ उचित मात्रा में उपलब्ध हुईं। इस उपलब्धि में सब से अधिक सहयोग पूज्य पुण्यविजयजी महाराज का था, जो कि मेरे प्रति अनन्य पक्षपात रखते थे। इसके पश्चात् मेरी प्रार्थना पर ही उन्होंने सुन्दर सुवाच्य प्रेसकापी करनेवाले धर्मात्मा श्रीनगीनदास केवलचन्द द्वारा कतिपय प्रेसकापियाँ भी करवा दीं तथा अपने द्वारा की हुई प्रेसकापियाँ भी मुझे दीं। तत्पश्चात् उनके संशोधन, सम्पादन एवं मुद्रणादि के कार्य उत्साह से आरम्भ किये गये और उसके परिणामस्वरूप आज 'यशोभारती' का यह नौवां पुष्प प्रकाशित होने से किये गये संकल्प के किनारे के पास पहुँच गया हूँ। और एक-दो वर्ष में किनारे पर उतर भी जाऊंगा एवं किये गये संकल्प अथवा ली गई मानसिक प्रतिज्ञा की पूर्णाहुति होने पर जीवन

में एक विशिष्ट वाङ्मय की सेवा कर लेने का एक हार्दिक सन्तोष प्राप्त करूंगा ।

आज तक प्रकाशित कृतियों के बारे में—

आज तक 'यशोभारती जैन संस्था' की ओर से पू० उपाध्यायजी भगवान् की पन्द्रह कृतियां जो प्रकाशित हो चुकी हैं, उनकी सूची इस प्रकार है—

१. ऐन्द्रस्तुति, स्वोपज्ञ-स्वरचित टीका, भाषान्तर सहित ।
२. वैराग्यरति (मूलमात्र) ।
३. स्तोत्रावली सस्कृतकृति, हिन्दी भाषान्तर सहित (स्तुति; स्तोत्र-पत्रादि)
४. काव्यप्रकाश २, ३ उल्लास की टीका, हिन्दी भाषान्तर सहित ।
५. स्याद्वाद-रहस्य बृहद् टीका ।
६. स्याद्वाद-रहस्य मध्यम टीका ।
७. स्याद्वाद-रहस्य जघन्य टीका ।
८. तिङन्वयोक्ति [प्रारम्भ मात्र] ।
९. आत्मछयाति
१०. प्रमेयमाला
११. वादमाला द्वितीया
१२. वादमाला तृतीया
१३. विषयतावाद
१४. वायूभादेः प्रत्यक्षाप्रत्यक्षविवादरहस्यम्
१५. न्यायसिद्धान्तमञ्जरी (केवल शब्दखण्ड की टीका)

वाङ्मय क्रिये हुए छह ग्रन्थों में तथा सातवें क्रमांक के पुष्प तक छोटी-बड़ी उपर्युक्त १५ कृतियां छप चुकी हैं । तीसरे पुष्प के रूप में 'यशोदोहन' छपा है जिसमें उपाध्याय जी के सभी उपलब्ध ग्रन्थों का परिचय है । आरम्भ की चार पुष्परूप कृतियां स्वतन्त्र एक-एक ग्रन्थ के रूप में तथा छठा पुष्प चार कृतियों से और सातवां पुष्प छह कृतियों से संयुक्त है ।

आज आठवें पुष्प के रूप में उपाध्यायजी की तीन कृतियों का संयुक्त

प्रकाशन हो रहा है। उपर्युक्त १५ में तीन जोड़ने से कुल १८ कृतियां 'यशो-भारती जैन ग्रन्थ प्रकाशन संस्था' प्रकाशित कर रही है, इनमें 'पन्द्रह कृतियां तो पहली बार ही प्रकाशित हुई हैं। शेष दो 'ऐन्द्रस्तुति' और कतिपय स्तोत्रों-वाली 'स्तोत्रावली' पहले अन्य स्थानों से प्रकाशित हुई थीं। इतना होते हुए भी प्रस्तुत दोनों प्रकाशन अपूर्ण थे। इसलिये संशोधन-परिवर्धन के साथ नई कृतियों के संयोजन-पूर्वक उनका हिन्दी अनुवाद सहित विशिष्टपद्धति से प्रकाशन हुआ है।

अब '१०८ बोल, अठार सहसशीलांग रथ, श्रद्धानजल्पकल्पलता, कूपदृष्टान्त, विचारबिन्दु तथा तेरकाठिया'—ये छह कृतियां प्रकाशित होने वाली हैं, तब कुल २४ कृतियां प्रकाशित हो जाएंगी। कार्य चल रहा है।

अब प्रस्तुत ग्रन्थ के सम्बन्ध में—

आज उपाध्यायजी की स्वकृति के रूप में आठवां प्रकाशन हो रहा है। यशोभारती संस्था की ओर से यह आठवां प्रकाशन उपाध्यायजी की तीन कृतियों से संयुक्त है इसलिये इस पर तीन नाम^१ छपाये गये हैं।

इन तीनों कृतियों का परिचय विद्वद्गुरु, प्रखर साहित्यकार, डॉ० रुद्रदेवजी त्रिपाठी ने इसी ग्रन्थ में दिया है, वह देख लें। शेष जो कहना रहता है वह कहता हूं।

इन तीनों कृतियों का रचना-परिमाण बहुत थोड़ा होने से प्रत्येक की पृथक्-पृथक् पुस्तिका को जन्म देना यह जानबूझकर निर्बल बालकों की जमात को जन्म देने जैसा प्रतीत हो और वह अदर्शनीय बन जाए, इसका कोई महत्त्व न रहे। पुस्तक का कलेवर पुष्ट बने, इस दृष्टि से यह संयुक्त प्रकाशन निश्चित किया गया। आकार बढ़े, इसके लिए १/१६ क्राउन की साइज पसन्द की गई। इससे पुस्तक का आकार बढ़ा।

१. पुस्तकालयों की सूची बनाने वालों को, इस पुस्तक की तीनों कृतियों का उन-उन अक्षर विभागों में पृथक्-पृथक् नामाङ्कन करना चाहिए, जिससे ये शीघ्र प्राप्त हो सकें।

प्रारम्भ की दो कृतियाँ चरित्ररूप हैं। दोनों कृतियाँ काव्यात्मक हैं। ये दोनों काव्य^१ महाकाव्यों की पंक्ति में खड़े रहें ऐसे हैं। एक का नाम 'आर्षभीय' और दूसरे का नाम है 'विजयोत्लास'। दोनों को कुछ ऐतिहासिक भी कहा जा सकता है। आर्षभीय काव्य अधिकांशरूप में द्व्यर्थक काव्य है। अर्थात् एक श्लोक के दो प्रकार के भिन्न-भिन्न अर्थों को व्यक्त करता है।

ये दो कृतियाँ काव्य की हैं। काव्य के विषय पर बहुत-बहुत लिखा जा सकता है। जैन साहित्य-काव्य पर अनेक विद्वानों ने यथोचित लिखा है। इतना होने पर भी मेरे ज्ञानविकास के लिये तथा कतिपय अस्पृष्ट बातों को लक्ष्य में रखकर काव्य के पक्ष में कुछ लिखा जा सकता है। जिसमें—जैनधर्म में काव्य-परम्परा का क्या स्थान था? इस परम्परा में केवल साधु-समुदाय ही ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र सम्हालते रहे हैं, तो गृहस्थ (आरम्भ के अपवादों को छोड़कर) किस लिये विद्या से अस्पृष्ट रहे और आज हैं? जैन-अजैन काव्यों के बीच तुलनात्मक समीक्षा। जैनधर्म में स्वतन्त्र प्रतिभा रखने वाले काव्य हैं क्या? अनुशासक अथवा उपजीव्य कृतियाँ कौन-सी हैं? स्वतन्त्र एवं उपजीव्य में अधिक मात्रा किसकी है? काव्य में रुचि न हो किन्तु इसका पूर्ण विराम जैन-अजैन दोनों में समान बिन्दु पर था अथवा असमान? इनका पर्यवसान किस रस में होता था और जैनधर्म की इस मूलभूत विशेषता, अन्तिम ध्येय अथवा अन्तिम लक्ष्य की निरन्तरता का कवियों ने किस प्रकार संरक्षण किया? इसके अतिरिक्त शताब्दी क्रम से काव्य की रचना कौन-कौन सी हुई और उनसे सम्बद्ध आवश्यक बातों की यथाशक्ति-यथामति^२ रूपरेखा देने की तीव्र इच्छा थी परन्तु आजकल की शारीरिक, मानसिक अथवा मस्तिष्क की प्रतिकूल परिस्थिति और अन्य साधनाक्रम चलता रहने के कारण आज यह सब लिखा जा सके ऐसी स्थिति नहीं है, किन्तु इससे इसका दुःख अवश्य है।

१. सर्जन की आश्चर्यपूर्ण धूनी जगाने वाले उपाध्यायजी की सर्जन-समृद्धि और उसके पीछे उनका अप्रमत्तभाव देखते हुए प्रत्येक का सिर झुक जाए जैसा है।

दुर्भाग्य की बात यह है कि ये दोनों कृतियाँ^१ अपूर्ण प्राप्त हुई हैं ।

प्रथम कृति का 'आर्षभीय' नाम पाठकों को अपरिचित-सा लगेगा । ऐसे नाम की प्रसिद्धि भी कहीं देखने में नहीं आयी है । सामान्य पाठक को विचार आ सकता है कि आर्षभीय का तात्पर्य क्या होगा ? व्याकरण के नियम से 'ऋषभस्य इवं आर्षभीयम्' ऋषभदेव सम्बन्धी जो हो, वह आर्षभीय तथा यह चरित्र है इसलिये ऋषभ का जो चरित वह आर्षभीयचरित कहलाता है ।

पहले तीर्थङ्कर का उनके माता-पिता द्वारा सान्त्वक नाम^२ ऋषभ था । ऋषभ ईश्वर बने तब सभी के नाथ-स्वामी बने ऐसा कहा गया, किन्तु उच्चारण की थोड़ी सी असरलता के कारण अथवा किसी अन्य चाहे जिस कारण से ऋषभ नाम के स्थान पर आदि भगवान् होने से^३ आदिनाथ-आदीश्वर इस नाम को पर्याप्त प्रसिद्धि मिली है । अजैन ग्रन्थ वेद-पुराणादिक में ऋषभ तथा आदिनाथ दोनों नामों का उल्लेख हुआ है ।

ऋषभदेव की महिमा जब इस देश में उत्कृष्ट हुई होगी तब अजैन धार्मिक अग्रणियों ने जैनों के प्रथम तीर्थङ्कर को अपने ईश्वरी अवतार में समाविष्ट करने का विचार-निर्णय किया, उस समय उन्होंने चौबीस में से किसी अन्य को न चुनते हुए बुद्धिकौशल का उपयोग करके इन पहले तीर्थङ्कर को चुनकर इन्हें अवतार में स्थापित कर दिया । और उन्होंने अवताररूप नामों में 'ऋषभ' नाम ही पसन्द किया तथा ऋषभ को अवतार के रूप में घोषित कर

१. कृतियाँ अपूर्ण क्यों रही होंगी ? यह प्रश्नार्थक ही रहेगा ?
२. साधना करनेवाले के लिए तो ऋषभ नाम का उपयोग लाभप्रद है ।
३. कल्पसूत्र ग्रन्थ में भगवान् का पांच विशेषणों से परिचय दिया है—
उसभ, पढमोराया, पढमभिक्खायरे, पढमजिणे तथा पढमतिथिंकरे ।
उसभ—ऋषभ, प्रथम राजा, प्रथम भिक्षाचर-साधु, आदि वीतराग एवं आदि तीर्थङ्कर । आज कोई प्रश्न करे कि इस युग के आदि राजा, साधु, पहले वीतराग और आदि तीर्थङ्कर कौन हैं तो उत्तर होगा 'ऋषभदेव' ।

दिया। साथ ही भागवत-पुराण में दिये गये अवतारों के वर्णन में इनका^१ जीवन-चरित्र भी जोड़ दिया। इस प्रकार बलपूर्वक जैनतीर्थङ्कर ऋषभ^२, ऋषभवातार के रूप में अजैन विभाग में मान्य, वन्दनीय एवं पूजनीय बन गये।

भाषान्तर के सम्बन्ध में—

भारतीय संस्कृति की आत्मा प्राकृत भाषा में जोवित है उसी प्रकार आर्य-कुल में मानी जाने वाली संस्कृतभाषा में भी जी रही है। यह भाषा हजारों वर्षों से इस देश में सर्वत्र फैली हुई है क्योंकि इस भाषा को नियमबद्ध बनाया गया है यही कारण है कि इसके लिये देश काल की सीमाएँ बाधक नहीं हुईं। जबकि दूसरी लोकभाषा-प्राकृत भाषा के लिए 'वारह कोस पर बोली बदल जाती है' ऐसी स्थिति थी। व्यवहार की भाषा व्याकरणशास्त्र से सुसंस्कृत अर्थात् नियमबद्ध होने से संस्कृतभाषा उत्पन्न हुई, इससे इस देश का कोई भी व्यक्ति इसे सीख सके ऐसी परिस्थिति निर्मित हुई। इसीलिए इस भाषा में समस्त दर्शनकारों ने अपने साहित्य की विपुल रचनाएँ की हैं। भारतीय संस्कृति की आत्मा को एकता के सूत्र में बांधने तथा विविधता में एकता का अनुभव कराने में इस भाषा का योग बहुत अच्छा रहा है।

यद्यपि प्रत्येक धर्मशास्त्रकारों ने अपने मूलभूत शास्त्रों के लिए स्वतन्त्र भाषाएँ अपनाई हैं, जैसे कि जैनों ने प्राकृत, वैदिकों ने संस्कृत और बौद्धों ने पाली। इतना होते हुए भी धर्मशास्त्रों को समझाने के लिए जिस भाषा का मुक्त रूप से उपयोग हुआ है वह अधिकांशया संस्कृतभाषा का ही हुआ है। इसे समझाने के लिए निर्मित संस्कृत रचनाएँ सर्वत्र 'टीका' शब्द से पहचानी जाती हैं। इस प्रकार भारतीय संस्कृत की आत्मा भाषा में शब्द-बद्ध होकर ओतप्रोत हो गई। ऐसी व्यापक सर्वत्र समान समादर की पात्र बनी हुई भाषा के प्रति आज शनिदशा लगी हुई है। देवभाषा के नाम से ख्यातिप्राप्त इस भाषा के

१. देखो, भागवतपुराण।

२. ऋषभदेवावतार का चरित्र जैनों से कुछ भिन्न लगता है, जबकि अन्त में कुछ विचित्र विकृतियाँ देखने में आती हैं।

प्रति इसकी जन्मदात्री भूमि पर ही अभाव, अप्रीति, तिरस्कार तथा अति उपेक्षा के भाव प्रकट हो रहे हैं। विद्यार्थियों का व्यवहार देखकर किसी भी संस्कृतानुरागी भारतीय को दुःख एवं चिन्ता हुए बिना नहीं रहेगी।

चरित्र इसी भाषा में लिखे गए हैं। अतः जब इस भाषा का अनुवाद हो तभी उसका लाभ अधिक लोग प्राप्त कर सकते हैं। इसके लिए प्रयास किया गया किन्तु भाषान्तर करने वालों का दुष्काल, क्लिष्ट भाषा की रचना को भाषा में समझाने वाले कम हो गए हैं। साधु-श्रमणसंघ में भी संस्कृत-भाषा के प्रति आदर की न्यूनता है, इन समीकरणों से तत्काल भाषान्तर हो सके ऐसा सम्भव न होने से यहां नहीं दिया जा सका है। अतः इस ग्रंथ का उपयोग कितना होगा ? इसकी चिन्ता होते हुए भी, चिन्ता न करते हुए उपाध्यायजी की बहुत-सी अत्यन्त मूल्यवान् कृतियों काल के खप्पर में स्वाहा हो गईं वैसे ही स्थिति नवीन उपलब्ध कृतियों की न हो जाए और वे चिरञ्जीवी बनी रहें, इस उद्देश्य से संस्था प्रकाशन-कार्य कर रही है।

अब प्रतियों का परिचय प्राप्त करें।

आर्षभीय की प्रति का आवश्यक परिचय—

आर्षभीय—चरित की प्रति की लम्बाई पौने दस इंच एक डोरा, चौड़ाई साढ़े चार इंच दो डोरे है। पहले खाने में १३ तेरह पंक्तियां है। प्रारम्भ के पांच कोष्ठकों में एक इंच में चार-से-पांच तक आजाएँ ऐसे बड़े अक्षर लिखे गए हैं। इसके बाद अक्षर छोटे होते जाते हैं। प्रत्येक पत्र में पंक्तियों की संख्या १४ से १६ तक पहुंचती है और अक्षरों की संख्या एक इंच में बढ़ती जाती है।

यह प्रति एक ही हाथ से लिखी गई हो ऐसा नहीं लगता। किन्तु बाद का लेखन स्वयं उपाध्यायजी के अपने अक्षरों में हो, ऐसा ज्ञात होता है। प्रति की स्थिति अच्छी है। इसकी एक ही प्रतिलिपि प्राप्त हुई है। लेखन काली श्याही से हुआ है। एक भक्तजन की प्रार्थना पर उसे सुनाने के लिए यह रचना की गई है ऐसा लेखक ने बताया है। साथ ही अन्तिम पद्य में उन्होंने स्वयं को प्रिय

ऐसे श्री' शब्द का प्रयोग किया है।^२ आर्षभीयचरित से सम्बद्ध प्रति के बारे में आलोचना पूर्ण हुई । -

विजयोल्लास की प्रति आकार-प्रकार में प्रायः आर्षभीय जैसी ही है । शेष लिपि की बनावट और प्रति की स्थिति अच्छी है ।

इन दोनों काव्यों की नहीं अपितु महाकाव्यों की रचना देखते हुए एक नैयायिक भी कैसा सफल साहित्यकार बन सकता है यह देख कर **शिरसा मनसा मत्थरण वदामि** पूर्वक मस्तक झुक जाता है । आर्षभीय तथा विजयोल्लास इन दोनों काव्यों के बारे में मेरा जो कुछ कथनीय था वह यहां कह दिया है, अब 'सिद्धसहस्र' के सम्बन्ध में लिखता हूं

पालीताणा

जैन साहित्य मन्दिर

यशोदेवसूरि

आश्विन शु० पूर्णिमा

सं० २०३५

१. कतिपय प्राचीन ग्रंथकार ग्रंथ के अन्तिम श्लोक में—पूर्णाहुति में अपने व्यक्तित्व का सूचक कोई भी एक सांकेतिक शब्द रखते थे । उपाध्याय जी ने 'श्री' शब्द पर अपना अनुराग प्रकट किया था ।
२. इस चरित्र में श्लोक सं० १३२ में 'सार्धत्रयोदश सुवर्ण; १३। साढ़े तेरह करोड़ सोने की मुद्राओं की वृष्टि की बात नयी ही कही गई है । वैसे तो १२। साढ़े बारह करोड़ स्वर्ण मुद्राओं की वृष्टि की बात सर्वत्र आती है । विद्वान् विचार करें ।

सर्वविघ्नहरणाय श्रीलोढणपाश्वनाथाय नमः ।

सिद्धसहस्र की प्रस्तावना

सिद्धकोश अथवा सिद्धसहस्रनामप्रकरण इन दोनों नामों से पहचानी जाने वाली इस लघु कृति के बारे में जो कुछ कथयितव्य था वह बहुधा धर्मस्नेही श्रीअमृतलाल भाई ने लिख दिया है और वह इसी ग्रन्थ में मुद्रित करके प्रकट कर दिया है जिसे इसी पुस्तक के पृष्ठ ३६ से पढ़ लें, जिससे कृति का विस्तृत परिचय मिल जाएगा। जो शेष मुझे कहना है उसका यहां कथन करता हूं।

भारत में सहस्रनामों के द्वारा किसी भी इष्ट देव-देवी के विविध नामों द्वारा गुणोत्कीर्तन नामस्तवन-स्तुति करने की परम्परा^१ युगों पुरानी है। सबसे पहले अजैनों ने सहस्रनामों द्वारा ऐसी स्तुति-रचनाएँ कीं। तदनन्तर बौद्ध-जैनों ने भी कीं। जैनदर्शन में भी यह परम्परा अर्वाचीन नहीं है, प्राचीन मात्र नहीं, अपितु अतिप्राचीन-पुरानी प्रथा है।

उपलब्ध कृति के आधार पर कहे तो जैनसंघ में चौथी शताब्दी^२ से^३ जिनसहस्रनाम की कृति मिल जाने से १६०० वर्ष पूर्व यह थी ऐसा प्रमाणित

१. ऋग्वेद जितनी प्राचीन तो अवश्य ही है।

२. सहस्र रचना की अजैनों की सूची अतिदीर्घ होने से उदाहरणस्वरूप में ही कुछ नामों का यहाँ निर्देश करता हूँ। १—विष्णुसहस्र, गोपालसहस्र, गणेश, दत्तात्रेय, सूर्यनारायण, पुरुषोत्तम आदि के सहस्रनामों की रचना हुई है। देवियों में लक्ष्मी, रेणुका, पद्मावती के भी सहस्रनाम बने हैं।

३. 'जिन' शब्द का अर्थ—“जीतता है वह जिन है।” इतने से अर्थतृप्ति नहीं होती। अर्थ साकांक्ष रहता है। अतः प्रश्न होता है कि किसे जीते? तो उत्तर होगा आत्मा के रागद्वेषरूपी शत्रु को। इसे जीत लिया जाए तो आत्मा वीतराग बन जाए। जिन—वीतराग एक ही अर्थ के वाचक हैं। वीतराग हुए अर्थात् सर्वत्र समभाव वाले बन गये तभी सर्वगुणसम्पन्न बने।

होता है। किन्तु इससे पूर्व कोई कृति निर्मित हुई होगी क्या ? यह प्रश्न बना रहता है। यह कृति द्विगम्बरीय है।

ऐसी रचना शुष्क प्रतीत होती है। अतः इस दिशा में अत्यल्प व्यक्तियों ने लेखनी चलाई है। प्राप्त साधनों से अनुमान किया जा सकता है कि चौथी शताब्दी से दो हजार की शताब्दी तक जैन समाज में सहशनाम से अंकित कृतियां पन्द्रह से अधिक तो नहीं ही होंगी।

यह विषय ही ऐसा है कि जिसमें केवल नामों की ही रचना होती है। इसमें दूसरा कुछ कथनीय नहीं होता है। यद्यपि नाम-रचना का कार्य भी सरल नहीं है, इनमें भी कार्य-कारणभाव की व्यवस्थित तत्त्वव्यवस्था जिस दर्शन में हो, वहां शब्द निश्चित करने के लिये बहुत ही प्रतिभा और सावधानी की अपेक्षा हो, यह आवश्यक है। तथापि कुल मिला कर अन्य विषयों का जितना विस्तार हुआ है उसकी तुलना में इस दिशा का प्रयास छोटा कहा जा सकता है। यह एक अभिरुचि की-रस की बात है, अनिवार्य आवश्यकता की बात नहीं। तथापि हिन्दू परम्परा अथवा वैदिक क्षेत्र में स्पष्ट क्षेत्र जैनी क्षेत्र में अस्पष्ट रहे, इस क्षेत्र में जैनों की देन न हो यह एक स्वतन्त्र संस्कृति रखनेवाले जैन-संघ के लिये समुचित न होने से जैनमुनियों द्वारा किया गया यह प्रयास वस्तुतः जैनसंघ के लिये अत्यावश्यक तथा उपकारक माना जाये वैसे है।

जैन साधुओं की देश काल को पहचान कर समय के साथ ताल मिलाने की युगलक्ष्यी उदात्तभावना के परिणामस्वरूप त्याग तथा वैराग्य की नींव पर खड़े हुए जैनधर्म में भी बेजोड़ विषयों पर जैनाचार्यों-मुनियों ने विशाल सर्जन किया है। अनेक विषयों के क्षेत्र सींच दिये और फलस्वरूप जैन समाज को महान् संस्कृति की महान् धरोहर प्राप्त हुई। जिसके कारण आज जैन समाज अपनी इस विशाल ज्ञान-साहित्य-समृद्धि के कारण मस्तक उन्नत करके जीवन जी रहा है और विगत पच्चीस वर्षों में देश-विदेश में भी संशोधन के क्षेत्र में, जैन तत्त्वज्ञान ने और जैनग्रन्थों ने विद्वानों में भारी उत्साह तथा आतुरता जगा दी है।

जन्-सानस विविध संस्कारों से परिपूर्ण है। अनेक कम्प्यूटरों को लज्जित बना सके ऐसे अगाध, विशाल, व्यापक और विविध दृष्टियों को रखने वाले

मस्तिष्क को छोटे नहीं अपितु विशाल विचार, छोटी कल्पना नहीं अपितु विशाल कल्पनाएँ अधिक आकृष्ट कर सकती हैं। यह अतिज्ञानियों-बुद्धिशालियों के सम्बन्ध में सुपरिचित समझी जा सके ऐसी घटना है। छोटी आकृति की अपेक्षा बड़ी आकृति (नेत्र के स्तर से बड़ी) अधिक ध्यान आकृष्ट करती है। यह मानव चक्षु और मन का सरल गणित है। अल्पता की अपेक्षा (अच्छी बातों की) विशालता किसे अच्छी नहीं लगती ?

ऐसे मानसिक कारण से एक नाम की अपेक्षा अनेक नामों से, अनेक की अपेक्षा दस नामों से, दस की अपेक्षा अधिक करने से जब अधिक आनन्द का अनुभव किया कि मन आगे बढ़ा। दस में अधिक आनन्द आया तो सौ मैं तो आनन्द की लहरें उछलेंगी, ऐसी* किसी पुण्यभावना से शतकों की रचना हुई। तदनन्तर इससे सम्बद्ध लक्ष्मणरेखा लांघ जाने पर जीव सीधी छलांग लगा कर हजार, वास्तविक रूप में तो^१ १००८ नाम की रचना पर पहुंचा और इस इच्छा को सन्तुष्ट करने के लिये भगवान् को विविध रूप में कल्पित करने लगा। विविध गुणों से अलंकृत करना पड़ा। बुद्धि गहरे कार्य में लगाकर मन्थन किया, येनकेन प्रकारेण अनेक सान्त्वर्थक नाम बनाकर (छन्द के अनुकूल रहते हुए) सहस्रनाम की भव्य कृति को जन्म दिया अथवा कहिये कि जन्म मिला।

ऊपर जो कहा गया है वह 'मानव—स्वभाव को लक्ष्य में रखकर कहा गया है,' किन्तु इससे भी अधिक वास्तविक कारण यह ज्ञात होता है कि—'मन्त्र-शास्त्र का एक सर्वसामान्य नियम-परम्परा ऐसी है कि कार्य की सफलता के लिये किसी भी मन्त्र का जप कम-से-कम एक हजार प्रतिदिन होना चाहिए तभी उसकी फलश्रुति के कुछ दर्शन हों, प्रतिदिन एक सहस्र संख्या में जप होता जाए तो दीर्घकाल के पश्चात् जापक को अभूतपूर्व शक्ति का संचार, दर्शन तथा रहस्यों का कुछ अनुभव हुए बिना नहीं रहता। किन्तु इससे भी अधिक वास्त-

-
१. देखिये, शिल्प में क्या हुआ कि भगवान् श्री पार्श्वनाथ की मूर्ति में पांच-सात अथवा नौ फणों से सन्तोष नहीं हुआ, तब सीधा बढ़कर सहस्रफणा अर्थात् एक हजार सर्पमुख के आवरण वाली मूर्तियों का निर्माण होने लगा। ऐसा भी यहां सोचा जा सकता है।

विक यह प्रतीत होता है कि भगवान् के शारीरिक लक्षणों की संख्या^१ १००८ है। ऐसे अंक क्रो लक्ष्य में रखकर भगवान् के गुणों से निष्पन्न १००८ नामों के द्वारा स्तुति करने का सम्भवतः विचार बना हो !

ऊपर बतलाये गये कारणों को लक्ष्य में रखकर भी ऐसे सहस्र (१००८) नामों की कृतियां बनी हों तो यह सुसंगत बात है।

यद्यपि परमात्मा के गुण अनन्त हैं। अनन्त गुणों के अनन्त नाम भी बनाये जा सकते हैं, परन्तु मानव-बुद्धि से वह सम्भव नहीं है। अतः जो योग्य, भावोत्पादक, आकर्षक तथा उत्तम हों वैसे ही नामों का निर्माण करने की प्रथा है।

इस प्रकार की प्रथा जैन, वैदिक और बौद्ध तीनों ही संस्कृतियों में थी। ऐसी रचनाएँ मुख्यतया अपने-अपने इष्टदेवों और देवियों को केन्द्र मानकर निर्मित की जाती हैं।

स्तव-स्तवन अथवा स्तोत्र चार प्रकार के होते हैं। १. नाम-स्तव, २. स्थापना स्तव, ३. द्रव्य-स्तव तथा ४. भाव-स्तव। इस स्तवना में सर्वकाल के, सर्वक्षेत्र के तीर्थकरों-परमात्माओं को आर्वाजित कर लिया जाता है। जिससे किसी भी स्थान के किसी भी क्षेत्र स्थित ईश्वरीय व्यक्ति अस्तुत्य नहीं रह जाएं, तथा उससे परम मङ्गल—कल्याण की प्राप्ति हो।

सहस्रनामों की रचना अरिहन्तों—अर्हन्तों के अतिरिक्त वर्तमान चौबीसी के किसी भी तीर्थङ्कर को उद्देश करके की जा सकती है। किंतु इस चौबीसी में सहस्रनाम की रचना की जा सके अथवा प्राप्त हों, ऐसे भगवान् यदि कोई भी हों तो भगवान् पार्श्वनाथ हैं। इसलिए उनके नामों की स्तुति निर्मित हुई है, जिसका नाम 'पार्श्वनाथनाम-सहस्र' है। अरिहन्त से अधिक उच्च स्थान प्राप्त सिद्धात्माओं के सहस्रनाम की रचना उपाध्याय जी के अतिरिक्त किसी अन्य ने की हो ऐसा ज्ञात नहीं है, इसीलिए सहस्रनाम की रचना उपाध्याय जी तक अरिहन्तों को लक्ष्य में रखकर ही की जाती थी यह ध्यान में रखना चाहिये।

१. देखो महा० पु० पर्व २५, श्लोक ६६।

२. इन्हीं के द्वारा निर्मित 'आदिपुराण' के एक अंश-भाग के रूप में यह कृति है, किन्तु स्वतन्त्र रचना नहीं।

इस प्रथा का आदर श्वेताम्बर-दिगम्बर दोनों सम्प्रदायों में हुआ है। इसमें सहस्र की सबसे प्राचीन रचना श्वेताम्बर आचार्य श्रीसिद्धसेन दिवाकर जी की है और उसका समय चौथी शताब्दी का है। उसके पश्चात् प्रायः ५०० वर्ष के बाद विद्वान् दिगम्बर आचार्यश्रो ने 'जिनसहस्र' नामक स्तोत्र-स्तवन की रचना की। इस रचना का समय नौवीं शताब्दी का है।

परन्तु इसमें एक विवेक करना आवश्यक है कि दिवाकरजी की रचना में नाम भले ही एक हजार हों, किन्तु वे गद्यपद्धति से संगृहीत हुए हैं, पद्य श्लोक-रूप में नहीं हैं; और शैली का प्रकार भी भिन्न है। अतः वास्तविक रूप से श्लोकबद्ध पद्धति से निर्मित रचना सबसे पहली आचार्य श्रो जिनसेन की है। ऐसा प्राप्तसाधनों के देखने से कहा जा सकता है।

जिनसेन जी की कृति के पश्चात् प्रायः तीन सौ वर्षों के बाद (वि० सं० १२२६ में) कलिकाल सर्वज्ञ श्रीहेमचन्द्राचार्य जी ऐसी ही कृति हमें प्रदान करते हैं। केवल नाम में कुछ अन्तर करके 'अर्हन्-^१ नाम—सहस्रसमुच्चय' ऐसा नाम रख देते हैं। यद्यपि इस दृष्टि से अर्हन् अथवा जिन एक ही अर्थ के वाचक हैं जबकि इस कृति को 'जिनसहस्र' नाम से भी पहचाना जाता ही है।

जिन सहस्रनाम स्तोत्र अथवा अर्हन्नमस्कार स्तोत्र ऐसे नाम वाली अन्तिम मुद्रित कृति सत्रहवीं शताब्दी (सं० १७३१) की प्राप्त होती है। जिसके कर्ता उपाध्याय श्रीविनयविजयजी महाराज हैं। जिनसहस्र की रचनाएँ कुल सात प्राप्त हुई हैं, इनमें तीन दिगम्बर की और चार श्वेताम्बर की हैं। दिगम्बर की तीनों कृतियाँ मुद्रित हो गई हैं, जबकि श्वेताम्बर की दो मुद्रित हुई हैं और दो

-
१. दिगम्बरीय जिनसहस्र के नामों और श्वेताम्बरीय अर्हन् समुच्चय के नामों में ग्रन्थगत नौवें शतक की रचना को छोड़ दें तो शेष शतकों के नामों में असाधारण साम्यदृष्टिगोचर होता है। आज इस पद्धति को एक समस्या के रूप में देखने की अपेक्षा साहित्य के क्षेत्र में परस्पर एक-दूसरे के आदान-प्रदान करने की कैसी पद्धति थी, इस रूप में समझना अधिक उपयुक्त होगा।

अमुद्रित छाणी तथा पूना के भण्डार में हस्तलिखित प्रति के रूप में विद्यमान हैं ।

इनमें मुझे दिगम्बरीय आशाधर पण्डित (वि० सं० १२८७) विरचित कृति उसकी विशिष्ट क्रमबद्ध योजना तथा नामों में व्यक्त होनेवाली प्रतिभा के कारण रचना की दृष्टि से अति विशिष्ट कृति प्रतीत हुई है । आशाधर को 'कवि कालिदास' के रूप में व्यक्त किया गया है । वे गृहस्थ विद्वान् थे ।

१. भारत अनेकविध धर्मों और पन्थों का देश है । ऐसे देश में प्रजाजनों के बीच परस्पर सहिष्णुता का सेतु बना रहे, शान्ति का सूत्र पिरोया रहे, तो जनता विविधता में भी एकता का अनुभव करती रहे, जिससे भ्रातृभाव, प्रेम और मैत्री की भावना दृढ़ होती रहे । इसके लिए जैनाचार्यों ने प्रसङ्ग-वश साहित्य के क्षेत्र में उदात्त उदाहरण प्रस्तुत किए हैं । इनमें प्राचीनों में सुप्रसिद्ध, महान् आचार्यों में सूरिपुङ्गव श्रीहरिभद्रजी, इनके पश्चात् श्रीहेमचन्द्राचार्यजी, श्रीमान्तुङ्गसूरिजी और उनके पश्चात् उपाध्यायजी यशोविजयजी आदि को गिनाया जा सकता है । दिगम्बरों में पण्डितप्रवर श्री आशाधरजी को प्रस्तुत किया जा सकता है । आशाधरजी के द्वारा सहस्रनामों के शतकों में अर्थ की दृष्टि से जनदृष्टि को ध्यान में रखकर ब्रह्मशतक, बुद्धशतक आदि की योजनाएँ इस बात के प्रबुद्ध उदाहरण हैं ।

यह, भगवान् महावीर द्वारा इस देश को दी गई सर्वथा नवीन, अद्भुत अनेकान्त दृष्टि की सर्वतोमुखी दृष्टि की आभारी है । भेद में अभेद और अभेद में भेद को स्थापित करके सत्य का जीवन रखना, यह इस दृष्टि की फलश्रुति है । सापेक्षदृष्टि यह अनेकान्त का दूसरा नाम है । समस्त सघर्षों के समाधान के लिए यह एक महान् सिद्धान्त है, और इस अनेकान्त के सिद्धान्त को 'स्याद्'वादशैली के द्वारा जैनाचार्यों ने पर्याप्त विकसित किया है ।

उपाध्यायजी ने भी उपर्युक्त परम्परा का आदर यथोचित किया है । इन्होंने शाब्दिक झगड़े से दूर रहने की बात कहते हुए भाषा में रचित 'सिद्धसहस्रनाम वर्णन' की कृति में कहा है कि—

इस्या सिद्ध जिननां कहां सहस्रनाम,
रहो शब्द झगडो कहां लहो शुद्ध धाम ।

‘सहस्र’ नाम की सबसे प्रथम रचना (अजैन कृति)^१ विष्णु-सहस्र’ नाम की है। तथा इसी दृष्टि से सहस्रनाम-वाङ्मय में वह सबसे अधिक प्राचीन है।

जिनसहस्रनाम के अनिरिक्त व्यक्तिगत तीर्थकर की रचना एक उपलब्ध है जो भगवान् पार्श्वनाथजी की है, और यही कारण है कि उसका नाम ‘पार्श्वसहस्र नाम’ है जो बात ऊपर कही गई है।

भगवान् पार्श्वनाथ इस काल के लोकप्रिय रहे हैं और सदैव रहेंगे। २३ में एक ही भगवान् ऐसे हैं कि जो सैकड़ों नामों से भारत में पहचाने जाते हैं और उनके मन्दिर तथा मूर्तियां भी अधिक हैं। जैनेतरों में शंकर का जो स्थान है वैसा ही स्थान जैनों के लोकहृदय में पार्श्वनाथ प्रभु का है। जैसे शंकर आशु-तोष कहलाते हैं उसी प्रकार भगवान् पार्श्व की भक्ति भी शीघ्र तोष करने वाली है। इसके अतिरिक्त ग्रहों में देखें तो मुख्य सूर्यग्रह के समान ही श्री^३ पद्मावती आदि देव-देवियों के भी सहस्रनामों की रचना प्राप्त होती है।

सहस्रनाम की रचनाएँ संस्कृत से अनभिज्ञ जीवों के लिये भाषा में भी हुई हैं। इनके रचनाकारों के रूप में बनारसीदास, जीवहर्ष तथा उपाध्यायजी तो हैं ही।

× × × ×

अब प्रस्तुत ग्रन्थ के मूल विषय पर आएँ, जिस कृति के कारण उपर्युक्त भूमिका बांधनी पड़ी उस कृति का नाम है ‘सिद्धसहस्रकोश’ जिसे पहले बता चुका हूँ।

जिन सहस्रनामों की कृतियां जैन संघ के पास थीं अतः उपाध्यायजी ने एक ही वस्तु में अधिक योग करने की अपेक्षा नया विषय पसन्द करना उचित माना और उनके मन में (जिन अरिहन्त की रचना को छोड़कर) सिद्ध भगवन्तों

-
१. यह कृति महाभारत के अनुशासन पर्व में है।
 २. आशु अर्थात् जल्दी, तोष-प्रसन्न हो, सन्तोष प्रदान करे वह।
 ३. जैनेतरों में उन्हें मान्य अम्बिकासहस्र, रेणुकासहस्र-आदि की अनेक देवियों की कृतियां हैं।

के सहस्रनामों की रचना करने सम्बन्धी अभिनव कल्पना स्फुरित हुई तथा उसे साकार बनाकर हमें 'सिद्धसहस्रनाम' की विशिष्ट भेट दी। यह वस्तुतः उपाध्यायजी की बुद्धि प्रतिभा की आभारी है।

जिनसहस्र में जैसी नामों की रचना होती है वैसी तो इसमें कहाँ से हो ? क्योंकि जिन-तीर्थङ्करों की उस समय की गुणावस्था पृथक् है। जिन उस समय सदेही हैं। उपदेश की प्रवृत्ति आदि से तन्तुलित रहते हैं। अघाती चार कर्म भी विद्यमान रहते हैं जबकि सिद्धों को इनमें से कुछ भी नहीं होता। अतः स्वाभाविक रूप से ही सकल कर्म-रहित बने हुए सिद्धों को जो गुण घटते हों उन गुणों का निर्माण करना पड़े और उसी तरह नाम संग्रह किया जाता है। यद्यपि इनमें जिनसंग्रह के नाम मिलेंगे अवश्य परन्तु वे थोड़े ही।

१००८ नामों के संग्रह के लिये स्थापित प्रक्रिया के अनुसार शतक का निर्धारण करके दस शतकों का निर्माण किया गया है। इस कृति के लिये सम्पूर्णरूप से अनुकूल माने जानेवाले अनुष्टुप् छन्द को स्वीकृत किया गया है। प्रत्येक शतक में १०० नामों का उत्तम संग्रह हुआ है किन्तु सौ नामों के लिये विभागों की संख्या समान नहीं है। नाम अल्पाक्षरी हों तब उनके लिये श्लोक भी कम बनाने पड़ते हैं। इससे दस शतकों में ६ से १३ की संख्या तक के श्लोकों की व्यवस्था है। कर्ता ने स्वयं को उपाध्याय नहीं अपितु गणि के रूप में अभिव्यक्त किया है। यह कृति पू० आ० श्री देवसूरिजी के साम्राज्य में निर्मित हुई है। उनके भक्तजनों के श्रवणार्थ-रचना की गई है ऐसा उन्होंने शतक के अन्त में बतलाया है।

सिद्ध का तात्पर्य क्या है ?

जैन जिस देव को मानते हैं उनके दो प्रकार हैं—एक साकार तथा द्वितीय निराकार। एक कर्मसहित हैं और एक कर्मरहित।

साकार अर्थात् देहधारी हों वह अवस्था। देहधारी होते हैं तब जन-कल्याण के लिये वे अविश्रित उपदेश की वर्षा करते हैं और वे ही साकार देहधारी देव अपने मानव देह का आयुष्य पूर्ण होने पर शेष जो चार अघाती कर्म हों उनका

सर्वथा क्षय करके सर्वात्म-प्रदेश से निष्कर्म बनकर, सकल कर्म से मुक्त होने पर आत्मा का स्वयं का शाश्वत जो स्थान मोक्ष अथवा मुक्ति जो कि अरबों अरब मील दूर है वहां आंख की एक पलक में बीतते हुए असंख्य क्षणों—(समयों) में से केवल एक ही क्षण में पहुंच जाते हैं। वहां अनादि काल से ज्योतिरूप में अनन्तानन्त आत्माएँ विद्यमान हैं। शाश्वत नियम के अनुसार एक आत्मा की ज्योति में अनन्तानन्त आत्माओं की ज्योति समाविष्ट होती ही रहती है। (जैसे प्रकाश में प्रकाश मिलता रहता है उसी प्रकार) वहां न शरीर है, न घर है, न खाना-पीना है, कोई वस्तु नहीं, कोई उपाधि नहीं, इसी का नाम मोक्ष है। मोक्ष का दूसरा नाम सिद्ध है, शिव-मुक्ति, निर्वाण आदि हैं। इस मोक्षसिद्ध स्थान में रहने वाले जीव भी सिद्ध ही कहलाते हैं और सर्वकर्म-विमुक्त अत एव सर्व-गुणसम्पन्न, सर्वोच्च कोटि में पहुंचे हुए इन्हीं 'सिद्धात्माओं की उपाध्यायजी ने विविधरूप से स्तुति की है।

दूसरी बात यह स्पष्ट करनी आवश्यक है कि जिनसहस्र में प्रयुक्त 'सहस्र' शब्द से पूरे एक हजार नाम ही नहीं समझना चाहिए अपितु एक हजार और आठ समझना है। किन्तु 'अष्टाधिकजिनसहस्र' ऐसा नामकरण उचित नहीं प्रतीत होता, इसलिये ग्रन्थ के नामकरण में सहस्र का पूर्णांक रखा है और वह उचित है।

मानव की प्रवृत्ति सदा फलोद्देश्यक होती है। प्रवृत्ति का अच्छा फल मिलेगा ऐसा लगता है तो श्रद्धापूर्वक प्रवृत्ति करता है और नहीं लगता है तो नहीं करता है। कदाचित् करता भी है तो उन्मन होकर। इसलिये प्रश्न उठता है कि नामसहस्र का पाठ करने से क्या लाभ होता है? इसका उत्तर यह है कि नामावलि के रचयिताओं ने तो नामस्तव करने वाला व्यक्ति, तीर्थंकर नामकर्म

१. उपाध्यायजी ने सिद्धों की गुजराती भाषा में भी स्तुति की है, जिसका नाम 'सिद्ध-सहस्र-नाम-वर्णन-छन्द' रखा है। जो गुर्जर साहित्य संग्रह, भाग एक में मुद्रित हुआ है। यद्यपि उपलब्ध इस कृति में नाम बहुत कम हैं।

अर्थात् ईश्वर बनने तक का पुण्य बांध सकता है इतनी सीमा तक की महिमा गार्ई है। वह प्राप्त हो उसके बीच—मध्यकाल की अवस्थाओं में इन सहस्रनामों का पाठ करने से शुभ की ओर परमशान्ति की प्राप्ति, पापों का नाश, अभीष्ट-सिद्धि और सर्वदुःखों से मुक्ति आदि लाभ मिलते हैं।

उपाध्यायजी महाराज ने भी सिद्धों को नमस्कार करने से गौणफल के रूप में ऋद्धि-सिद्धि की प्राप्ति और मुख्य फल के रूप में महोदय-प्राप्ति-मुक्ति की प्राप्ति बताया है।

मुक्ति का ही दूसरा नाम महोदय है। उदय शब्द तो संसारवर्ती उन्नति से सम्बन्ध रखता है, किन्तु महान् उदय (यथार्थस्वरूप में महोदय) सृष्टि पर होता ही नहीं। यह तो मोक्ष में ही पहुंचा जाए तब वहीं उसका अनुभव किया जाता है। यह दिखाया है सिद्धों के प्रणिपात नमस्कार का फल।

स्मरण का फल क्या है ? तो उपाध्यायजी ने कहा है कि मंगल नहीं अपितु परममंगल। मंगल अर्थात् पाप का—विघ्न का नाश। साथ ही स्वर्ग की प्राप्ति और उसके सर्वोत्तम फल में सिद्ध-स्थान की प्राप्ति। तात्पर्य यह कि यह स्तवन मुक्ति और मुक्तिप्रद है अर्थात् बाह्य एवं आभ्यन्तर दोनों प्रकार के सुखों को देने वाला है।

यहां चर्चा के लिये स्थान नहीं है। परन्तु, एकांगी, और निश्चय नयवादी धर्मारोधन अथवा भक्ति के फल के रूप में केवल मुक्ति को ही बताना चाहिए ऐसा आग्रह रखने वाला व्यक्ति मुक्ति शब्द की ओर दृष्टि डाले।

इससे कतिपय वाचकों को ऐसा लगे कि स्तवन का महत्त्व बढ़ाने के लिये ही ऐसे प्रलोभन बताये जाते हों ! ऐसा तो नहीं है न ?

१. स्तुवन्तः...प्राप्नुयुमनिवाः शुभम् । (विष्णुसहस्र)

—सर्वविघ्नैकहरणं सर्वकामफलप्रदम् । (गणेशसहस्र)

—परमं शं प्रशास्महे । (महापुराण २५—६६)

इसका उत्तर विशेष विवेचन किये बिना ही जैन-अजैन विद्वानों ने अपने अनुभव, जो बात-वाणी जो श्लोकों में उतारी है, वे ही श्लोक यहां उनके अर्थ सहित उद्धृत करता हूं।

जिन्होंने इस सिद्धकोश की रचना की उन्हीं महर्षि की वाणी एक श्लोक में प्रस्तुत करता हूं। भक्तिमार्ग क्या है ? यह बतलाते हुए कहते हैं—

श्रुताब्धेरवगाहनात् सारासारसमुद्धृतः ।

भक्तिभगवती बीजं परमानन्दसम्पदाम् ॥१॥

अर्थ—आगम शास्त्रों के सागर में डुबकी लगाकर और सार तथा असार के विवेचन के पश्चात् मैंने यह सार प्राप्त किया है कि—परमानन्द रूप मोक्ष-स्थान की प्राप्ति करनी हो तो आप सब पवित्र भगवान् की भक्ति का आलम्बन ग्रहण करो।^१

अजैनों में भी इसके समान ही भाव व्यक्त करने वाला श्लोक देखिये—

आलोड्य सर्वशास्त्राणि विचार्य च पुनः पुनः ।

इदमेकं सुनिष्पन्नं ध्येयो नारायणो हरिः ॥१॥

अर्थ—सर्वशास्त्रों का वाचन-मनन किया और तत्पश्चात् उन शास्त्रवचनों पर बार-बार चिन्तन किया, किन्तु कुल मिलाकर मुझे तो यह एक ही सार मिला है कि—इस विश्व में परमात्मा ही एक ध्यान के योग्य है अथवा प्राप्त करने योग्य है।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विचार करें तो मानव-स्वभाव को सरल और सहज भाग अधिक प्रिय लगता है। भक्ति मार्ग अमीर अथवा गरीब, शिक्षित या

१. आवश्यक सूत्रों में, स्तोत्र, स्तुति और शान्तिपाठों में तो भौतिक लाभों की बातें अपार बताई गई हैं।

अशिक्षित, बालक किंवा वृद्ध सब के लिए लाभप्रद होता है। विविध प्रकार के भक्तिमार्ग की शरण दिव्य-प्रकाश देकर अन्त में आत्मसिद्धि प्राप्त कराती है।

अन्य सभी साधना के मार्ग कठिन हैं, दुर्गम हैं, कष्टसाध्य हैं। बुद्धि हो तो समझे जा सकें ऐसे हैं और दीर्घ समय की अपेक्षा रखने वाले हैं। सामान्य कोटि के जीवों के लिए वे सुसाध्य नहीं हैं। इसीलिए तो एक अजैन कवि ने सारभूत नवनीत प्रस्तुत करते हुए कहा है—

“पुराण को अन्त नहीं, वेदन को अन्त नहीं,
वाणी तो अपार कही, कहां चित्त दीजिये;
सबन को सार एक, रामनाम रामनाम लीजिए ॥”

इसलिए सभी ने आबालवृद्धों के लिए राजमार्ग ईश्वर-प्रभु-भगवत्-स्मरण ही बताया है। क्योंकि ईश्वरस्मरण हृदय की ग्रंथियों को तोड़ने में बेजोड़ काम करता है। बाह्याभ्यन्तर दुःख, अशान्ति को भगा देता है। अतृप्ति से परिपूर्ण जीवन में परमतृप्ति और दावानल में जलते हुए को परम शान्ति देता है।

इन नामों का जप भी किया जा सकता है और इसीलिए इस पुस्तक के अन्त में दिए गए परिशिष्ट में चतुर्थी विभक्ति में सभी नाम देकर अन्त में नमः शब्द जोड़कर सभी नाम दिए हैं। जिससे प्रत्येक पद जप के योग्य बना दिया है। इससे इसके अनुरागियों को रेडीमेंड माल मिलने से अवश्य आनन्द होगा ही।

अनेक नाम अर्थ की दृष्टि से आनन्द प्रदान करें, ऐसे हैं। इसकी यदि कोई टीका बनाये तो इसके वैशिष्ट्य का दर्शन ज्ञात हो।

अच्छा तो हम सब, सर्वगुण सम्पन्न, पुरुषोत्तम, सर्वोत्तम, सर्वोच्च कोटि की आत्माओं की नामगङ्गा में डुबकी लगाने का संकल्प करके मन, आत्मा और तन के मूल को धोते रहें।

इन तीनों प्रकाशनों में मतिदोष, दृष्टिदोष और प्रेसदोष से यदि क्षति रह गई हो तो उसके लिए ग्रन्थकार से क्षमा मांगता हूँ।

जैन साहित्य मन्दिर
पालीताणा, दि० ११-१०-७६
आश्विन शुक्ला पूर्णिमा २०३६ वि०

आ० यशोदेव सूरि

१ भगवान श्रीनेमिनाथजीनु स्तवन

(सूचना—वि० व० १७१३ में पू० उपाध्याय जी महाराज के द्वारा
महेसाणा में चातुर्मास-वास के दिनों में रचित यह स्तवन
पहली बार ही यहां प्रकाशित हो रहा है।)

+ + +

सद्गुरुना प्रणमी पाय, थुणसुं श्री यदुपति राय;
उलट अधिके रह्यो थाय, रे ! सामलिआ० १
करजोडी राजुल वोलई, अष्टभवनी प्रीतिज खोलई;
नवमई भवि कां डमडोलई, रे ! सामलिआ० २
पूरवली प्रीति संभारो, तुम दरिसण लागइ प्यारो;
किम राखो नेह उधारो, रे ! सामलिआ० ३
कंत अजाण होइ तेहनी कहींई, नेह कीजई तो निरवहीइ;
डर डर एकमडा न रहीई रे ! सामलिआ० ४
आवी पाव सरति सुखकारा, दीसई छइ अतिमनोहार;
वापई भी करइ पुकारा, रे ! सामलिआ० ५
पथी सबही घरि आवइ, कदपं ते अधिक जगावइ;
एक निठुर नेम न आवइ, रे ! सामलिआ० ६
सखि ! श्रावण मास ते आयो, अंगि मुझ मदन जगायो;
विरहीनइ अति दुःखदायो, रे ! सामलिआ० ७
भिरमिर वरसई छई मेह, तापइ मुज दाभइ देह;
एणी अति सालई सनेह, रे ! सामलिआ० ८
आव्यो ते आसो मास, आवो एणइ आवास;
पूरोनि मुझ मन आस, रे ! सामलिआ० ९

१—इस स्तवन का हस्तलिखित पत्र मिल जाने पर उसकी प्रतिलिपि
करके यहां प्रकाशित किया गया है। उपाध्याय जी के स्तवन
अभी भी प्रकीर्ण हस्तपत्रों अथवा गुटकों से प्राप्त होने चाहिए।

भाह्वदई भोग म छोरो, अबलासुं काँम न चोरो ;
 तुम्स साथि किंस्यो चालई जोरी, रे ! सामलिआ० १०
 तुम विण निशि निंद न आवई, मुझ अन्न न भावई;
 दोहिला तुझ विण दिन जावई, रे ! सामलिया० ११
 प्रेमइ पूरी बोलई नारी, योवन कां जाओ हारी;
 जओ हईडई कंथ विचारी, रे ! सामलिआ० १२
 कुण आगलि दुक्ख कहीजई, योवनरो लाहो लीजई;
 जिस दुःख सघलां ते छोइइ, रे ! सामलिआ १३
 सखि ! जाई मनावो एकान्त, वेगि तेडी आवो कंत;
 जिस विरहनो थाई अंत, रे सामलिआ० १४
 आवी रूडी ए चित्रशाली, नेहइ निज रिजुओ निहार;
 एहवी सेज कां मूको सुहाली, रे ! सामलिआ० १५
 नाहलिओ वेगि मनावो, जोरइ हाथ ग्रही झाली लावो;
 धण मूकी निरधार कां जावो, रे ! सामलिआ० १६
 एहवा राजुल वचन बोलंती, प्रिउनुं ते ध्यान धरंती;
 गिरनारी चढी विलवंती, रे ! सामलिआ० १७
 सामी मुझ सुणि एक बात, एसो छई तुमारी घात (?)
 मानी वचन शिवादेवी जात, रे ! सामलिआ० १८
 नेम हाथि संयम लेई, अविहड तब प्रीति करेई;
 शिवपुर पिउपहिली पुहचेई, रे ! सामलिआ० १९
 नेम थुणिओ मन उल्लास, महीसाणई रहीअ चउमास;
 पूगी छइ मूझ मनि आस, रे ! सामलिआ० २०
 संवत सतर तेर वरसि, कार्तिक सूदि पंचमी दिविसि;
 तवन करिउं मन हरखि, रे ! सामलिआ० २१
 पंडित श्रीनयविजय ईश, श्रीजसविजय तेहनो सीस;
 सीस तत्वदिई आसीस, रे ! सामलिआ० २२

श्रीनेमिजिनस्तवनं सम्पूर्णम् ।

प्राक्कथन

यह परम हर्ष का विषय है कि न्यायविशारद, न्यायाचार्य, महोपाध्याय पूज्य श्रीमद् 'यशोविजयजी' महाराज द्वारा प्रणीत दो महाकाव्यों—(१) 'आर्षभीय-चरितमहाकाव्यम्' तथा (२) विजयो-त्लास-महाकाव्यम्' के उपलब्ध अंशों का सबसे पहली बार इस संग्रह में प्रकाशन हुआ है और साथ ही (३) 'सिद्धसहस्रनामकोश' ("प्रणवादि-नमोऽन्तनामावली" सहित) भी इस संकलन में प्रकाशित है ।

ये तीनों ग्रन्थ प्रायः पाण्डुलिपि के रूप में यत्र-तत्र विकीर्ण थे इन्हें प्राप्त करके बड़े ही परिश्रम एवं लगन के साथ संकलित कर मुद्रण के योग्य रूप देते हुए संशोधन और सम्पादन करने वाले प्रधान सम्पादक साहित्य-कलारत्न पूज्य आचार्य श्री यशोदेव सूरिजी महाराज ने अपनी अतिव्यस्तता के कारण सम्पादन और मुद्रापण का आदेश देने के साथ ही अपने प्रमुख सम्पादकीय विचारों को भी इसी 'प्राक्कथन' में समाविष्ट करने तथा विस्तृत-चिन्तन प्रस्तुत करने की मुझे अनुमति दी । तदनुसार ही इन ग्रन्थों के बारे में आवश्यक बातों का निर्देश करते हुए समीक्षात्मक दृष्टि से यह 'प्राक्कथन' लिख रहा हूँ ।

आधुनिक पद्धति के अनुसार—'कृति और उसके पूर्वाङ्ग-उत्तराङ्ग का विवेचन करने से पाठकों को मूल-रचना के महत्त्व का सर्वांश में परिचय हो सकता है ।' इस विश्वास से प्रस्तुत प्राक्कथन में तीनों कृतियों का तीन भागों में विवेचन करने का प्रयास किया जा रहा है तथा प्रारम्भ में "कवि-काव्यकार, कविशक्ति एवं प्रेरणा,

कविपरिणति के लिये आवश्यक तत्त्व, कवि-सृष्टि और उसके अनेक रूप, संस्कृत भाषा के महाकाव्य, काव्य के लक्षण तथा महाकाव्य-परम्परा और जैनाचार्य” जैसे शीर्षकों में पहले ‘पूर्वपीठिका’ भी प्रस्तुत की गई है, जो इस प्रकार है—

कवि-काव्यकार—

महाकाव्यादि का निर्माता कवि काव्य-संसार में एक प्रजापति के रूप में प्रतिष्ठित हुआ और उसकी रसानुगुण शब्दार्थ-चिन्ता के स्वरूपस्पर्श से प्रतिभा चहक उठी, त्रैलोक्यवर्ती भावों का साक्षात्कार करता हुआ वह कवि शब्दार्थों के विन्यास-विशेष से जगत् को सम्मोहित करने में सफल हो गया। अतः समस्त विश्व ऐसे काव्यकार के प्रति अपना मस्तक झुकाये तो उसमें आश्चर्य ही क्या ?

कविशक्ति एवं प्रेरणा—

कवि की शक्ति के दो मूल स्रोत—(१) अलौकिक-बाह्य तथा (२) आन्तरिक स्वभावजन्य प्रसिद्ध हैं। इन्हीं को आचार्य हेमचन्द्र ने ‘उत्पाद्या’ तथा ‘ओपाधिकी’ नामों से अभिहित कर प्रतिभा के दो भेदों में बतलाया है। राजशेखर ने प्रतिभा के भावयित्री (भावक की) और कारयित्री (कवि की) ऐसे दो रूपों का निरूपण करके द्वितीय कारयित्री प्रतिभा को कवि की प्रतिभा कहा है। यह

१. अपारे काव्य-संसारे कविरैकः प्रजापतिः ।
यथाऽस्मि रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते ॥ आनन्दवर्धन, ध्वन्यालोक
२. रसानुगुणशब्दार्थ—चिन्तास्तिमितचेतसः ।
क्षणं स्वरूपस्पर्शात्था प्रज्ञं व प्रतिभा कवेः ॥
सा हि चक्षुर्भगवतस्तृतीयमिति गीयते ।
येन साक्षात्करोत्येष भावांस्त्रैलोक्यवर्तिनः ॥
३. यानेव शब्दान वयमालपामो, यानेव चार्थान् वयमुल्लिखामः ।
तैरेव विन्यासविशेषभव्यैः सम्मोहयन्ते कवयो जगन्ति ॥ कश्चित्

प्रतिभा साहित्यशास्त्रीय प्राचीन विश्वास के आधार पर 'किसी देवता के प्रसाद से अपनी शक्ति की पराकाष्ठा पर पहुँचती है। वामन ने 'कवित्वबीज प्रतिभानम्' कहकर इसकी व्याख्या की है तो अभिनव गुप्त इसके कारण ही 'अपूर्ववस्तुनिर्माणक्षमता' का उल्लेख करते हैं। यह चाहे 'सहजा' ही अथवा 'उत्पाद्या'; किन्तु इसका यह गुण राजशेखर ने ठीक ही परखा है कि—'या शब्दग्राममर्थसार्थ-मलङ्कारतन्त्रमुक्तिमार्गमन्यदपि तथाविधमधिहृदयं प्रतिभासयति सा प्रतिभा । अप्रतिभस्य पदार्थसार्थः परोक्ष एव । प्रतिभावतः पुनरप्रत्यक्षतोऽपि प्रत्यक्ष एव । इत्यादि ।

इसी प्रतिभा के प्रसाद से कवि मस्तिष्क की प्रच्छन्न क्रिया-शीलता से सृष्टि-व्यापार को प्रत्यक्ष करता है, आत्मसात् करता है तथा उससे प्रेरणा प्राप्त करके प्राकृतिक अवयवों को ताड़-मरोड़ कर अथवा गला-भिघलाकर एक नवीन सृष्टि का निर्माण करता है। इस सृष्टि-समुन्मीलन में सभी जीवन-तत्त्व—'संयोग-वियोग, सघष-समन्वय, अन्तर्वाह्य, स्थिर-अस्थिर, नवीन-प्राचीन, परिचित-अपरिचित, साधारण-असाधारण, हृदय-मस्तिष्क, चेतन-अवचेतन, भूत, वर्तमान, भविष्य, व्यक्ति, जाति, निन्न आकार-प्रकार के शब्द और उनकी विभिन्न ध्वनियाँ, स्वच्छन्दता और नियन्त्रण आदि'—समाविष्ट रहते हैं।

कवि-परिणति के लिए आवश्यकतत्त्व—

राजशेखर 'कवि' शब्द की व्युत्पत्ति 'कवृ-वर्णने' धातु से मानकर कवि की 'वर्णना' शक्ति को मुख्यता प्रदान करते हैं।^१ भट्ट

१. 'कवि' शब्द की व्युत्पत्ति और परिभाषा के सम्बन्ध में हमने श्रीयशोविजय जी उपाध्याय रचित टीका वाले 'काव्यप्रकाश' की भूमिका में विस्तार से विचार किया है। कृपया वहाँ भी देखें।

गोपाल—‘कौत्ति शब्दायते विमृशति रसभाबानिति’ कहकर कवि की भावुकता एवं सहज गाननिपुणता को प्रथम स्थान देते हैं। जबकि मम्मट ‘लोकोत्तरवर्णनानिपुणं कविकर्म’ कहकर ‘वास्तविक वस्तु का आलौकिक रूप मूर्तिमान् करना कविकर्म बतलाते हैं। और भट्टतौत भी अपने ‘काव्यानुशासन’ में—

“स तत्त्वदर्शनादेव शास्त्रेषु पठितः कविः ।
दर्शनाद् वर्णनाच्चाथ रूढा लोके कविश्रुतिः ॥
तथा हि दर्शने स्वच्छे नित्येऽप्यादिकवेमुनेः ।
नोदिता कविता लोके यावज्जाता न वर्णना ॥”

इस प्रकार कहकर कवि के लिए ‘दर्शन’ और ‘वर्णन’ की आवश्यकता पर दल देते हैं और दर्शन एवं वर्णन दोनों ही एक दूसरे के पूरक तत्त्व हैं। इनके बिना आदि कवि बाल्मीकि भी अपनी रचना में सफल नहीं हो सकते थे, यह भी कहा है।

वैसे इन दोनों के साथ श्रवण को भी जोड़ना अनेक विद्वानों को अभीष्ट है। ‘श्रुतं च बहु निर्मलम्’ (दण्डी) इसी का प्रतीक है। इन तीनों की त्रिवेणी में सुस्नात कवि साहित्यकार ही पूर्ण सफल होकर जगती में आदर और प्रसिद्धि का भाजन बनना है। अतः

१—हमने भी इस सम्बन्ध में एक पद्य इस प्रकार लिखा है—

श्रुतं बुधेभ्यः पठितं गुरुभ्यः समीक्षितं नेत्रयुगेन येन ।
स्नातं त्रिवेण्यामथ भक्तिभावैः साहित्यकारः प्रथते स भूमौ ॥
—रुद्रदेव त्रिपाठी

२. पूरा पद्य इस प्रकार है—

नेसगिकी च प्रतिभा श्रुतञ्च बहुनिर्मलम् ।
अमन्दश्चाभियोगश्च कारणं काव्यसम्पदः ॥

कवि के लिए १-दर्शन, २-वर्णन और ३-श्रवण पूर्ण आवश्यक है। श्रवण वृद्ध-सान्निध्य से पुष्ट होता है इसीलिए कहा गया है कि—

प्रथयति पुरः प्रज्ञाज्योतिर्यथार्थ-परिग्रह,
तदनु जनयत्यूहापोहक्रिया-विशदं मनः।
अभिनिविशते तस्मात्तत्त्वं तदेकमुखोदयं,
सह परिचयो 'विद्यावृद्धः' क्रमादमृतायते ॥'

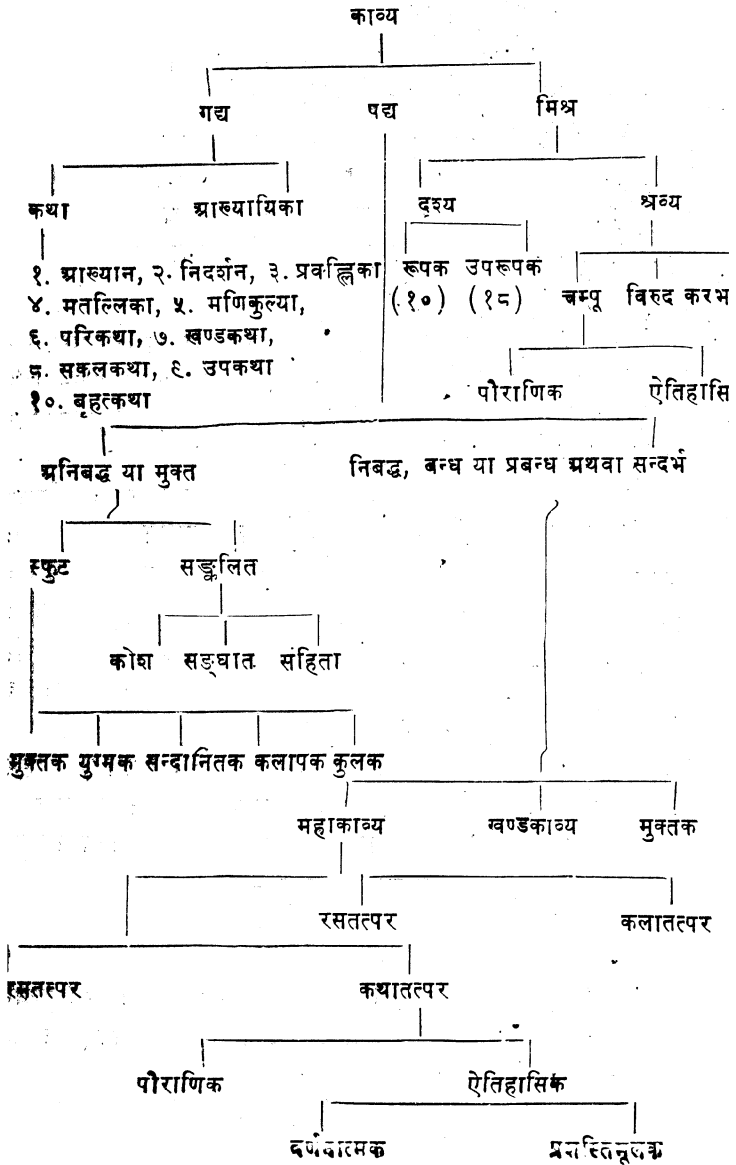
कवि-सृष्टि और उसके अनेकरूप

कवि की सृष्टि अनूठी है; प्रकृति-सृष्टि पीतल के समान है जिसे कवि स्वर्णरूप में परिवर्तित करता है। उसका प्रत्यक्ष-बोध कल्पना के पंख पाकर अनन्त आकाश की सैर करता है और अनुभूत भावों को शब्दार्थ के रूप में प्रतिष्ठित करके पाठकों को आनन्द-मन्दाकिनी में अवगाहन करने का अवसर प्रदान करना है। काव्य में प्रयुक्त भाषा का अर्थ—(१) शब्द का मुख्यार्थ, (२) वक्ता अथवा लेखक का मनोभाव, (३) उनकी स्वरभंगिमा जिससे वह श्रोता के प्रति स्वसम्बन्ध का निर्देश करता है तथा (४) लेखक का तात्पर्य, जो केवल व्यञ्जना द्वारा लक्षित होता है—इन चार अंगों से भावोत्प्रेरक तथा कवि और पाठक के बीच तादात्म्य-सम्बन्ध का स्थापक होता है।

यह सृष्टि अनेक रूपों में अभिव्यक्त होती रहती है। इसके स्वरूपों का एक सिंहावलोकन निम्नलिखित तालिका से किया जा सकता है जिसमें गद्य, पद्य और मिश्र के रूप में शास्त्रकारों द्वारा निर्धारित कतिपय रूप परिलक्षित होते हैं—

१. काव्यमीमांसा

२. विद्वानों ने इन रूपों की कई प्रकार से तालिकाएं प्रस्तुत की हैं जिनमें कुछ नामान्तर भी हुए हैं, किन्तु यहां विस्तारभय से अधिक चर्चा नहीं की गई है।'



संस्कृतभाषा के महाकाव्य

अन्तःकरण के उद्वेलित भावों को अभिव्यक्ति देने के लिये '१-इङ्गित, २-त्रिव्र एवं ३-अक्षरदेह'-रूप तीन उपाय प्रमुख हैं। इनमें तृतीय उपाय, मानव के मस्तिष्क की मौलिक उपज के साथ निरन्तर गतिमान होता रहा और आविष्कार से परिष्कार तक की परिधि में आते-आते अपने अनेक रूपों में निखरता रहा। आज उसके अनेक स्वरूप हैं जिनमें 'महाकाव्य' भी एक है।

काव्य के स्वरूप-निर्धारण के ऊहापोह में 'दृश्य' एवं 'श्रव्य' नामक दो धाराएं पृथक् हुईं। प्रथम को नाट्यमूलक तथा द्वितीय को काव्य-मूलक कहा गया। काव्य जब अपने वैभव से जन-मन को उल्लसित कर पूर्णकलाओं से खिलने लगा तो उसका सर्वाङ्ग-सुन्दर स्वरूप 'महाकाव्य' कहलाया। 'काव्य' शब्द के साथ 'महा' शब्द के संयोजन का ध्येय लक्षणकारों की दृष्टि में यह था कि 'इसमें जीवन के सर्वाङ्गीण वर्णन को आवर्जित कर अनेकानेक उपादेय तत्त्वों का एक अतूठा सामञ्जस्य प्रस्तुत किया जाता है।' और इसी कारण अन्य सङ्कुचित परिधिवाले काव्यों को खण्डकाव्य तथा मुक्तकों की कोटि में स्थान मिला।

'महाकाव्य' अपनी गरिमा के अनुरूप किसी परिवेष में बँधकर नहीं रहा। इसमें सर्गों का विस्तार शताधिक संख्या तक व्याप्त रहा और कहीं-कहीं पाँच-सात की संख्या में भी निबद्ध हुआ। गद्य और पद्य दोनों ही इसके कलेवर को सजाने में व्यस्त रहे और अनुष्टुप् से स्रग्धरा तक के छन्द भी इसकी रचना के आधार बने। वर्ण्यविषय के अनुरूप महाकाव्य का वाग्विलास रस, ध्वनि, रीति गुण और

१. दृश्यश्रव्यत्वभेदेन पुनः काव्यं द्विधा मतम्। साहित्यदर्पण, पद्य-३२३।
इसके दो स्थूलरूप (अ) कथनात्मक और (आ) गीतात्मक है।

अलंकारों के सहयोग से आकर्षण का केन्द्र माना गया तथा 'यश, द्रव्य, व्यवहार एवं शिवेतरक्षति' के साथ ही सद्यः परनिर्वृति' का माध्यम होते हुए भी 'कान्तासम्मितोपदेश' का भी साधन बन गया ।'

महाकाव्य के लक्षण

लक्षण-शास्त्रकारों की परम्परा में सर्वप्राचीन आचार्य भरत ने महाकाव्य का कोई स्वतन्त्र लक्षण नहीं दिया है, किन्तु उत्तर-कालिक सभी आचार्यों का मत है कि उन्होंने 'मृदुललितपदार्थं गूढ-शब्दार्थहीनं, बुधजनसुखयोग्यं' इत्यादि जो नाटक का लक्षण दिया है वह काव्य के लिए भी ग्राह्य है । भामह^१ और दण्डी ने^२ इस दिशा में जो लक्षण दिये हैं वे पर्याप्त विकसित हैं । रुद्रट ने इन लक्षणों में कुछ और आवश्यक तत्त्व जोड़ते हुए एक परिनिष्ठत रूप देने का प्रयास किया । जिसमें क्रमशः—१-उत्पाद्य अथवा अनुत्पाद्य लम्बी पद्यबद्ध कथा, २-अवान्तर कथाएं, ३-सर्गबद्धता, ४-नाटकीय-तत्त्व संयोजन, ५-जीवन की समग्रता का चित्रण, ६-नायक की उच्चता, ७-प्रतिनायक वर्णन, ८-नायक की अन्त में विजय, ९-महान् उद्देश्य और चतुर्वर्ग फलप्राप्ति, १०-रसात्मकता, ११-नगर एवं प्रकृति के वर्णन एवं १२-अलौकिक तथा अति-प्राकृतिक तत्त्वों का समावेश निर्दिष्ट है ।^३ विश्वनाथ सभी पूर्ववर्ती आचार्यों के लक्षणों का समाहार करते हुए—'१-नायक की विशिष्टता, २-शृंगार, वीर अथवा शान्तरस की सीमितता,

१. तुलना कीजिये—

काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये ।

सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे ॥ काव्यप्रकाश १/१/१

२. नाट्यशास्त्र १७/१२६ । ३. काव्यालङ्कार १, १९-२१ । ४. काव्योद्देश प्र. परि. १४-१६ । ५. काव्यालङ्कार अ० १६, प० २-१६ ।

३-सर्गसंख्या-निर्धारण, ४. सर्गों के वर्ण्य विषयों की व्यवस्था और ५-वस्तु-व्यापारों की संख्या का विस्तार' भी स्पष्ट करते हैं' ।

जैनाचार्यों में वाग्भट (प्रथम) ने—

साधुशब्दार्थसन्दर्भ—गुणालङ्कार-भूषितम् ।

स्फुटरीति-रसोपेत, काव्यं कुर्वीत कीर्त्तये ॥^१

कहा और आचार्य श्री हेमचन्द्र ने—

‘अदोषो सगुणो सालङ्कारो च शब्दार्थो काव्यम्’

कहकर काव्य में निवश्य तत्त्वों की पुष्टि की ।^२ आचार्य अजितसेन ने महाकाव्य के वर्ण्य-विषयों का विस्तार से-दर्शन करने के पूर्व एक पद्य में सकेत किया है कि—

शब्दार्थालङ्कृतीद्धं नवरसकलितं रीतिभावाभिरामं,

व्यङ्ग्याद्यर्थं विदोषं गुणगणकलितं नेतृसद्वर्णनाढ्यम् ।

लोकद्वन्द्वोपकारि स्फुटामह तनुतात् काव्यमग्रथं सुखार्थो,

नानाशास्त्रप्रवीणः कविरतुलमतिः पुण्यधर्मोरु हेतुम् ॥^३

यह लक्षण सर्वसामान्य महाकाव्यों को अपनी परिधि में आवर्जित कर लेता है । वैसे कवि के मतिवैभव से निर्मित रचना पहले मूर्तरूप लेती है और लक्षणकार ‘लक्ष्यानुसारीणि लक्षणानि भवन्ति’ इस उक्ति के अनुसार ही लक्षण-निर्धारण करते हैं अतः उन लक्षणों में परिवर्तन-परिवर्धन एवं परिष्कार हों, यह स्वाभाविक ही है ।

महाकाव्य-पराम्परा और जैनाचार्य—

संस्कृत भाषा में महाकाव्य-निर्माण की परम्परा अति प्राचीन है । वैदिक, जैन और बौद्ध मान्यताओं के अनुसार सभी ने अपने-अपने आद्य ग्रन्थ—वेद, आगम और पिटकों को इसका उद्गम तथा प्रेरणा-

१. साहित्य दर्पण—परि० ६ पद्य ३१५ से ३२८ । २. वाग्भटालङ्कार—

१/२ । ३. काव्यानुशासन पृ० १६ । ४. अलङ्कार-चिन्तामणि ।

स्थल बतलाया है। उपलब्ध महाकाव्यों में भी सर्वप्रथम किसकी रचना हुई यह कहना कठिन है तथापि कालिदास को प्रथम मानने वाले उसके रघुवंश और अश्वघोष को पूर्ववर्ती मानने वाले उसके महाकाव्य बुद्धचरित को 'प्रथम महाकाव्य' सिद्ध करते हैं। जैनाचार्यों में इस परम्परा का आरम्भ पहले प्राकृत में (छठी शती) 'पउमचरिउ' महाकाव्य से हो चुका था जिसे संस्कृत में लाने का श्रेय दिगम्बर जैनसाधु श्रीरविषेण (सातवीं शती का उत्तरार्ध) को दिया जाता है। यद्यपि यह 'पद्मपुराण' काव्य रसतत्पर तो पूर्णरूप से नहीं बन पाया और पौराणिक पद्धति का ही इसमें अधिक निर्वाह हुआ तथापि अंकुरण की दृष्टि से यह मार्गदर्शक अवश्य बना। इसके पश्चात् तो चरित्रात्मक काव्यों की बाढ़ आ गई और रीति-परिष्कार भी होता रहा। अनेक पौराणिक और जिनचरित्रमूलक काव्यों की सृष्टि हुई।

जैन-महाकाव्यों की मूलभूमि 'द्वादशाङ्ग-वाणी' है तथा प्रायः सभी—“सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक-चारित्र्य के द्वारा कोई भी मानव चरमसुख को प्राप्त कर सकता है” इस सन्देश को प्रसारित करते रहे हैं। इन काव्यों में जिनागमानुमोदित—‘साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविकारूप’ चतुर्विध संघ को ही समाज मानकर वर्णन किया गया है। काव्यों के नायक तीर्थंकर, भूपति, श्रेष्ठी, सार्थवाह तथा शूरवीर आदि रहे हैं।

ऐसे जैन महाकाव्यों का कालक्रम से पर्यालोचन करने पर प्रतीत होता है कि—आठवीं शताब्दी में उत्पन्न श्री जटासिंह नन्दि का 'वराङ्गचरित' महाकाव्य संस्कृत का 'प्रथम जैन महाकाव्य' है। इसमें राजा वराङ्ग का ३१ सर्गों में जीवन-चरित्र निबद्ध किया गया है। इसका नायक धीरोदात्त गुणों से समन्वित है तथा 'नगर, ऋतु, उत्सव, क्रीडा, रति, विप्रलम्भ, विवाह, जन्म, राज्याभिषेक, युद्ध, विजय आदि सभी विषयों का यथावश्यक रूप में समावेश हुआ है।

११वीं शती में वीरनन्दि ने 'चन्द्रप्रभवचरित' की १५ सर्गों में रचना की और धनंजय ने 'राघवपाण्डवीय' श्लिष्ट महाकाव्य की । १२वीं शती में वाग्भट ने नेमिनिर्वाण तथा हेमचन्द्र ने 'त्रिषष्टिशलाका-पुरुषचरित' और कुमारपालचरित (द्वयाश्रय) की रचना की ।

महाकवि हरिचन्द्र १२०६ ई० का 'धर्मशर्माभ्युदय' इस परम्परा का एक प्रौढ महाकाव्य है जो ६१ सर्गों में धर्मनाथ स्वामी के जीवन-चरित को अलंकृत शैली में प्रस्तुत करता है । इसमें 'चित्रकाव्य' को भी स्थान मिला है । यही महाकवि 'जीवन्धर-चम्पू' का भी रचयिता है जिसने जैन-परम्परा में चम्पूकाव्यशैली का भी सूत्रपात किया ।

अमरचन्दसूरि (१२१७ ई.) का 'पद्मानन्द-महाकाव्य' अथवा 'जिनेन्द्र-चरित' पौराणिकता के परिवेश में रहते हुए भी शुद्ध ललित महाकाव्यों की धारा को आगे बढ़ाने में सक्षम हुआ । यह काव्य जैन-सम्प्रदाय की पौराणिक तथा ललित महाकाव्यों की शृंखला की योजक कड़ी के रूप में माना जा सकता है ।

एक परिपक्व पद्धति का परिपालन करते हुए तथा उसमें अपने-अपने अनुभव एवं प्रतिभा के योग से नावीन्य लाते हुए उक्त महाकाव्यों के अनन्तर निरन्तर प्रगतिपूर्ण महाकाव्यों की रचना हुई । इतना ही नहीं इस दिशा में १-द्वयाश्रयादि सन्धान काव्य २-विज्ञप्तिपत्रादिरूप काव्य, ३-एकाश्रयी काव्यादि की नवीन विधा के द्वारा कई प्रतिमान भी स्थापित हुए ।

१. चित्रकाव्यमूलक हरिचन्द्र का एक पद्य इस प्रकार है—

आतङ्कार्तिहरस्तपद्युमणि-सदभूरिप्रभाजिद्वसु—

द्रष्टव्यं हृदि चिह्नरत्नमसमं शौचं च पीनोन्नते ।

वेहे धत्त हितं त्वमन्दमहृदि क्षुद्रऽप्यतो दर्शने,

वल्लुर्भद्रमहस्य रम्यमपरं क्षीणव्यपायं पदम् ॥१०१॥

उनमें १. अनेकार्थी काव्य, २. यमकाद्यलंकारगर्भ काव्य, ३. चित्रालंकारमय काव्यादि आकार में लघु होने पर भी महत्त्वपूर्ण बने हैं तो ४. समस्यापूरतिरूप और ५. अनुकरणरूप काव्यों की भी इसमें न्यूनता नहीं रही और आज भी इस परम्परा का यथाक्रम निर्वाह हो रहा है, यह पूर्णसन्तोष का विषय है।

सामूहिक निष्कर्ष

इस संक्षिप्त पर्यालोचन से यह कहना असंभव नहीं होगा कि भारतीय संस्कृत-साहित्य की श्रीवृद्धि में जैन सम्प्रदाय का महाकाव्यों की दृष्टि से अत्यन्त उपादेय योगदान रहा है। जैसे-जैसे काव्यसृष्टि की प्रक्रियाओं में परिष्कार होता गया और जनमानस का भ्रूकाव साहित्यिक सौष्ठव की ओर बढ़ता गया उसी क्रम से सर्जनात्मक परिवेष भी अपनी परिधि को सजाने-संवारने में पीछे नहीं रहा।

अन्तरङ्ग की भावोर्मियों का निश्चल एवं निरगल उच्छलन कवित्व का निखरा हुआ रूप प्रत्येक काव्यकार की कृति में न्यूनधिक रूप में परिलक्षित होता ही है, किन्तु परोक्षों की पैनी पहुँच उसे और भी आस्वाद्य बनाने में सहायक होती है। अतः इस ओर तटस्थतापूर्वक परिशीलन की अपेक्षा निरन्तर आदरणीय है।

ऐसी ही पूर्ववर्ती परम्परा को प्राप्त करके महान् नैयायिक होते हुए भी परम श्रद्धेय 'श्रीयशोविजयजी उपाध्याय' महाराज ने अपनी अलौकिक प्रतिभा का सदुपयोग करते हुए दो महाकाव्यों तथा अनेक स्तोत्रकाव्यों की रचना की थी जिनमें से दोनों महाकाव्यों के उपलब्धांश जो इस ग्रन्थ-संग्रह में प्रकाशित किये गये हैं उनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

[प्रथम कृति]

आर्षभीय-चरित-महाकाव्य

प्रस्तुत 'आर्षभीय-चरित-महाकाव्य' पूज्य उपाध्यायजी की प्रौढ-कृति है। दुर्भाग्य से इस महाकाव्य का पूरा अंश प्राप्त नहीं हुआ है। केवल चौथे सर्ग के ६६ वें पद्य तक ही यह काव्य उपलब्ध है। यह भी कहना कठिन है कि श्री उपाध्याय जी महाराज ने इस महाकाव्य की रचना यहीं तक की थी अथवा आगे भी इसका निर्माण हुआ था ? साधुजीवन की व्यस्तता एवं अनेकविध ग्रन्थ-प्रणयन की प्रवृत्ति के कारण प्रायः देखा गया है कि रचनाकार अपने मन के उच्छल विचारों को शब्ददेह देने के लिए व्यग्र तो रहता है किन्तु उन्हें परिस्थितिवश कभी-कभी समग्ररूप नहीं भी दे पाता है। इसमें कुछ अंशों में दैव भी कारण बनता है। सम्भव है ऐसे ही किसी कारणविशेष से यह महाकाव्य भी पूर्ण नहीं हो पाया हो ?

प्रस्तुत महाकाव्य और उसकी कथावस्तु

महाकाव्य के लक्षण-विवेचन से ज्ञात होता है कि 'किसी महाकाव्य में जीवन के सर्वाङ्ग का चित्रण करते हुए नायक के उदात्त आदर्शों का उपस्थापन होना चाहिये' तदनुसार ही यहां आद्य तीर्थंकर श्रीऋषभदेव के चरित्र को कथावस्तु का आधार बनाया है। अनेक प्रौढकाव्यों के समान ही इस काव्य में भी उत्तम ध्वनिकाव्य के तत्त्व समाविष्ट हैं, साथ ही श्लिष्ट-पद-प्रयोग, गूढशास्त्रीय तत्त्वर्गाभित वाक्यविन्यास, अलङ्कार-मसृण पदावली एवं कल्पना-प्रचुर रससिक्त वर्ण्यवृत्तान्तों के कारण यह महाकाव्यों की माला में सुमेरु के समान श्लाघनीय बन गया है। इसमें वर्णित कथा का सर्गानुसारी परिचय इस प्रकार है—

प्रथम-सर्ग—इस सर्ग में श्रीनाभिनन्दन के स्मरणरूप आशीर्वादात्मक मङ्गल से प्रारम्भ करके उनकी महिमा का विस्तारपूर्वक वर्णन करते हुए—'वही एक देव है, जिसकी भिन्न-भिन्न नामों से उपासना की जाती है। जिसके आगम-समुद्र का जल प्राप्त करके अन्य लोग बादलों के समान गरजते हैं। उस जल की वृष्टि से ही विचित्र धान्य की सृष्टि होती है और उनके द्वारा प्रवर्तित 'धर्मविधि' ही सर्वत्र प्रवृत्त है, इत्यादि कहा है। इसके पश्चात् आद्यतीर्थङ्कर के रूप में प्रजाहित के लिए उनका उत्पन्न होना बतलाया है और विनीता नगरी के शासक के रूप में उनकी शासन-सुव्यवस्था एवं कालान्तर में संसार त्याग की भावना से अपने सौ पुत्रों में राज्य का विभाजन करके चतुर्मुष्टिलोचपूर्वक दीक्षा लेकर श्वीतराग स्थिति में तप में रत होने का वर्णन किया है।

तपस्या के प्रसंग से प्रभु का वनभ्रमण और वहाँ की वन्यश्री का सौन्दर्य-निरूपण कवि ने अपने आन्तरिक प्रकृत्यनुराग की साक्षी में बड़ा ही मनोरम दिया है। भगवान् ऋषभदेव के तपस्वीजीवन का चित्रण करते हुए उनकी क्षुधा-तृषा सहिष्णुता, परीषहसहन आदि का वर्णन करके 'गजपुर' स्थित सोमयश के यहाँ इक्षुरस से पारणा करने का भी अच्छा चित्रण किया है। वहीं प्रभु का उपदेश, श्रेयांस के मस्तक पर पुष्पवृष्टि और घर में साढ़े तेरह करोड़ स्वर्ण-मुद्राओं की वर्षा होती है और तदनन्तर प्रभु अन्यत्र विहार के लिये निकल जाते हैं। इस प्रकार दीक्षा के दिन से एक हजार शरद् के बीत जाने पर भगवान् को कैवल्य प्राप्ति तथा समस्त विश्व में उनके यश का विस्तार आदि वर्णन करके यह सर्ग पूर्ण किया है।

द्वितीय सर्ग—इस सर्ग में भरत महाराजा के द्वारा-भारतवर्ष में शासन करने का वर्णन करते हुए उनके द्वारा दिए गये दान, उनके अतुल पराक्रम, सैन्य-सम्पत्ति और शारीरिक सौन्दर्य आदि का

विस्तृत वर्णन किया है वहीं उनके राज्याभिषेक का प्रसंग उपस्थित किया है। इस महत्त्वपूर्ण अवसर पर अनेक राजा-महाराजाओं की उपस्थिति स्वाभाविक थी, किन्तु स्वयं भरत के ६८ सहोदरों की अनुपस्थिति को जानकर महाराज क्रुद्ध हो जाते हैं और दूतों के द्वारा भाइयों को सन्देश देते हैं कि—“इस राज्याभिषेक-महोत्सव में तुम्हारे उपस्थित न होने का क्या कारण है ? इस अनुपस्थिति से तुम्हारी स्थाित संशयापन्न बन गई है। यदि मेरा तेज असह्य होने के कारण ईर्ष्या हो तो कहीं अन्यत्र जाकर रहो और यदि युद्ध की इच्छा हो तो मुझ से युद्ध करो।”

इस सन्देश को पाकर उनके भाई प्रत्युत्तर देते हैं कि—“आप के अधीनस्थ राजाओं के द्वारा आपका राज्याभिषेक हो, यह ठीक है। परन्तु जो बन्धु-प्रिय है वह उसे अपने बन्धुओं में विभक्त किये बिना प्रसन्न नहीं होता। हमें अपने पिता के द्वारा प्रदत्त सम्पत्ति के प्रति कोई मोह नहीं है। फिर हमें आपकी उपासना से क्या मिलेगा ? आप यमराज से नहीं बचा सकते, ललाट पर लिखी रेखाएँ मिटा नहीं सकते, वार्धक्य का तरुणावस्था में बदल नहीं सकते, वासनाओं से मुक्त नहीं कर सकते और नही इन्द्रियों को वश में करके परब्रह्म में निमग्न कर सकते हैं ? रही बात युद्ध की तो हमारे शस्त्र भी कुण्ठित नहीं हैं ? किन्तु हम बन्धुद्रोह नहीं चाहते। फिर भी यदि युद्ध करना चाहते हैं तो हम तैयार हैं पर पिताजी की आज्ञा के बिना हम भाइयों में युद्ध नहीं होने देंगे।”

यह प्रतिसन्देश देकर वे ६८ भाई अष्टापद पर्वत पर—जहाँ भगवान् तपस्या में लीन हैं वहाँ पहुँचते हैं और सारी घटना सुनाते हैं। ऐसी स्थिति में भगवान् उन्हें अपने उपदेशामृत से शान्त करके युद्ध से विरक्त करते हैं और लक्ष्मी के दुर्गुण, संसार की असारता, संयम जप, अध्यात्म, रति, धृति, उद्यम, तुष्टि, क्षमा, कृपा आदि से

अनुराग करके महशत्रु के साथ युद्ध करने की बात कहते हैं जिसके परिणामस्वरूप वे सभी भाई प्रबोध प्राप्त करके संग्रम ग्रहण कर लेते हैं। इस प्रकार यह द्वितीय सर्ग अनेक महत्त्वपूर्ण प्रसंगों, उपदेशों और रमणीय वर्णनों से परिपूर्ण है।

तृतीय सर्ग—इस सर्ग में अठानवे राजपुत्रों का प्रतिसन्देश एव अष्टापद पर्वत पर जाकर प्रभु के उपदेश से दीक्षा ग्रहण की घटना से महाराजा भरत के दूतों के मन में कुछ ग्लानि उत्पन्न होती है। वे मन में सोचते हैं कि 'ऐसे साहसी और उत्तम चरित्रशाली उन राजपुत्रों को हमने अपने स्वामी के अग्नि जैसे उष्ण वचनों को सुनाकर बहुत दुःख पहुंचाया है, अतः इसका प्रायश्चित्त यही है कि हम भरत महाराजा के समक्ष अब उनकी प्रशंसा करें।' यह सोचकर वे 'विनीता' नगरी में पहुंचते हैं और महाराजा के समक्ष उन राजपुत्रों के प्रतिसन्देश को सुनाते हैं। साथ ही उनके आश्चर्यकारी चरित्र, समस्त पैतृकसम्पत्ति के प्रति अधिकार त्याग, मुक्तसंग होकर योगरंग में रंगना, युद्धरस को शान्तरस में परिवर्तित कर देने आदि का प्रशंसनीय वर्णन करके उनके द्वारा अपने समस्त कुल को पवित्र कर देने की बात कहते हैं।

इससे महाराजा भरत भ्रातृ-वियोग से कुछ खिन्न होते हैं तथापि मोहवश भाइयों के राज्यों को अपने अधिकार में ले लेते हैं। तब सभी तत्कालीन राजा-महाराजा उनके अधीन हो जाते हैं, सर्वत्र उन्हीं का साम्राज्य होता है किन्तु मानसिक शान्ति नहीं होती। इसी से उद्विग्न भरत एक योगी के समान विचार करते हैं कि—

“सभी राजा मेरे चरणों में विनत हैं, मेरी आज्ञा को पुष्पमाला के समान वे शिरोधार्य मानते हैं, विश्व की सर्वविध सम्पत्ति एवं सिन्धु देश से प्राप्त नवनिधि मेरे खजाने में स्थित है, उत्तम रथ, गज, तुरग मेरे पास हैं फिर भी 'चक्र' आयुध मेरी आयुधशाला में क्यों नहीं प्रविष्ट होता? यह मेरे अन्तःकरण में कांटे की तरह चुभता है।”

इस प्रकार चक्रि-पद की अभिलाषा से खिन्न महाराजा को देखकर मन्त्री उन्हें धैर्य बँधाते हुए कहता है कि—‘आपका छोटा भाई वह बलवान् ‘बाहुबली’ आपकी आज्ञा को नहीं मानता है। वह अपनी चण्ड भुजाओं से शत्रुओं को अस्त करके ‘विश्ववीर’ बना हुआ है। उसकी मुष्टि वज्र के समान कठोर है। वह नीति, धर्म, वाक्कौशल, युद्धक्रीडा आदि में निपुण है। उसके पास अपूर्व लब्धियां हैं। अतः जब तक उसे आप परास्त नहीं करेंगे तब तक ‘चक्रिपद’ की रक्षा असम्भव है और साथ ही यह भी कहता है कि—“पहले आप उसके पास दूत भेजिए। यदि वह आपकी आज्ञा मान ले तो आपकी इष्टसिद्धि हो जाएगी और यदि न माने तो उसे युद्ध में दण्डित कीजिए।”

मन्त्री के इन वाक्यों से भरत महाराजा क्रुद्ध हो जाते हैं और एक ओर भ्रातृमोह तथा दूसरी ओर चक्रिपद की अभिलाषा के कारण सन्देह-दोला में पड़े सोचते हैं कि क्या करूं ?

यहीं बड़े विस्तार से विवेकपूर्ण विचार, तर्क, वितर्क, युक्ति आदि प्रस्तुत करते हुए श्रीमद् उपाध्यायजी ने उचितानुचित का विवेचन किया है महाराजा के मुख से तृष्णा की निन्दा करवाई है और ऐसी स्थिति दिखला कर पुनः मन्त्री के द्वारा कहलाया है कि—‘हे महाराज ! राजा के लिए उसके प्राणों से भी अधिक मूल्यवान् उसका तेज है तथा उसकी रक्षा के लिए अविनीतों को विनीत बनाना अत्यावश्यक है। एतदर्थ किये गये प्रयासों से राजा का यश बढ़ता है। अतः आप राजनीति का आश्रय लेकर अपने पौरुष को स्फुरित करें।’ सचिव के ऐसे वाक्यों से महाराजा भरत का क्रोध भड़क उठता है और वे पुनः अपने भाइयों के पास दूत भेजते हैं।

चतुर्थ सर्ग—इस सर्ग में कवि ने सर्वप्रथम ‘सुवेग’ नामक दूत के प्रस्थान के समय होने वाले अपशकुनों का वर्णन किया है तथा

भावी आशंकाओं की अभिव्यक्ति की है। श्रीउपाध्यायजी ने शकुन-शास्त्र के आधार पर इस प्रसंग को विविध परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत किया है जिसमें उनकी एतदशास्त्रीय प्रज्ञा का परिपाक प्रस्फुट हुआ है। सोलह पद्यों में अपशकुनों का वर्णन करके दूत की कर्तव्यपरायणता का आख्यान किया है और वह जब स्वामिकार्य के लिये आगे बढ़ता है तो मार्ग में वनाली दृष्टिगत होती है। प्रकृति का मनोरम चित्रण-जिसे सम्भवतः जैनसाधु होने के नाते पाद-विहार करते हुए कवि ने भूयोभूयः आत्मसात् किया था—अभिव्यक्त हुआ है। इसके साथ ही ग्राम-संस्कृति का वर्णन भी अपने ढंग का अनूठा है। कृषकों के द्वारा खेतों में धान्य-चयन, पशुपालन, जल-सेचन-क्रिया आदि का वर्णन बहुत ही रोचक है और साथ ही उन-उन क्रियाओं का दार्शनिक-दृष्टि से साम्यस्थापन भी प्रशंसनीय है। वहाँ के निवासियों के आवास एवं जिनालयों को शोभा को काव्यमयी छटा में प्रस्तुत करते हुए कविवर श्रीमद्दयशोविजयजी महाराज, ने उनमें भी भरत की तृष्णा को निन्दनीय बतलाया है।

जब दूत बाहुबली की राजधानी 'तक्षशिला' के निकट पहुंचता है तो ग्रामवधूटियाँ उसे पूछती हैं कि तुम कौन हो? और इसका उत्तर 'मैं भरत महाराजा का दूत हूँ' यह सुनकर वे मूल अर्थ को जानकर भी अन्य विषयों की कल्पना करके उनकी विविध प्रकार से निन्दा करती हैं। यहाँ कृषि के उपकरणों का आयुधरूप में वर्णन तथा सुनन्दा-नन्दन के अतिरिक्त किसी को भी महाराजा न मानने की बात से दूत बहुत लज्जित होता है। वहाँ से आगे चलकर दूत 'तक्षशिला' पहुंचता है जिसका वर्णन कुछ पद्यों में हुआ है किन्तु पश्चात् काव्य अपूर्ण ही है।

कथा-सूत्र की यह गहनता एवं मञ्जुलता प्रस्तुत महाकाव्य के भव्य-भवन की वेदी मात्र आज उपलब्ध है, यह खेद का विषय है !

साहित्य-समीक्षा—

उपलब्ध काव्यांश में वर्ण्यविषय की व्यापकता के अनुसार ही प्रथम सर्ग में १ से १३० तक वंशस्थवृत्त का प्रयोग हुआ है तदनन्तर ३ वसन्ततिलका, १ पुष्पिताग्रा, २ स्वागता और हरिणी छन्द का प्रयोग करके सर्ग पूर्ण किया है। द्वितीय सर्ग में १ से १३२ तक वियोगिनी वृत्त का प्रयोग है तथा अन्त में ४ शार्दूलविक्रीडित छन्द निबद्ध है। तृतीय सर्ग में १ से ११७ तक उपजाति वृत्त का प्रयोग है तथा अन्त में ४ मालिनी वृत्तों का प्रयोग करके सर्ग पूर्ण किया गया है। चतुर्थ सर्ग के १-६६ पद्य स्वागता वृत्त में निबद्ध है।

इस प्रकार छन्दों के चयन में पूर्वमहाकवियों की परिपाटी का समन्वय करते हुए श्रीमद्भक्तिकविजयजी गणिन ने भाव और भाषा का तादात्म्य स्थापित करने में पूर्ण-सफलता प्राप्त की है।

वीर एवं शान्तरस के साथ ही यहाँ 'ओज' प्रसाद एवं माधुर्य गुणों में माधुर्य गुण को अधिक आश्रय मिला है तो रीति की दृष्टि से गौडी (समासभूयिष्ठ पदावली में) तथा स्फुट पदों के प्रयोग में भी अर्थगाम्भीर्य श्लेष आदि की विशेष स्थिति के कारण पाञ्चाली रीति अधिक प्रयुक्त हुई है।

अलंकारों में वर्णमैत्रीगत शब्दालंकारों का प्रयोग साहजिक होते हुए भी द्वितीय-चतुर्थ पादान्तानुप्रास (१-३८, ३-८३) वृत्त्यनुप्रास (१-४८) और यमक के विरल प्रयोगों से मन को मोह लेता है। अर्थालंकारों में श्लेष का प्रयोग सर्वाधिक है जिसके कारण अनेक पद्य दो-दो अर्थों को व्यक्त करते हैं तथा उन्हीं के आधार पर ध्वनि के मुख्य १-अलङ्कार से वस्तु, २-वस्तु से अलंकार, ३-वस्तु से वस्तु, ४-अलंकार से अलंकार तथा ५-भावध्वनिरूप पाँचों भेदों का बहुधा समावेश परिलक्षित होता है।

प्रथम पद्य—श्रुतस्थितैर्यः कमलालयो यशः (१-१) इत्यादि में नाभिनन्दन को ब्रह्मा, विष्णु और महेश के समन्वित रूप में व्यक्त करने के लिए प्रत्येक के विशिष्ट गुण को श्री ऋषभदेव में दिखलाया है जो श्लेषालंकार से ही बोध्य है।

अर्थान्तरन्यास के प्रयोग प्रस्तुत काव्य में बहुधा हुए हैं। यथा— न शार्धरध्वान्तहरं विना रवेरवेक्ष्यते (१-४), न चिन्तनीयं चरितं महात्मनाम् (१-५) विवादभाजोः करभामृताशिनोर्न क्लृप्तयुक्तिः कलहं व्यपोहति (१-१०१), शलभो लभते क्रियद् यशस्तरणौ क्लृप्तरणः क्रुधारुणः (२-३६) नभस्यलुप्त्वा ग्रहमात्रदीप्तिं ग्रहाधिपह्यातिमुपैति नार्कः (३-७२) इत्यादि।

उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, अपह्लाति (१-६७), परिवृत्ति (१-८५), समासोक्ति (१-८४), विरोधाभास (३-६२) आदि अलंकारों की छटा सर्वत्र अपनी सुषमा बिखेर रही है। यहाँ कवि ने अपने मुनिजीवन के अनुभव, संसार की असारता, लक्ष्मी की चञ्चलता और मति-विभ्रमकारिता आदि के वर्णनों के साथ ही शास्त्रीय विषयों का समावेश करने में भी प्रवीणता दिखलाई है। यथा—

क्षुधा के बारे में कहे गये ये पद्य—

पुरं प्रविश्याक्षकपाटपाटना-पुरस्सरं लुण्ठितसारसम्पदः।

करोति यः क्षुत्कटकस्य निग्रहं, तमन्नदेवं समुपास्महे वयम् ॥१-४३॥

तथा

कुठारिकामानकपाटपाटने, विलज्जता नाट्यनटीपटीयसी।

बिचित्रवंशस्थितिचित्रलुम्पने, मषीसखीयं जठरोद्भवा व्यथम् ॥१-४॥

क्षुधा की भीषणता को जहाँ व्यक्त करते हैं वहीं अन्नदान के महत्त्व को भी उन्होंने बड़ा महत्त्व दिया है और कहा है कि—

ददाति यो नावसरेऽन्नमथिने, प्रदाह्य चिन्तासु परं प्ररोदयन् ।

स्वयं चितायां ज्वलतः स्वरोदकात्, स बध्वमुष्टिर्मृतकाद् विशिष्यते

॥१-४४॥

इसी प्रकार कृपणों को 'कृपाणतुल्य' (१-४६) कहकर उनकी निन्दा भी की है। लक्ष्मी के बारे में उसकी कुटिलता, अस्थिरता, विष-भगिनीत्व एवं सुकृतछेत्तृता (२-८८ से ९५ तक) के वर्णन के साथ ही एक स्थान पर स्त्री के बारे में भी कवि ने कहा है कि—

कुटिला हसितेन फेनिला, सलिलावर्त-विवर्तनाभिभृत् ।

अमुना विहिताङ्गनानदी, नरके पातयति प्रमादिनः ॥२-१०३॥

यह प्रमादियों को नरक में गिराती है। उपनिषद् वाक्यों से साम्य दिखलाने वाले (१-९६ और २-४८) पद्य हैं जिनमें 'आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः' तथा 'केवलाघो भवति केवलादी' इन वाक्यों का पोषण हुआ है। न्यायशास्त्र के तत्त्वों का समावेश—न सिद्धयसिद्धयोः स्फुट-निग्रहस्थलाम् (१-९६), कपालनाशात् कलशक्षये यथा (१-११४) तत्सङ्कटव्याघ्रतटीयमेतत् (३-८४), में और इसी प्रकार वहीं द्वैत-अद्वैत (३-१००), ज्यौतिष (३-८५), शकुनशास्त्र (४-१ से १७ तक) तथा वैद्यक (३-९१) आदि का भी परिज्ञान कवि ने करवाया है और राजनीति के उपदेश भी इसमें मार्मिक हैं।

इस प्रकार संक्षेप में इतना ही कहा जा सकता है कि यद्यपि इस महाकाव्य का यह उपलब्धांश अपनी भव्य आयोजना की भूमिका ही प्रस्तुत कर पाया है तथापि "होनहार विरवान के होत चीकने पात" इस लोकोक्ति के अनुसार यह अवश्य ही अपनी परम्परा का एक अनूठा एवं बेजोड़ महाकाव्य रहा होगा। प्रतीक्षा है इसके अन्य अवशिष्ट अंश के अवलोकन की..... ।

[द्वितीय-कृति]

विजयोल्लास-महाकाव्य

द्वितीय सर्ग के ६५वें पद्य तक उपलब्ध 'विजयोल्लास-महाकाव्य' का यह अंश संक्षिप्त होते हुए भी महत्त्वपूर्ण है। इसकी रचना में श्रीयशोविजयजी महाराज ने 'सकलभट्टारकशिरोमणि भट्टारक श्रीविजयदेवसूरीश्वर गुरु' की स्तुति को प्रमुखता देते हुए अपने विजय की कामना को प्रमुखता दी है। जो कि—'सूरीश्वरं श्रीविजयादिंसिंहं स्तोतुं प्रवृत्तं विजयाभिकांक्षी' इस पद्यांश से स्पष्ट है। इन दो सर्गों में निम्नरूप से काव्यांश प्रस्तुत हुआ है—

प्रथम सर्ग—श्रीशङ्खेश्वर पार्श्वनाथ; सरस्वतीदेवी एवं गुरुस्मरण-रूप मङ्गलाचरणों से सर्गारम्भ हुआ है। कथावस्तु को प्रस्तुत करते हुए यहां सात पद्यों के कुलक से काव्य-निर्माण-प्रवृत्ति का संकेत देकर सर्वप्रथम 'मंडोवरापार्श्वनाथ' की भूमि का वर्णन किया है। तदनन्तर फलवर्धि—फलोधि चैत्य और नगर का वर्णन, वहां 'अनघमल्ल' नामक श्रेष्ठी का निवास, उसके विभिन्न गुण, शारीरिक सौन्दर्य, विद्या, बुद्धि, वैभव आदि का वर्णन नायकदेवी का उसपर मुग्ध होना और उसी के साथ विवाह होना वर्णित है।

द्वितीय-सर्ग—अनघमल्ल और नायकदेवी के विवाह से सुधीजनों को अत्यन्त आनन्द होता है। इन दोनों के सौन्दर्य और यौवन के वर्णन के साथ ही, 'नायकदेवी' के अङ्गलावण्य, केशकलाप, मुखमण्डल, भ्रूयुगल, नेत्र, नासिका, अधर, दन्तपंकित तथा वदन-सौन्दर्य की छटा अंकित करने में ही यह सर्ग अपूर्ण रह गया है। उपर्युक्त वर्णन

में बड़ी उदारता से कल्पनाओं का आश्रय एवं अलंकारों का आलम्बन लेकर विस्तार हुआ है। इसी से यह अनुमान किया जाता है कवि विषय को सुदूर तक ले जाने की भावना से शून्य नहीं था।

साहित्य-समीक्षा—पूर्ववर्णित काव्य के समान ही इस काव्य में भी रचना में पूरा सौष्ठव प्रस्तुत हुआ है। प्रथम सर्ग में १ से ६४ तक एवं ६७ वे पद्य में उपजाति वृत्त का प्रयोग है। तथा रथोद्धता, पुष्पिताग्रा, मालिनी, वसन्ततिलका और शार्दूलविकीर्णित में भी दो-दो और एक-एक पद्य हैं। इस प्रकार यह सर्ग १०२ पद्यों में पूर्ण हुआ है। द्वितीय सर्ग के सभी ६५ पद्य वियोगिनी छन्द में हैं।

प्रारम्भिक वर्णन में गुरुभक्ति के साथ ही कवि का साहित्यिक अन्तरंग परिस्फुट होने लगता है। शब्दों के चयन में एक प्रकार का मादंभ तो है ही, साथ ही नादगत सौन्दर्य को भी पूरा प्रश्रय मिला है। अनङ्गसङ्गं कथमङ्गतीति (१-६) कुकाल-पातालतलावमज्जद् (१-६), नाम्नैव धाम्नामनुरूपरूपं (१-१०) मेरुनमेरुर्जगदीश्वरेण (१-६६), सहस्रजिह्वोऽपि सहस्रजिह्वः (१-७३), रक्तोत्पलपल्लवाभ्यां प्रतिक्षणात् क्षीणविपल्लवाभ्याम् १-८६) प्रथिता किल सा तिलोत्तमा कथमस्याः पुरतस्तिलोत्तमा (२-६), रतिरेतु रति रतिरेवान्तरिता (२-१०), सकला कचपाशचुम्बिनी न कलापेऽनुकलापिनः कला। सकलाकलिताद्धचन्द्रको मुखचन्द्रोपरि संञ्चरः परः (२-११), रजनीकरकण्ठमण्डमीरजनीमण्डनखण्डन तपः (२-१६), श्रवणःन्दो-लनलोललीलया (२-२१) और अर्धरे णिधुना सुधारसः (२-६५) जैसी मसृण पदावलियों के प्रयोग से अनुप्रास और यमक अलंकार की प्रयोग चातुरी सहज ही परिलक्षित होती है।^१

१. अचूवरचामरभासमस्य केशोच्चयश्चामरभासमस्य।

वने निवासं चमरी च लेभे विपर्ययं किन्तु गतिश्चलेभे ॥ (२-७६)

यहां भी पादान्तयमक दर्शनीय है।

इसी प्रकार अर्थालंकारों के प्रयोग में भी अपना नैपुण्य व्यक्त करते हुए—उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, अपह्नुति, भ्रान्तिमान्, परिसंख्या, निश्चय, श्लेष, विरोधाभास, अर्थान्तरन्यास आदि का समुचित प्रयोग किया है। उत्प्रेक्षाओं में पर्याप्त नवीनता है तो रूपक में दीर्घसमास वाले पद प्रयुक्त हैं। अपह्नुति के लिए वास्तविक को अवास्तविक में व्यक्त करने का प्रयास उत्तम है। जैसे—**यत्रानिशं स्फाटिकजैन-सद्य** (१-२६) इत्यादि पद्य में जैन मन्दिरों की स्फटिकसमधवलिमा से प्रहत अन्धकार में नवयौवनाओं के कुचों में कस्तूरिका के रूप में अमावस्या का शयन वर्णित है। अन्यत्र (पद्य १-५३ के) वर्णन में अनघमल्ल के दान से अपने दान को न्यून मानकर बलि का पाताल में छिपना भी प्रभावपूर्ण है। व्याकरण, न्याय, संगीत आदि शास्त्रों का पाण्डित्य भी यत्र-तत्र पद्यों में विशेष रूप से समाविष्ट है जिससे शास्त्रकाव्य की भलक सहसा प्राप्त होती है।

वर्णन में महाकवि कालिदास, हर्ष और पण्डितराज जगन्नाथ के पद्यों की छाया क्रमशः प्रथमसर्ग में ४७, ५१, ६७ और ८६ में देखी जा सकती है। जिससे कवि की स्वाध्यायशीलता का आभास मिलता है। “नैषधीयचरित” के समान ही यहाँ सर्गान्त में एक पद्य कविवर्णन और उसके आदिमसर्ग समाप्ति का सूचक है।

साधुजीवन में रहते हुए भी कवि के दायित्व को पूर्ण करने के लिए गणिजी ने कहीं संकोच नहीं किया है। प्रायः देखा जाता है कि कुछ विरक्त कवि शृङ्गाररस के वर्णन में उदासीन हो जाते हैं अथवा अवसर पाकर शृङ्गारिकता की निन्दा करने में भी नहीं चूकते। किन्तु उपाध्यायजी इसमें अपवाद प्रतीत होते हैं। प्रस्तुत काव्य के द्वितीय सर्ग में नायकदेवी का सौन्दर्य-वर्णन इसका प्रमाण है।

क्या ही अच्छा होता ! यदि यह काव्य पूरा उपलब्ध होता !^१

१. प्रस्तुत काव्य की पाण्डुलिपि बहुत समय के पश्चात् प्राप्त हुई है। इसी कारण श्री कापड़िया जी द्वारा लिखित ‘यशोबोहन’ नामक गुजराती ग्रन्थ में इसका उल्लेख भी नहीं हुआ है।

[तृतीय कृति]

सिद्धसहस्रनाम-कोश

सहस्रनाम : : परम्परा और प्रकार—

संस्कृत स्तुति-साहित्य में 'सहस्रनाम'-स्तोत्रों की परम्परा भी अति प्राचीन है। उपासना के क्षेत्र में जिस प्रकार मन्त्र, यन्त्र, तन्त्र, पूजा, स्तोत्र आदि एक दूसरे के पूरक अंग माने गये हैं उसी प्रकार 'सहस्रनाम' भी एक पूरक अंग कहा गया है। प्रत्येक देवता की उपासना में जिन पांच अंगों का निर्देश तन्त्रों में किया गया है उनमें भी 'सहस्रनाम' की एक अंग के रूप में गणना है^१। इन्हीं सब दृष्टियों से सभी धार्मिक सम्प्रदायों में अपने-अपने इष्टदेवों की स्तुति में सहस्रनामात्मक स्तोत्र बने हुए प्राप्त होते हैं^२।

कोई भी भक्त जब अपने इष्टदेव के गुणों का आख्यान करना चाहता है तो उसके सामने नाम, कर्म, गुणादि का एक विशाल स्रोत छलकता हुआ दिखाई देता है। मानव सान्त है प्रभु अनन्त है। अनन्त के नाम-कर्म-गुणादि भी अनन्त हैं। इनमें से वह अपने लिए किन को चुने और किन को छोड़ दे ? यह प्रश्न उपस्थित होता है। महाभारत में युधिष्ठिर ने अपनी ऐसी ही किकर्तव्य-विमूढावस्था में भीष्म से पूछा था—

१. गीता सहस्रनामानि स्तवः कवचमेव च ।

हृदयं चेति पञ्चैतत् पञ्चाङ्गं प्रोच्यते बुधैः ॥

२. ऐसे अनेक सहस्रनाम स्तोत्रों की विशद विवेचना के लिये देखिए हमारे द्वारा रचित 'स्तोत्र शक्ति' में सहस्रनाम सम्बन्धी विचार ।

किमेकं देवातं लोके किं वाऽप्येकं परायणम् ।

स्तुवन्तः कं कमर्चन्तः प्राप्नुयुर्मानवाः शुभम् ॥२४॥

को धर्मः सर्वधर्माणां भगतः परमो मतः । इत्यादि ।

और इन पांचों प्रश्नों का उत्तर देते हुए भीष्म ने कहा था कि—

स्तुवन्नामसहस्रेण पुरुषः सततोत्थितः । इत्यादि ।

इस प्रकार अन्यान्य भगवत्प्राप्ति के उपायों में सहस्रनाम-स्मरण भी महत्त्वपूर्ण है । वहीं आगे 'विष्णोर्नामसहस्रं मे शृणु पापभयापहम्' इत्यादि कहकर सहस्रनाम-स्मरण से प्राप्य अनेक फलों का और भी विस्तार से वर्णन किया है ।

वेदों में 'सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ।' इत्यादि मन्त्र से सहस्र के उपलक्षण से अनन्त शीर्षादि का संकेत स्पष्ट ही है । तथा रुद्राष्टाध्यायी में शिव की उपासना हेतु निर्दिष्ट 'शतरुद्रिय' के मन्त्र भी इसके सूचक हैं । तान्त्रिक उपासना में प्रातः, मध्याह्न, सायं, तुरीया और भासारूप जो पाञ्चकालिक साधना होती है उसमें भासाकाल में प्रत्येक देव का ध्यान विराड्रूपात्मक होता है, जिसमें सहस्र-अनन्त का संकेत स्पष्ट है । योगिक दृष्टि से शारीरिक चक्रों में सहस्रार में सहस्रदल की कल्पना और प्रत्येक दल में मातृका के बीस आवर्तनों में प्रत्येक वर्ण की स्थापना भी 'सहस्र' की संकेतिका ही है ।

सूर्य को सहस्र किरणों वाला, इन्द्र को हजार नेत्रवाला, शेषनाग को हजार फणोंवाला, भगवती को हजार भुजाओं वाली, गरुड़, शरभ, नृसिंह आदि देवों को हजार दाढ़ों वाला, कार्तवीर्यार्जुन और बाण को हजार भुजाओं वाला कहना भी 'सहस्रनाम' की प्रेरणा का स्रोत रहा है ।

वैदिक सम्प्रदाय में शैव, वैष्णव, शाक्त, गाणपत्य आदि सभी देवों के 'सहस्रनाम-स्तोत्र' प्राप्त होते हैं इतना ही नहीं अपितु तन्त्र-भेद, ध्यानभेद और कालभेद के आधार पर प्रत्येक के एकाधिक सहस्रनाम भी सुलभ हैं।^१ इनकी रचना में कैलाशशिखरासीन भगवान् वक्ता के रूप में और भगवती पार्वती जिज्ञासु के रूप में विशेषरूप से प्रसिद्ध हैं तथापि यत्र-तत्र नन्दिकेश्वर^२ एवं अन्य ऋषिवर्ग^३ भी द्रष्टा के रूप में स्मृत हैं।

तन्त्रशास्त्र में 'सहस्रनाम-स्तोत्र'—१. अर्चना और २. जप के बाद तृतीयक्रम में अथवा पूर्वोक्त दोनों कर्मों के अभाव में उनका पूरक एवं आवश्यक था, यह—दिव्यनामावली, रहस्यनामावली का स्वरूप लेकर व्यक्त हुआ है। इसके निर्माण में स्वयं देव और देवियों ने हाथ बटाया^४ और स्वयं स्तोतव्य देवता ने अपने वरदान द्वारा महत्त्वपूर्ण सिद्धकर सर्वकार्यसाधन के लिए इसे उपयोगी बताया गया। धीरे-धीरे इन स्तोत्रों में संगृहीत नाम सामान्य नाम न होकर भाष्य और व्याख्यानों के द्वारा मन्त्रमय सिद्ध हुए। विभिन्न काम्य-प्रयोगों के ये साधन बने और रक्षाकवच के रूप में धारण का मार्ग भी प्रशस्त हो गया।^५ शाक्तसम्प्रदाय में सुप्रसिद्ध 'ललितासहस्रनाम' की फलश्रुति में तो यहां तक कहा गया है कि—

-
१. भैरव के छह प्रकार के सहस्रनाम, तथा गोपाल के राधातन्त्र और सम्मोहन-तन्त्र प्रोक्त सहस्रनाम इसके उदाहरण हैं।
 २. भवानीसहस्रनाम में नन्दिकेश्वर ने पूछा है।
 ३. ललितासहस्रनाम के द्रष्टा अगस्त्य ऋषि हैं।
 ४. ललितासहस्रनाम पद्य २७-२८ में वशिन्यादि वाग्देवी इसकी प्रणेत्री हैं।
 ५. इन सहस्रनामों को लिखकर भुजा, सिर, पताका आदि में धारण किये जाने का निर्देश है।

यस्त्यक्त्वा नामसाहस्रं पापहानिमभीप्सति ।

स हि शीतनिवृत्त्यर्थं हिमशैल निषेवते ॥२५०॥

तथा—कलौ पापैकबहुले धर्मानुष्ठानवर्जिते ।

नामानुकीर्तनं मुक्त्वा नृणां नान्यत् परायणम् ॥३०१॥

अर्थात् सहस्रनाम-स्मरण को छोड़कर जो पापहानि चाहता है, वह शीत की निवृत्ति के लिये हिमालय का आश्रय लेता है, ऐसा समझना चाहिये। तथा कलियुग में पाप की अधिकता एवं धर्मानुष्ठान की न्यूनता होने के कारण सहस्रनाम-स्मरण के अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग ही नहीं है।

यहीं सहस्रनाम के बारे में अन्यान्य माहात्म्य प्रदर्शित कर लौकिक वचनों की अपेक्षा नामस्मरण की विशेषता तथा उपास्यदेव के अनन्त नामों में से संगृहीत एक हजार नामों के स्मरण की विशिष्टता भी बतलाई है। ऐसे हजार नामों में भी जो रहस्यनाम हों उनका महत्त्व और भी विशिष्ट होता है। उदाहरणार्थ वहाँ कहा गया है कि—

देवीनाम सहस्राणि कोटिशः सन्ति कुम्भज ॥

तेषु मुख्यं दशविधं नामसाहस्रमुच्यते ॥

रहस्यनामसाहस्रमिदं शस्तं दशश्वपि ॥३०३-४॥

इसके अनुसार करोड़ों सहस्रनामों में दस प्रकार के सहस्रनाम^१ मुख्य हैं और उनमें भी रहस्यनामसहस्र प्रमुख है। इत्यादि।

१. ये दस प्रकार के सहस्रनाम 'सौभाग्य-भास्कर' भाष्य में भी भास्करराय मखी ने 'गङ्गाश्यालकाबालरासभाः' इस गुप्ताक्षर पद्धति से व्यक्त करके निम्न पद्य दिया है—

गङ्गा भवानी गायत्री काली लक्ष्मीः सरस्वती ।

राजराजेश्वरी बाला श्यामला ललिता दश ॥

यही स्थिति समस्त उपास्यदेवों के नामों की है। अतः पूर्वाचार्यों द्वारा संगृहीत एवं स्वानुभव द्वारा विशिष्टरूपेण भगवत्कृपाप्राप्ति के साधनभूत नामों का स्मरण अत्यावश्यक समझना चाहिये। ऐसे ही दृष्टिकोण को ध्यान में रखकर श्रद्धेय श्रीमद् यशोविजयजी गणिने भी 'सिद्धसहस्रनाम' की रचना की है, जिसका विवरण और प्रारम्भ में उपलब्ध पूर्ववर्ती जैन सहस्रनामस्तोत्रों का संक्षिप्त परिचय पहले यहाँ दिया जा रहा है।

जैन स्तुतिसाहित्य में सहस्रनाम स्तोत्र—

पूर्वोक्त परम्परा एवं प्रवृत्ति के अनुरूप ही जैन स्तुति साहित्य में भी सहस्रनाम-स्तोत्रों का विधान प्राचीनकाल से प्रचलित है। तथा सहस्रफणा पार्श्वनाथ, सहस्रदल कमल-निवासिनी पद्मावती, जैन तीर्थकरों के देह का १००८ लक्षणों से समन्वित होना आदि इसके प्रेरक तत्त्व कहे जा सकते हैं।

जैनों के श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही सम्प्रदायों में 'जिन-सहस्रनाम' जैसी कृतियाँ मिलती हैं। श्वेताम्बर सम्प्रदाय के आचार्य सिद्धसेन दिवाकर (चौथी शती) और दिगम्बर सम्प्रदाय के आचार्य जिनसेन (नौवीं शती) दोनों ने सम्भवतः इस प्रकार की रचना का प्रारम्भ किया है। इनके पश्चात् पाँच-सात कृतियाँ और बनी हैं जिनका क्रमिक परिचय इस प्रकार है—

१. जिन सहस्रनाम-स्तोत्र—सिद्धसेन दिवाकर (चौथी शती का अन्तिम भाग)

इसी कृति के १. सिद्धश्रेयःसमुदय और २. शक्रस्तव नाम भी प्रसिद्ध हैं। इसका निर्माण प्रमुखरूप से गद्य में ही हुआ है। इसमें 'ॐ नमो' इत्यादि से आरम्भ होने वाला भाग स्वतन्त्र है। यहाँ ग्यारह मन्त्र हैं जिनमें प्रथम और द्वितीय मन्त्रों के कतिपय प्रारम्भिक भाग के कुछ विशेषण इसी क्रम से 'वीतराग स्तोत्र' के

प्रथम प्रकाश में प्राप्त होते हैं। तीसरा मन्त्र 'नमु त्थु णं' स्तोत्र के संस्कृत अनुवाद जैसा है और इसी के साथ चौथे मन्त्र में तीर्थङ्कर के लिए प्रयुक्त विशेषण 'योगशास्त्र' (प्र. १, श्लो० २) की स्वोपज्ञ व्याख्या पत्र २, अ. ३, श्लो. १९-३५) में दिखाई देते हैं। ११वां मन्त्र योगशास्त्र के प्रकाश ८, श्लोक ४६ की स्वोपज्ञ व्याख्या में प्रायः अक्षरशः मिलता है। इससे यह ज्ञात होता है कि—इस स्तोत्र का उपयोग श्रीहेमचन्द्राचार्य ने पर्याप्त रूप में किया है। इसमें १९ नाम परमत-निरसन के सूचक भी हैं।

११ वे मन्त्र के अन्त में ५ पद्य हैं और तदनन्तर 'वर्धमान जिन-मन्त्र' के रूप में इसका उल्लेख हुआ है।

'जिनरत्नकोष' (वि. १, पृ. ३६९) के अनुसार इस स्तोत्र की श्रीप्रद्युम्नसूरि ने 'वृत्ति' भी बनाई है जिसकी पाण्डुलिपि सूरत के एक भण्डार में है। इसका सम्पादन श्री हीरालाल रसिकदास कापड़िया ने किया है तथा 'भक्तामर-स्तोत्रत्रय' की आवृत्ति (पृ. २४२-२४५) में पाठान्तर सहित इसका मुद्रण हुआ है। यही कृति 'अनेकान्त' (वर्ष १, किरण ८-१०) में वि० सं० १९८६ में भी छपा है। वहाँ इसका नाम 'सिद्धिश्रेयः समुदय' दिया है।

२. जिनसहस्रनाम-स्तोत्र— जिनसेनाचार्य (नौवीं शती)

यह दिगम्बर जैनाचार्य जिनसेन के 'आदिपुराण' के २५ वें पर्व के श्लोक सं० १०० से २१७ तक के अंश का संकलन है। इसका प्रारम्भ 'श्रीमान् स्वयम्भूर्बृषभः' से और पूर्ति 'धर्मसाम्राज्यनायकः' से होती है। इनके पश्चात् अन्य नौ पद्यों में स्तोत्र की महिमा आदि का वर्णन है। दस शतकों में यह स्तोत्र पूर्ण हुआ है। इसका प्रकाशन 'जैन ग्रन्थरत्न कार्यालय' से ई० सं० १९२९ में तथा मूलचन्द्र किसनदास कापड़िया की ओर से ई० सं० १९५२ में सूरत से हुआ

है जिनमें आशाधर कृत 'जिनसहस्रनाम-स्तोत्र' तथा 'भाषासहस्रनाम-स्तोत्र' (बनारसीदास रचित) भी मुद्रित हैं।

३. ग्रहन्नामसहस्रसमुच्चय— श्रीहेमचन्द्राचार्य (१२वीं शती)

इसका अपरनाम 'जिनसहस्रनामस्तोत्र' भी है। इसके प्रथम शत-प्रकाश, द्वितीय शतप्रकाश के रूप में दस प्रकाश हैं। प्रथम शतक के द्वितीय पद्य में तथा दसवें शतक के तेरहवें पद्य में अरिहूंत के १००८ नामों का उल्लेख है जबकि दसवें प्रकाश के १४ वें श्लोक में 'जिन-नामसहस्रक' ऐसा कहा गया है। दसवें प्रकाश के ही १४-१६ तक के पद्यों में इस स्तोत्र के श्रवण, पठन और जप के फलों का निर्देश है।

इसका प्रकाशन 'जैनस्तोत्रसन्दोह' (भाग ८, पृ० १३) में कलिकाल सर्वज्ञ हेमचन्द्रसूरि के नाम से हुआ है।

४. जिनसहस्रनामस्तोत्र — दि० पं० आशाधर (१३वीं शती)

सल्लक्षण के पुत्र एवं कलिकालिदासोपनामक पं० आशाधर की इस कृति में दस शतक हैं और इस पर स्वयं कवि ने स्वोपज्ञ वृत्ति की रचना भी की है।

आदि पुराण के समान ही इसमें दस शतक हैं जिनके नाम क्रमशः १. गर्भ, २. जन्म, ३. दीक्षा, ४. ज्ञान, ५. नाथ, ६. योगि, ७. निर्वाण, ८. ब्रह्म, ९. बुद्ध और १०. अन्तकृद्-शतक हैं। सभी नामों की रचनाशैली क्रमबद्ध है कोई भी नाम पुनरुक्त भी नहीं है। केवल एक नाम 'अमृत' दो बार आया है जिसे लिङ्ग-भेद और अर्थभेद से अपुनरुक्त कहा है।

दि० श्रुतसागर तथा अन्य किसी अज्ञात विद्वान् ने भी इसकी टीकाएं बनाई हैं। यह जिनसेन के जिनसहस्रनाम के साथ प्रकाशित हुआ है।

५. जिनसहस्रनाम-स्तोत्र— वि० सकलकीर्ति (१५वीं शती ई०)

यह स्तोत्र १३८ पदों में निर्मित है। रचनाशैली पूर्ववत् है।

६. जिनसहस्रनाम-स्तोत्र— देवविजयगणि (१७वीं शती ई०
पूर्वाध)

इस स्तोत्र के नाम 'अर्हन्नाम (सहस्र) समुच्चय अथवा 'अर्हत्-सहस्रनाम' भी हैं। कर्ता के गुरु कल्याणविजय गणि हैं। कर्ता ने ही इस पर स्वोपज्ञ टीका की रचना की है। इसकी पाण्डुलिपि छाणी (गु०) के भण्डार में सुरक्षित है।

७. जिनसहस्रनामस्तोत्र— विनयविजयगणि— (१७ वीं शती
उत्तरार्ध ई०)

वाचक कीर्तिविजय के शिष्य द्वारा रचित यह स्तोत्र 'अर्हन्नमस्कार-स्तोत्र' नाम से भी प्रसिद्ध है। इसमें १४६ पद्य हैं। १४७वें पद्य में अर्हन्तों को एक हजार नमस्कार करने का उल्लेख है। जिनरत्नकोश (वि० १, पृ० १६) में अर्हन्नमस्कारस्तोत्र और वहीं अन्य पृ० १३८ में जिनसहस्रनामस्तोत्र नाम से इसका सूचन है किन्तु ये दोनों कृतियाँ एक ही हैं इसका कोई निर्देश नहीं है।

रचना-विधान की दृष्टि से इसमें १ से १४४ तक के पद्य भुजंग-प्रयात छन्द में रचित हैं। प्रत्येक का चतुर्थ चरण 'नमस्ते नमस्ते, नमस्ते, नमस्ते' समान है और पूरे पद में सात-सात बार नमस्ते पद की योजना है। २१वें पद्य से ११७वें पद्य तक तीर्थकरों के बारे में गर्भवास से लेकर उनके निर्वाण तक के प्रसंगों में जो विशिष्ट प्रसंग गणनायोग्य कर्ता को प्रतीत हुए उनका क्रमशः सूचन है। यहां एक विशेष बात यह है कि 'सभी तीर्थकरों की समाप्त भूमिका का चित्रण' इसमें प्रस्तुत हुआ है। इसके पश्चात् दस क्षेत्रों के तीनों काल की

चौबीसियों के तीर्थङ्करों तथा बीस विहरमाण तीर्थङ्करों को नमस्कार किया गया है। यह वीरसमाज अहमदाबाद से छपा था और बाद में जैन धर्म प्रसारक सभा ने भी छपाया है।

८. जिनसहस्रनाम-स्तोत्र— अज्ञातनामा (?)

इस कृति का आरम्भ 'स्वयम्भुवे नमस्कृत्य' से होता है। १६० पद्यों में स्तोत्र पूर्ण हुआ है। इसकी पाण्डुलिपि भाण्डारकर प्राच्यविद्या संस्थान-पूना में है।

इस स्तोत्र पर दि० अमरकीर्ति, दि० विश्वसेन, दि० श्रतसागर तथा एक अन्य अज्ञात लेखक ने टीकाओं की रचना की है।

९. पार्श्वसहस्रनाम स्तोत्र - कल्याणसागरसूरि (अज्ञात)

अंचल गच्छ के धर्ममूर्ति के शिष्य की यह रचना है। 'जिनरत्न-कोश' (वि० १, पृ० २४७) में पार्श्वनाथ-अष्टोत्तर शतनाम नामक कृति का श्रीकल्याणसागरगणि के नाम से उल्लेख है। इसकी एक पाण्डुलिपि छाणी के भण्डार में है।

१०. पद्मावती सहस्रनाम स्तोत्र (? अज्ञात)

पार्श्वनाथ के तीर्थ की शासनदेवी पद्मावती के १००० नामों को प्रस्तुत करने वाली यह कृति 'जिनरत्नकोश' (वि० १, पृ० २३५) में निर्दिष्ट है।

११. सूर्यसहस्रनामस्तोत्र - भानुचन्द्र गणि (१७वीं शती प्रा० ई०)

यह कृति मूलतः गद्यात्मक है। इसके आरम्भ में एक तथा अन्त में चार पद्य हैं। इस पर लेखक की स्तोत्रपत्र वृत्ति भी बनी हुई है। इसका प्रकाशन 'वापी जैन युवकमण्डल' की ओर से वि० सं० १९६८ में हुआ है।

१२. सिद्धसहस्रनामकोश - श्रीयशोविजयजी उपाध्याय (ई० सं० १९८२)

इस प्रकार की ग्यारह कृतियों की परम्परा में श्रद्धेय श्रीयशोविजय

जी उपाध्याय ने 'सिद्धसहस्रनामकोश' की रचना करके एक नई कड़ी जोड़ी है। इसमें भी 'दस शतक' प्रकाश है। इस कृति की उपलब्धि और प्रति का आकार-प्रकार सम्बन्धी विवरण इस ग्रन्थ के सम्पादक एवं संशोधक मुनिराज श्री यशोविजय जी महाराज (वर्तमान समय में आचार्य श्री यशोदेवसूरिजी) ने स्वयं और पं० अमृतलाल मोहनलाल भोजक के द्वारा लिखित विचारों में पर्याप्त प्रकाश डाला है। जिन्हें यहां उनके निर्देशानुसार यथावत् प्रस्तुत किया जा रहा है—

कोश की प्रति के सम्बन्ध में श्रवणीय तथा स्मरणीय घटना

—ले० आचार्य श्री यशोदेव सूरि

'सिद्धसहस्रनाम कोश' की हस्तलिखित प्रति मुझे सं० २०१५ में प्राप्त हुई थी, जिसका संक्षिप्त इतिहास नीचे लिखे अनुसार है—

[वि० सं० २०१४ में बम्बई-मांटुगा में चातुर्मास पूर्ण हो जाने के बाद श्रुत के परम अभ्यासी, विविध विषयों के श्रेष्ठ ग्रन्थों को प्रकाशित करने वाले, धर्मात्मा, श्रीमान् तथा धीमान् की ऋद्धि को प्राप्त और मेरे प्रति बहुत ही सहानुभूति दिखाने वाले, श्रेष्ठिवर्य श्री अमृतलाल कालीदास दोशी जो कि कुछ समय पूर्व ही स्वर्गवासी हुए हैं, उन्होंने अपने चल रहे संशोधन में उपस्थित कठिनाइयों पर विचार करने के लिये अंधेरी-पारला घाने का मुझे आमन्त्रण दिया।

इतिहास-महोदधि स्व० पूज्य आचार्य श्रीविजयेन्द्र सूरिजी जोकि अंधेरी में विराजमान थे, उन्होंने भी मिलने की इच्छा से मुझे आमन्त्रण दिया था। अतः मैं पारला गया और दोशी सेठ के यहीं रहा। एक दिन मैं धर्मश्रद्धालु श्रेष्ठिवर्य श्री भोगीलाल लहेरचन्द के बंगले के एक भाग में विराजमान आचार्य श्री इन्द्रसूरिजी के दर्शनार्थ गया। वदन्ति यह मेरा पहला ही मिलन था। सूरिजी को देखते ही मैंने नमस्कार किया। मुझ से मिलने के

लिए उत्सुक होने के कारण उन्होंने खड़े होकर मुझे बहुत ही प्रेमभाव से आदर दिया और मुझसे कहा कि—‘स्व० श्रीमद् यशोविजयजी उपाध्याय के लिये सत्र की जो आयोजना की, उससे मैं बहुत प्रभावित हुआ था। तब से ही तुम्हें भेट देने के लिए एक वस्तु सम्हाल कर रखी है, वह तुम्हें आज खास तौर पर देनी है।’ और शीघ्र ही एक व्यक्ति को आदेश देकर प्रति मंगवाई। प्रति निकाल कर देने से पूर्व पुनः पूर्वोक्त आयोजन की प्रशंसा करते हुए कहा कि—‘उपाध्यायजी के लिये तूने जो ज्ञानसत्र का आयोजन किया वह प्रयास वस्तुतः पहला ही हुआ है। समस्त जनता को परिचित कराते हुए तूने जो प्रयास किया, उपाध्याय जी का संघ पर जो ऋण है उसे किञ्चित् उत्तारने का जो प्रयत्न हुआ उससे मैं नाच उठा हूँ। मैं तो उपाध्यायजी अर्थात् भगवान् महावीर के ज्ञान की भांकी कराने वाली विभूति और उसकी प्रसन्नता के प्रतीक के रूप में ‘सिद्धसहस्रनामकोश’ की यह मुद्रित प्रति तुम्हें देता हूँ। मैं खड़ा हुआ। आचार्य श्री के प्रति आभार रूप भाव व्यक्त करते हुए कृति को नमन किया तथा दोनों हाथ फैलाने पर वह कृति उन्होंने मेरे हाथों में रखी और जयनाद के साथ मैंने उसका अभिनन्दन किया।

यह है प्राप्त (अपूर्ण) उक्त प्रति की छोटी सी श्रवणीय एवं स्मरणीय षटना।]

इसी प्रकार अहमदाबाद के ‘एल. डी. विद्यामन्दिर’ द्वारा प्रकाशित होने वाले ‘सम्बोधि’ नामक मासिक पत्र में यह कृति मुद्रित हुई थी, तब इस कृति को लक्ष्य में रखकर मेरे विद्वान् धर्मस्नेही पं० श्री अमृतलाल भाई ने जो निवेदन प्रकट किया था वह सभी प्रकार से पूर्ण तथा कथनक्षम होने से (तथा उसमें नवीन जोड़ने की आवश्यकता नहीं होने से) उसे भी यहां यथावत् प्रकाशित किया जा रहा है—

न्यायविशारद, महोपाध्याय, श्रीमध्यशोबिजयजीगणि विरचित

सिद्धनामकोश

सम्पादक—पं० अमृतलाल मोहमलाल भोजक

महोपाध्याय श्रीयशोविजयकृत अनेक ग्रन्थ अप्राप्त हैं उनमें यह 'सिद्धनामकोश' उपलब्ध हुआ है तथा उसे यहां दो प्रतियों के आधार पर सर्वप्रथम सम्पादित किया है ।

१. जं० संज्ञक प्रति—'आर्य श्री जम्बूस्वामी जैन मुक्ताबाई आगममन्दिर-सत्क पू० आचार्य श्री विजय रैवतसूरि.संगृहीत पूज्यपाद आचार्य श्री जम्बूसूरि हस्तलिखित 'चिद्रञ्जन कोश डभोई (गुजरात)' में प्रस्तुत सिद्धनामकोश की प्रति सुरक्षित है, इसकी पत्र संख्या ६ है । प्रत्येक पृष्ठ में १५ पंक्तियां हैं । छठे पत्र की पहली पृष्ठ की आठवीं पंक्ति में सिद्धनामकोश पूर्ण होता है । प्रत्येक पृष्ठ की छठी से दसवीं पंक्ति से मध्यभाग में लेखक ने अक्षर लिखे बिना खाली भाग रखकर शोभन (रिक्तोक्षर शोभन) बनाया है जो कि इस प्रकार है—छठी से दसवीं पंक्ति के मध्यभाग में क्रमशः ३-६-९-६-३ अक्षरों जितना रिक्त भाग है । प्रत्येक पत्र की द्वितीय पृष्ठ के दाहिने अंश में दिये गये हांसिये के नीचे वाले भाग में उस-उस पत्र का क्रमांक लिखा है । और बायीं ओर के हांसिये के ऊपरी भाग में 'सिद्धनाम' लिखकर इस कृति का नाम सूचित किया है तथा उसके नीचे उस-उस पत्र का क्रमांक लिखा है । प्रत्येक पृष्ठ पर नीचे का आधा इंच भाग रिक्त रखा और पार्श्वभागों में एक इंच भाग रिक्त है अर्थात् प्रत्येक पृष्ठ में $5\frac{1}{2} \times 3\frac{1}{2}$ इंच लम्बाई, चौड़ाई में यह लिखा हुआ है ।

प्रत्येक पृष्ठ की पंक्ति के आरम्भ और अन्त को आवृत करके खड़ी दो लाल रेखाएं खींची हैं । लम्बाई-चौड़ाई $12\frac{1}{2} \times 8\frac{1}{2}$ इंच प्रमाण है । अन्त में—'लिखितं राजनगरे सं० १७३६ वर्षे इति श्रेयः' इस प्रकार संक्षिप्त पुष्पिका है । कर्ता के स्थितिकाल में यह प्रति लिखी हुई है । "सिद्धनाम कोश" की

साधन सम्पूर्ण वाचना इस प्रति से ही उपलब्ध है इस दृष्टि से इस प्रति का महत्त्व अत्यधिक है ।

२. य० संज्ञक प्रति—यहां ऊपर बताई गई प्रति मिलने का ज्ञान मैंने ५० पू० पा० श्रीयशोविजयजी महाराज (बम्बई) को दी और 'सिद्धनामकोश' सम्पादित करके 'सम्बोधि' नामक त्रैमासिक में प्रकाशित कर रहा हूं यह भी बतलाया । महाराज श्री यशोविजय जी ने तत्काल ही उनको प्राप्त 'सिद्धनामकोश' की प्रति का मुझे परिचय दिया । और यह भी बतलाया कि उन्हें जो प्रति प्राप्त हुई है उसमें प्रथम पत्र नहीं है । इतना होने पर भी उन्हें जितना भाग नहीं मिला है उतना भाग छोड़कर भी वे उसका सम्पादन प्रकाशन करने की तैयारी में थे, ऐसे समय पर मैंने उनको सम्पूर्ण प्रति प्राप्त होने की जानकारी दी तथा उनके पास वाली प्रति का उपयोग करने के लिए प्रार्थना की । इससे अत्यन्त प्रसन्न भाव से उन्होंने अपने पास वाली प्रति की फोटो स्टेट कॉपी निकलवाकर मुझे भिजवायी । उस फोटो कॉपी को देखते ही मैंने अन्तःप्रमोद पूर्वक धन्यता का अनुभव किया । यह प्रति पूज्यपाद महोपाध्याय श्रीयशोविजय जी महाराज के स्वहस्त से लिखित है । श्रीयशोविजय जी महाराज ने अपनी अनेक रचनाएं अपने हाथ से लिखी हैं और अन्त में लेखक के रूप में अपने नाम का उल्लेख प्रायः नहीं करते हैं । इस प्रकार प्रस्तुत "सिद्धनामकोश" के अन्त में भी उन्होंने लेखक के रूप में अपना नाम नहीं लिखा है । इतना होने पर भी स्वहस्ताक्षर के रूप में जहां अपना नाम लिखा है ऐसी प्रतियों के आधार पर पूज्यपाद आगम प्रभाकर मुनिवर्य श्री पुण्यविजय जी महाराज ने उनके द्वारा स्वहस्त से लिखी हुई तथा लेखक के नामोल्लेख से रहित अनेक प्रतियों का निर्णय किया है । ऐसी कुछ प्रतियां लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्यामन्दिर' में सुरक्षित मुनि श्री पुण्यविजय जी के संग्रह में विद्यमान हैं । इनके अतिरिक्त 'डहेलाना उपाश्रय' (ग्रहमदाबाद) के ज्ञान भण्डार में भी वैराग्यरति ग्रन्थ है । पू० पा० उ० श्रीयशोविजय जी महाराज के हस्ताक्षरों के परीक्षण-प्रसंगों में आगम प्रभाकर जी के पास बैठकर देखने-सीखने का सौभाग्य मुझे अनेक बार प्राप्त हुआ है ।

इसी से प्रस्तुत य० संज्ञक प्रति की फोटो कॉपी देखकर मुझे आह्लाद हुआ । एतदतिरिक्त विशेष स्पष्टता के लिए ला० द० विद्यामन्दिर वाले यहां बतलाये गये संग्रह की पू० पा० उपाध्यायजी के द्वारा स्वहस्त से लिखित प्रतियों के साथ प्रस्तुत फोटो कापी के अक्षरों को मिलाने पर सविशेष विश्वास हुआ कि यह य० संज्ञक प्रति कर्ता द्वारा स्वयं ही लिखी हुई है । कुल पांच पत्रों में लिखित इस प्रति का प्रथम पत्र नष्ट हो गया है । इसलिए प्रारम्भ से द्वितीय शतक के तेरहवें श्लोक के उत्तरार्ध के प्रथम अक्षर तक के पाठ का मिलान नहीं किया जा सका है । पाचवें पत्र की द्वितीय पृष्ठ की आठवीं पंक्ति में यह कोश पूर्ण होता है । प्रत्येक पृष्ठ में १५ पंक्तियां हैं । प्रत्येक पंक्ति में कम से कम ४१ तथा अधिक से अधिक ५६ अक्षर हैं ।

ऊपर बतलाई गई दो प्रतियों के आधार पर 'सिद्धकोश' का सम्पादन किया है । कतिपय स्थानों में पाठभेद हैं । उनमें मुख्यरूप से 'य०' प्रति के पाठ मूल में दिए गए हैं । तथापि किसी-किसी स्थान पर 'जं' प्रति के पाठों को भी प्राधान्य दिया गया है । उ० श्रीयशोविजय जी ने स्वहस्त से लिखित 'वैराग्यरति' की प्रति में एक ही स्थान के विकल्प रूप में स्वयं योजित पाठभेद अनेक स्थानों में लिखे हैं । इससे 'जं०' प्रति में आने वाले पाठभेद कदाचित् सुगमता के लिए स्वयं ही लिखे हों ऐसी प्रति के आधार पर यह 'जं०' प्रति लिखी गई हो यह सम्भव है । 'जं०' प्रतिकर्ता के स्थितिकाल में ही लिखी गई होने के कारण इसमें अन्यकृत पाठभेद होने की शक्यता कम सम्भव है यह भी स्वाभाविक है ।

'जं०' प्रति सम्पूर्ण होने से यह प्रस्तुत कोश की पूरी वाचना देती है । 'य०' प्रति कर्ता द्वारा लिखित है तथा 'जं०' प्रति में आने वाले किसी अशुद्ध स्थान पर शुद्ध पाठ देती है । इस प्रकार दोनों प्रतियों का बहुत महत्त्व है । प्रस्तुत सम्पादन में प्रत्येक शब्द के बाद जो क्रमांक दिए गए हैं वे दोनों प्रतियों में हैं उसी रूप में हैं ।

‘सिद्धनामकोश’—

अति प्राचीन काल प्रत्येक सम्प्रदाय में अपने-अपने आराध्यदेव-देवियों की स्तुति के रूप में अनेक स्तुति-स्तोत्रों की रचना हुई है। स्तुति-स्तोत्रों का एकाग्रभाव से पाठ करने वाले को लौकिक-अलौकिक लाभ निश्चय ही प्राप्त होते हैं। इस दृष्टि से प्राचीनतम काल से अर्वाचीन समय तक विविध स्तुति-स्तोत्रों की रचना और उनका पाठ करने की परम्परा चली आ रही है।

अनेकविध वस्तुनिरूपण के रूप में रचित स्तुति-स्तोत्रों में आराध्य देव-देवियों के नामोत्कीर्तन के रूप में विरचित स्तोत्र भी पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हैं, उन्हीं में अष्टोत्तर शतनामस्तोत्र तथा सहस्रनाम स्तोत्र भी निर्मित हैं।

श्रमण और ब्राह्मण परम्परा में विविध सहस्रनामस्तोत्र निर्मित हुए हैं। श्रमण परम्परा में आचार्य श्री जिनसेन कृत-‘जिन सहस्रनामस्तोत्र’ आचार्य श्री हेमचन्द्र सूरिकृत ‘अर्हन्नामसहस्रसमुच्चय’, पं० आशाधर कृत ‘जिनसहस्रनाम स्तोत्र’, जीबहर्षगणिविरचित ‘जिनसहस्रनामस्तोत्र’ प्रसिद्ध हैं।

ब्राह्मण-परम्परा में भी ‘शिवसहस्रनामस्तोत्र’ गणेशसहस्रनामस्तोत्र, अम्बिकासहस्रनामस्तोत्र, विष्णुसहस्रनामस्तोत्र आदि अनेक सहस्रनामस्तोत्र रचित हैं।

महापुरुषों का योगबल ही ऐसा होता है कि उनके हाथों से खींची गई रेखाएँ भी मनुष्य के लिये सिद्धिदायक यन्त्र का कार्य करती हैं तथा उनके अन्तर की ऊर्मि से रचित स्तोत्र उनके पाठक को इहलोक और परलोक में सुख-शान्ति प्रदान करते हैं। प्रस्तुत ‘सिद्धसहस्रनामकोश’ ऐसी ही कोटि की रचना है, यह बात कर्ता ने भी उपन्यास श्लोक में कही है।

प्रस्तुत सिद्धनामकोश को दस प्रकाशों में विभक्त करके ग्रन्थकार ने इसके दस विभाग दिखलाए हैं। एक से नौ तक के प्रत्येक प्रकाश में ‘सिद्ध’ शब्द के पर्यायरूप सौ शब्दों को तथा अन्तिम दसवें प्रकाश में एक सौ आठ शब्दों को

संगृहीत किया है। इस प्रकार यह कोश 'सिद्ध' शब्द के १००६ शब्दों का संग्रह है।

जिस प्रकार सुप्रसिद्ध आचार्य श्री हेमचन्द्रसूरि ने महाराजा कुमारपाल देव के लिए निर्मित वीतरागस्तोत्र के प्रत्येक विभाग के अन्त में 'श्रीकुमारपाल-भूपालमुश्रूषिते' लिखा है उसी प्रकार प्रस्तुत 'सिद्धनामकोश' के प्रत्येक विभाग-प्रकाश के अन्त में दी गई पुष्पिका के भी "सा" पनजीसुश्रूषिते" लिखा है। इससे ज्ञात होता है कि प्रस्तुत 'सिद्धनामकोश' की रचना राजनगर (अहमदाबाद) वास्तव्य संघमुख्य रतनशाह के पुत्र संघमुख्य पनजी शाह के लिए हुई है।

प्रत्येक प्रकाश के अन्त में दी गई पुष्पिका में इस कोश का 'सिद्धनामकोश' के नाम से ही उल्लेख किया है अतः मैंने भी इसी नाम से सम्बोधित किया है और इसी को मुख्य माना है। परन्तु 'य०' प्रति में दसवें शतक की पुष्पिका के पश्चात् समग्र रचना के अन्त को सूचित करने वाली 'सम्पूर्णसिद्धसहस्रनामप्रकरणम्' इस पुष्पिका के आधार पर इस कोश का दूसरा नाम "सिद्धसहस्रनामप्रकरण" भी ग्रन्थकार को अभिमत है।

ग्रन्थकार का नाम जिसमें उल्लिखित है उस शार्दूलविक्रीडित छन्द के अतिरिक्त समग्र रचना अनुष्टुप् छन्द में है।

प्रथम प्रकाश के तीसरे पद्य से दसवें शतक के बारहवें पद्य तक सिद्ध के १००८ नाम हैं, प्रथम पद्य में "जिसके प्रणिधान से इन्द्र सम्बन्धी श्री की प्राप्ति" यह तो आनुषङ्गिक फल है किन्तु मुख्य फल तो महोदय—सिद्ध की प्राप्ति है ऐसे सिद्ध का हम ध्यान करते हैं, ऐसा बतलाया है। तथा द्वितीय पद्य में "सिद्ध के १००८ नाम का स्मरण, यह सज्जनों के लिये शरणरूप है तथा सर्व मङ्गलों में श्रेष्ठ मङ्गल रूप है" यह कहा है।

१. द्रष्टव्य—प्रत्येक के अन्त में दी गई पुष्पिका पनजी शाह के पिता के नाम का उल्लेख दसवें प्रकाश की अन्तिम पुष्पिका में है।

दसवें शतक के बारहवें श्लोक के बाद वाले श्लोक में 'जो प्रातः काल में जागरूक भाव-से इस एक हजार आठ सिद्धनाम का पाठ करते हैं वे वारंवार स्वर्ग के मुख भोगकर सिद्धि—मोक्ष को प्राप्त होते हैं, इसमें सशय नहीं है', ऐसा कहकर सिद्धनामकोश के पाठ का माहात्म्य सूचित किया है। तथा अन्तिम शार्दूलविक्रीडित छन्द में कर्ता ने अपना परिचय इस प्रकार दिया है—

'गणों के समूह से स्वच्छ तथा सामर्थ्य के धामरूप श्रीविजयदेवसूरि सुगुरु के गच्छ में श्रेष्ठ सामर्थ्य को प्राप्त जीतविजय नामक प्राज्ञ पुरुष हैं, उनके गुरु-भाई तथा जानियों में श्रेष्ठ ऐसे जयविजयजी के बालक—शिष्य-यशोविजय नामक मुनि ने यह [सिद्ध नामकोशरूप] किञ्चित् तत्त्व कहा है।

महोपाध्याय श्री यशोविजयजी

जैन श्वेताम्बर मूर्तिपूजक परम्परा में आज से २८८ वर्ष पूर्व, भारत के मूर्धन्य विद्वान् तथा सन्तों की प्रथम पक्ति में सम्मानित 'न्यायविशारद महामहोपाध्याय श्रीमद्यशोविजयजी' महाराज के जन्मसंवत् के बारे में भिन्न-भिन्न विधान हुए हैं जबकि उनका निर्वाण संवत् १७४३ है, इसमें मतभेद नहीं है। निर्वाण संवत् के सम्बन्ध में प्रसिद्ध विद्वान् प्रो० श्री हीरालाल र० कापड़िया ने वि० सं० १७४५ को प्राधान्य दिया है वह श्री उ० श्रीयशोविजय जी कृत 'प्रतिक्रमणहेतुगर्भं सञ्ज्ञाय' के रचना संवत् 'युग-युग मुनिविधु' पाठ का अर्थ वि० सं० १७४४ मानकर। किन्तु प्रो० कापड़िया के विधान के बाद वाले वर्षों में पूज्यपाद आगम प्रभाकर मुनिवर्य श्रीपुण्यविजयजी महाराज को 'प्रतिक्रमण हेतु गर्भसञ्ज्ञाय' की वि० सं० १७४३ में लिखी हुई प्रति मिली। जिसके आधार पर अब प्रस्तुत निर्वाण संवत् १७४३ नानने में आपत्ति नहीं है।^१

उ० श्रीयशोविजयजी के जीवन और कवन का परिचय अनेक विद्वानों द्वारा विस्तार से दिया गया होने के कारण यहां इस सम्बन्ध में प्रो०

१. अन्य उपलब्ध संवत् आदि की सामग्री की आलोचना के बाद १७४३ संवत् की बात में मेरी भी सम्मति है। —प्रधान सम्पादक

कापडिया रचित 'यशोदोहन' ग्रन्थ तथा प० पूज्य. पं. श्री यशोविजयजी महाराज द्वारा सम्पादित तथा उनकी प्रेरणा से सम्पादित उ० श्रीयशोविजयजी रचित ग्रन्थों को देखने का सुभाव देता हूँ । ये ग्रन्थ 'यशोभारती जैन प्रकाशन समिति' द्वारा प्रकाशित हुए हैं ।

उच्चारण आदि के कारण जिन्हें संस्कृत भाषा कठिन लगती हो ऐसे धर्माभिमुख वर्ग की दृष्टि से सर्वसाधारण लोकभाषा में 'सिद्ध सहस्रनाम वर्णन छन्द' की रचना भी उ० श्रीयशोविजयजी ने की है । इस छन्द की सम्पूर्ण प्रति उपलब्ध नहीं हुई है । किन्तु जो भाग उपलब्ध है उसका प्रथम प्रकाशन 'श्रीमद् यशोविजयोपाध्यायविरचित गुर्जर साहित्य संग्रह' नामक ग्रन्थ में हुआ है । इसी के आधार पर जैनधर्म प्रसारक सभा (भावनगर) द्वारा प्रकाशित 'अर्हन्नामसहस्र-समुच्चय' नामक पुस्तिका में छपे हुए विविध स्तोत्रों के साथ इस 'सिद्धसहस्रनामवर्णन छन्द' को पुनः मुद्रित किया है । इस पुनर्मुद्रण में प्रस्तुत छन्द के कर्ता उ० श्रीयशोविजयजी होंगे अथवा नहीं? ऐसी शङ्का की गई है । इसके विपरीत-प्रत्युत्तर' में 'यशोदोहन' ग्रन्थ में प्रो० कापडिया ने 'प्रस्तुत छन्द के कर्ता उ० श्री यशोविजयजी क्यों नहीं हो सकते ? यह बतलाया है । कापडिया के इस विधान की प्रस्तुत 'सिद्धनाम-कोश' पृष्टि करता है । प्रकाशित 'सिद्धसहस्रनामवर्णन छन्द' में एक हजार नाम नहीं हैं यह ठीक है' किन्तु उसके प्रारम्भ में मङ्गलाचरण नहीं है, इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि 'सिद्धनामकोश, के समान ही 'सिद्धसहस्रनाम वर्णन छन्द' में भी एक सौ अथवा उनसे अधिक शब्दों के समुच्चयरूप में विभाग किये हों..... ।'

इस प्रकार यह कृति कितनी महत्त्वपूर्ण है, यह पाठक स्वयं अनुभव कर सकते हैं ।

जब 'सहस्रनाम-स्तोत्र' की रचना हुई है तो उसके प्रयोग भी

१. द्रष्टव्य-इसका १३३वां पृष्ठ, प्रकाशक बाबचन्द गोपालजी बम्बई ।

होने ही चाहिये। इसी दृष्टि से मूल-स्तोत्र के अन्त में “**ओंकारादि नमोऽन्त**” पद युक्त प्रत्येक नाम के साथ चतुर्थी विभक्ति का एक-वचन लगाकर नामावली को भी प्रकाशित कर दिया है।

ऐसे स्तोत्र और नामावली के पुरश्चरण का भी विधान अन्य ग्रन्थों में निर्दिष्ट है तथा विभिन्न प्रकार की पाठ-प्रक्रियाएं भी वहां सूचित हैं। इनके बारे में हमने ‘**श्रीमदापदुद्धारकबटुक भैरवस्तोत्रम्**’ ग्रन्थ-की भूमिका में विस्तार से लिखा है, पाठकगण वहीं देखें।^१

इस नामावली में संगृहीत नामों का पाठ भी स्तोत्र के समान ही किया जा सकता है और पूजा के समय प्रतिमा पर अथवा यन्त्र पर प्रत्येक नाम के साथ पुष्प, फल आदि चढ़ाने का भी विधान है। वैदिक सम्प्रदाय में केशर, कुंकूम, बिल्वपत्र, पुष्प, फल (गीले और सुखे), दक्षिणा आदि चढ़ाये जाते हैं। काम्य-कर्मों की सिद्धि के लिए परमात्मा की कृपा प्राप्त करने में प्रत्येक नाम के साथ बीज मन्त्र, मन्त्र एवं अन्त में ‘अमुकं कार्यं साधय-साधय’ ऐसे पद भी जोड़े जाते हैं। साधना के इच्छुक अपनी-अपनी परम्परा और गुरुपदेश के अनुसार प्रयोग करके लाभ उठाएं, यही कामना है।

आत्म-निवेदन—विगत कुछ वर्षों से मुझे यह सौभाग्य प्राप्त हुआ है कि मैं अपनी अन्यान्य प्रवृत्तियों के साथ ही न्यायविशारद, न्यायाचार्य, महोपाध्याय श्रीमदयशोविजयजी महाराज की कृतियों के प्रकाशन में पूज्य आचार्य श्रीयशोदेव सूरिजी महाराज की सत्प्रेरणा से सहयोगी बना और इसी के परिणाम-स्वरूप **स्तोत्रावली** (हिन्दी अनुवाद सहित) तथा (दो उल्लासों पर श्रीयशोविजयजी महाराज द्वारा रचित टीका और उसके हिन्दी अनुवाद सहित) ‘**काव्यप्रकाश**’ का प्रकाशन हो चुका है। अब अन्य कुछ ग्रन्थों का प्रकाशन भी शीघ्र हो रहा है।

१. इसका प्रथम संस्करण समाप्त है। द्वितीय संस्करण रंजन पब्लिकेशन्स, दरीवाँ, दिल्ली-६, से छप रहा है।

पूर्वोक्त ग्रन्थों में प्रधान सम्पादक के रूप में आचार्य श्रीयशोदेवसूरि जी महाराज ने विस्तार-पूर्वक भूमिकाएं लिखी हैं और मुझे भी साथ ही उपोद्धात लिखने में पूरा मार्ग निर्देशन किया है। ऐसी अपूर्व तन्मयता, शास्त्रनिष्ठा एवं श्री उपाध्याय जी महाराज की समग्र कृतियों को प्रकाश में लाने की उत्कृष्ट अभिलाषा रखकर उसके लिए निरन्तर संलग्न रहने वाले पूज्य आचार्य श्री यशोदेवसूरि जी महाराज के व्यक्तित्व एवं कृतित्व से हमारा पाठक-समुदाय भी परिचित होकर प्रेरणा प्राप्त करे इस दृष्टि से उनका संक्षिप्त जीवन चरित्र भी यहां देना मैं आवश्यक समझता हूं। जो कि इस प्रकार है—

प्रधान सम्पादक आचार्य श्री यशोदेवसूरि जी महाराज

जन्म एवं परिवार

गुजरात की प्राचीन दर्भावती नगरी आज 'डभोई' नाम से प्रसिद्ध है। इस ऐतिहासिक नगरी में वि. सं. १९७२ की पौष शुक्ला द्वितीया के दिन बीसा श्रीमाली जाति के धर्म-परायण सुश्रावक 'श्री नाथालाल वीरचन्दशाह' के यहां पुण्यवती 'राधिका बहिन' की कोख से आपका जन्म हुआ। आपका नाम 'जीवनलाल' रखा गया। आपके तीन बड़े भाई और दो बड़ी बहिनें थीं।

आपके जन्म से पूर्व ही पिता परलोकवासी हो गए थे। पाँच वर्ष की आयु में माता का भी स्वर्गवास हो गया। इस प्रकार बाल्यावस्था में माता-पिता की छत्रछाया उठ गई थी, किन्तु ज्येष्ठबन्धु नगीन भाई ने बड़ी ही ममता से आपका लालन-पालन किया, अतः माता-पिता के अभाव का अनुभव नहीं हुआ।

विद्याभ्यास तथा प्रतिभा-विकास

आप पाँच वर्ष की आयु में विद्यालय में प्रविष्ट हुए और धार्मिक पाठशाला में जाने लगे।

नौ-दस वर्ष की वय में संगीत-कला के प्रति मुख्यरूपेण आकर्षण होने के

कारण सरकारी शाला और जैनसंघ की और से चल रही संगीत-शाला में प्रविष्ट हुए तथा प्रायः ६-७ वर्ष तक संगीत की अनवरत शिक्षा प्राप्त करके संगीत विद्या में प्रवीण बने । आपकी ग्रहण-धारण शक्ति उत्तम होने से दोनों प्रकार के अभ्यास में आपने प्रगति की । सुप्रसिद्ध भारतरत्न फैयाजखान के भानेज श्री गुलाम रसूल आपके संगीत-गुरु थे । आपका कण्ठ बहुत ही मधुर था और गाने की पद्धति बहुत अच्छी थी, अतः आपने संगीत गुरु का अपूर्व प्रेम सम्पादित किया था ।

जैनधर्म में पूजाओं को विशिष्ट स्थान प्राप्त है । इन पूजाओं में सित्तर भेदी पूजा उसके विभिन्न ३५ राग-रागिनियों के ज्ञान के साथ आपने कण्ठस्थ कर ली तथा प्रसिद्ध-प्रसिद्ध समस्त पूजाओं की गान-पद्धति भी सुन्दर राग-रागिनी तथा देशी-पद्धतियों में सीख ली और साथ ही साथ गाने की उत्तम प्रक्रिया भी सम्पादित की ।

विशेषतः नृत्यकला के प्रति भी आपका उतना ही आकर्षण था, अतः उसका ज्ञान भी प्राप्त किया और समय-समय पर विशाल सभाओं में उसके दर्शन भी कराए ।

इस प्रकार व्यावहारिक तथा धार्मिक शिक्षण, संगीत एवं नृत्यकला के उत्तम संयोग से आपके जीवन का निर्माण उत्तम रूप से हुआ और आप उज्ज्वल भविष्य की भाँकी प्रस्तुत करने लगे । परन्तु इसी बीच जानी सद्गुरु का योग प्राप्त हो जाने से आपके अन्तर में संयम-चरित्र की भावना जगी और आपके जीवन का प्रवाह बदल गया, इस में भी प्रकृति का कोई गूढ संकेत तो होगा ही ?

भागवती दीक्षा और शास्त्राभ्यास

वि. सं. १९८७ की अक्षय तृतीया के मङ्गल दिन कदम्बगिरि की पवित्र छाया में परमपूज्य आचार्य श्री विजय मोहन सूरीश्वर जी के प्रशिष्य श्री धर्मविजयजी महाराज (वर्तमान आचार्य श्री विजय धर्म सूरीश्वर जी महाराज) ने आपको भागवती दीक्षा देकर मुनि श्री यशोविजयजी के नाम से अपने शिष्य के रूप में घोषित किया ।

इस प्रकार केवल १६ वर्ष की अवस्था में आपने संसार के सभी प्रलोभनों का परित्याग करके साधु अवस्था-श्रमण जीवन को स्वीकार किया। तदनन्तर पूज्य गुरुदेव की छाया में रहकर आप शास्त्राभ्यास करने लगे, जिसमें प्रकरण ग्रन्थ, कर्मग्रन्थ, काव्य, कोष, व्याकरण तथा आगमादि ग्रन्थ का उत्तम पद्धति से अध्ययन किया और अपनी विरल प्रतिभा के कारण थोड़े समय में ही जैन धर्म के एक उच्चकोटि के विद्वान् के रूप में स्थान प्राप्त किया।

बहुमुखी व्यक्तित्व

आपकी सज्जन-शक्ति साहित्य को प्रदीप्त करने लगी और कुछ वर्षों में तो आपने इस क्षेत्र में चिरस्मरणीय रहे ऐसे मंगल चिह्न अंकित कर दिए जिसका सक्षिप्त परिचय इस ग्रन्थ के अन्त में दिया गया है।

आप जैन साहित्य के अतिरिक्त शिल्प, ज्योतिष, स्थापत्य, इतिहास तथा मन्त्रशास्त्र के भी अच्छे ज्ञाता हैं, अतः आपकी विद्वत्ता सर्वतोमुखी बन गई है तथा अनेक जैन-जैनेतर विद्वान्, कलाकार, सामाजिक कार्यकर्ता तथा प्रथम श्रेणी के राजकीय अधिकारी और नेतृवर्ग को उसने आकृष्ट किया है।

आप अच्छे लेखक, प्रियवक्ता एवं उत्तम अवधानकार भी हैं।

उदात्त कार्यकलाप

जीवन के विविध क्षेत्रों में विकास-प्राप्त व्यक्तियों के विस्तृत परिचय के कारण आपकी ज्ञानधारा अधिक विशद बनी है, आपके विचारों में पर्याप्त उदात्तता आई है तथा आप धर्म के साथ ही समाज और राष्ट्र-कल्याण की दृष्टि को भी सम्मुख रखते रहे हैं।

धार्मिक अनुष्ठानादि में भी आपकी प्रतिभा झलकती रही है तथा उसके फलस्वरूप उपधान-उद्यापन, उत्सव-महोत्सव आदि में जनता की अभिरुचि बढ़े ऐसे अनेक नवीन अभिगम आपने दिए हैं। जैन-जैनेतर हजारों स्त्री-पुरुष आप से प्रेरणा प्राप्त करके आध्यात्मिक उत्कर्ष प्राप्त कर पाए हैं।

अष्टग्रहयुति के समय 'विश्वशान्ति जैन आराधना सत्र' की योजना आपके मन में स्फुरित हुई और पूज्य गुरुदेवों की सम्मति मिलने पर बम्बई महानगरी

में उसका दस दिन तक अभूतपूर्व आयोजन हुआ । उस समय निकाले गए चलसमारोह में प्रायः एक लाख मनुष्यों ने भाग लिया था ।

इसके पश्चात् राष्ट्र के लिए सुवर्ण की आवश्यकता होने पर आप की ही प्रेरणा से 'राष्ट्रीय जैन सलाहकार समिति' की रचना की गई और उस समय के गृहमंत्री श्री गुलजारीलाल नन्दा को बुलाकर उन के माध्यम से १७ लाख का सुवर्ण गोल्डबॉण्ड के रूप में अर्पित किया गया ।

अन्य साहित्यलक्ष्य तथा कलाप्रेमी

मुनिजी की विशिष्ट प्रतिभा से साहित्य और कला के क्षेत्र में उपयोगी संस्थाओं की स्थापना हुई है । आपके मार्गदर्शन में ही 'यशोभारती जैन प्रकाशन समिति' तथा 'जैन संस्कृति कलाकेन्द्र' उत्तम सेवा कार्य कर रहे हैं और इसके अन्तर्गत 'चित्रकला निदर्शन' नामक संस्था भी प्रगति के पथ पर पदार्पण कर रही है ।

आपकी साहित्य तथा कला के क्षेत्र में की गई सेवा को लक्ष्य में रखकर जैन समाज ने आपको 'साहित्य-कला-रत्न' की सम्मानित पदवी से विभूषित किया है ।

भगवान् श्री महावीर के २५०० वें निर्वाण महोत्सव के निमित्त राष्ट्रीय समिति की जो रचना की गई उसमें आपकी विशिष्ट योग्यता को ध्यान में रखकर आपको 'अतिथि-विशेष' के रूप में लिया गया और इस समिति ने आपकी साहित्य-प्रतिभा, कल्पना-दृष्टि, शास्त्रीय ज्ञान एवं गम्भीर सूक्ष्म-बुद्धि का यथासमय लाभ लिया । इसी अवसर पर आपने भगवान् महावीर के समस्त जीवन का सचित्र दर्शन कराने वाला 'तीर्थंकर भगवान् श्रीमहावीर' नामक ग्रन्थ तैयार करके प्रकाशित किया ।

लोककल्याण की कामना

पूज्य श्री साहित्य के क्षेत्र में कुछ विशिष्ट योगदान करने की भावना तो रखते ही हैं, साथ ही मुख्य रूप से वर्तमान पीढ़ी के लाभ के लिए तथा जैनसंघ के गौरव की अभिवृद्धि के लिए जैन संघ का सर्वांगीण सहयोग प्राप्त होता रहा तो चित्रकला और शिल्पकला के क्षेत्र में अनेक अभिनव सर्जन करने तथा कुछ न कुछ नई देन देने की भी भावना रखते हैं । जैनसमाज,

जैन संस्कृति और जैन साहित्य का विदेश में भी गौरव बढ़े, जैनधर्म का प्रचार एवं पर्याप्त विस्तार हो और आनेवाली पीढ़ी जैन धर्म में रस लेती रहे, इसके लिए आप सतत चिन्तनशील हैं और तदनुकूल नये-नये मार्ग भी प्रशस्त करते रहते हैं ।

पू० मुनिजी के इस सर्वतोमुखी विकास में आपके दादागुरु प० पू० आचार्य देव श्रीविजय प्रतापसूरीश्वरजी महाराज तथा आपके गुरुवर्य प०पू० आचार्यदेव श्रीधर्मसूरीश्वरजी महाराज की कृपादृष्टि ने बहुत ही महत्वपूर्ण योग दिया है ।

फलतः आपके वैदुष्य, धर्म-कर्म के प्रति अनन्य निष्ठा एवं उत्तम साधना-सम्पन्नता से प्रभावित होकर पूज्य आ. श्रीविजय प्रतापसूरीश्वर जी महाराज के आदेश तथा अनेक जैनसंघों की विनति को स्वीकार करके वि. सं. २०३५ की मार्गशीर्ष शुक्ला ५ दि. ४-१२-७८ को भारत के प्रधानमंत्री श्री मोरारजी देसाई, गुजरात के मुख्यमंत्री श्री बाबुभाई पटेल आदि अनेक विशिष्ट व्यक्तियों की उपस्थिति में आचार्य पदवी प्रदान की गई तथा स्वयं प्रधानमंत्रीजी ने हजारों जनसमुदाय के बीच खड़े होकर आपके नामकरण की विधि सम्पन्न करते हुए आपका नाम 'श्रीयशोदेवसूरि' घोषित किया ।

इस प्रकार आचार्य श्रीयशोदेवसूरिजी महाराज अपनी बहुमुखी साधनाओं के द्वारा समाज का मार्गदर्शन कर रहे हैं ।

प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रकाशन के समय भी उन्हीं के द्वारा भूमिका लिखने के लिए मैंने महाराज श्री से आग्रह किया था, किन्तु उनकी विभिन्न धार्मिक एवं साहित्यिक प्रवृत्तियों में व्यस्तता के कारण उन्होंने मुझे निर्देश दिया कि यह कार्य मैं ही सम्पन्न करूँ । तदनुसार ही इस प्राक्कथन में उपयोग करने के लिए पर्याप्त सामग्री एवं मौखिक सुभाष भी प्रदान किये । एतदर्थ मैं आचार्य श्रीयशोदेवसूरि जी का पूर्ण आभार मानता हूँ ।

हमारा समाज इन अपूर्व रचनाओं के सौष्ठव से अपने जीवन को सन्मार्ग की ओर निरन्तर अग्रसर कर रहे, इस शुभकामना के साथ यह ग्रन्थ पाठकों के कर कमलों में प्रस्तुत है । — डा० ह्रद्रेव त्रिपाठी

आर्षभीय-चरित- महाकाव्यम्

ॐ

स्व० महोपाध्याय-श्रीमद्यशोविजयजीमहाराजः

न्यायविशारद-न्यायाचार्य-महोपाध्याय-
श्रीमद्यशोविजयगणिवर्य—
विरचितम्—

आर्षभीयचरित-महाकाव्यम्

[प्रथमतीर्थकर-श्री ऋषभदेवस्य चरित्रम् ।]

—: प्रथमः सर्गः :—

(१)

श्रुतस्थितेर्यः कमलालयो यशः,
पुपोष विश्वे वृषभासनोचितः ।
तमःप्रमाथी पुष्पोत्तमः शुचि—
मंहेश्वरः पातु स नाभिनन्दनः ॥

(२)

स एव देवः किल भिन्ननामभि-
विविच्य लोकैस्समुपास्यते सदा ।
पृथक्पृथक्तस्य फलार्पणे पुनः,
सहायतामञ्चति वासनाभिदा ॥

(३)

तदागमाब्धेरुपजीव्य जीव ां,
 परेऽपि गर्जन्ति घनाघना इव ।
 तदीयवृष्टेरपि भूमिभेदतो,
 विचित्रशस्योदयसम्पदोक्ष्यते ॥३॥

(४)

जगत्यशेषस्तद्रुपज्ञमज्ञता,
 निरासकृद्धर्मविधिः प्रवर्तते ।
 न शार्वरध्वान्तहरं विना रवे—
 रवेक्ष्यतेऽन्यस्य महोमहोदयम् ॥

(५)

मरुत्प्रियो रुद्धमरुत्पथोऽपि स,
 क्षमाधनोऽपि प्रथितोऽपरिग्रहः ।
 घनाघनाशोऽपि जलाशयोऽभिक्तो,
 न चिन्तनीयं चरितं महात्मनाम् ॥

(६)

अधः सुधाकुण्डगणं सुरापगां,
 यद्दूर्ध्वमन्वेति च तिर्यगम्बुधीन् ।
 वितृष्णभावोदितमप्यदो यज्ञः,
 सतृष्णमत्यद्भुतमातनोति तत् ॥

(७)

न जातु कोपात्कुटिलीकृते भ्रुवौ,
शरासने नैव शिरो न्यधीयत ।
स्वशक्तिमोघीकृतशेषसाधनः,
प्रताप एवास्य ततान दिग्जयम् ॥

(८)

ग्रहेषु भास्वानिव कान्तिसम्पदा,
सदाशयो युग्मिषु सर्वतोऽधिकः ।
प्रजाहितार्थं कृतसारसङ्ग्रहो,
बभूव भूमान् भरते स आदिमः ॥

(९)

सदा सुपर्वोत्लसितां घनाप्सरो—
विलासपूर्णमिमरावतीमिव ।
जनैर्विनीतैः कृतसूनृत्वाह्वयां,
पुरीं विनीतामयमन्वशाद् विभुः ॥

(१०)

धनस्य पूतौ धनदः प्रदत्तदृक्,
सदाऽस्य दास्य-स्थिर एव वासवः ।
दिशामभूवन्नधिपाइच्च रक्षका,
न लक्षकार्येष्वपि ये प्रमद्वराः ॥

(११)

असङ्ख्यशक्तेस्त्रिजगद्विभोः कियत्,
 त्रिशक्तियुक्तत्वमुखेन वर्णनम् ।
 गुणैरनन्तैः सहितस्य तस्य च,
 स्तुतिर्न शाङ्गुण्यमुदीर्य पूर्यते ॥

(१२)

अबाधयानेन तथा परस्परं,
 त्रिवर्गसेवा विधिवद् व्यधीयत ।
 यथाऽस्य सार्वत्रिकवैरवारिणः,
 स्वतोऽपवर्गोऽप्यनुकूलतां ययौ ॥

(१३)

यथा यथा नीतिमतिं करोत्यसौ,
 भवत्यनीतिः पृथिवी तथा तथा ।
 द्वयोर्विरोधः परिणामतश्च ने—
 त्यपूर्वमेतत्प्रभुराज्यकौशलम् ॥

(१४)

प्रसिद्धजीवाभयदातृतागुणात्,
 ततो न भेजे द्युसदां गुरुर्भयम् ।
 कुतोऽन्यथा याति तदीयवाग्मिता—
 गुणाभिभूतः स न कान्दिशीकताम् ॥

(१५)

स्वकीयगाम्भीर्यहृतः पयोनिधिः,
 समुच्छलन् वीचिकशान्तताडनम् ।
 अमुष्य सख्यं सृजतो मुखस्य किं,
 विधोः स्वसूनोर्न तनोति रोषणः ॥

(१६)

वदान्यभावादमुना विनिर्जितो,
 द्युसन्मणिः स्वर्गिमहीरुहैः समम् ।
 तथा व्यथामाप समुद्धृतां नतै—
 र्यतो न दुःखं किल पञ्चभिः सह ॥

(१७)

असङ्ख्यकालार्जितदातृतायशो,
 हृतं क्षणात्तेन वदान्यमौलिना ।
 न सङ्ख्ययैव व्यथयाऽपि पञ्चता—
 मजीगणन् स्वामिति कल्पभूरुहाः ॥

(१८)

न वेदना मे जनटङ्कदारणा—
 दिति प्रभौ दातरि रोहणोऽहृषत् ।
 विभज्य दद्यादयमर्थिने न मा—
 मिति स्वतः स्वर्णगिरिस्त्वकम्पत ॥

(१६)

हरिः कणेहत्य निपीत-तद्वचः,
 सुधां तृणायामि न मन्यते बुधः ।
 अतः कथं तत्र सुधा सुधावता,
 रसेन साम्यं ननु सङ्गतं भवेत् ॥

(२०)

व्रतं जिघृक्षु (क्षो)-भरतादिभूभुजां,
 कलाः पराः सादित-साधुचन्द्रमाः ।
 ददाति या मूर्ध्नि पदं भवस्य सा,
 कला किलैकाभिमतास्य योगिनः ॥

(२१)

शते सुतानां चिरकालमुद्धृतो,
 विभज्य दत्तोऽप्यमुना क्षमाभरः ।
 व्रते ततो नापचकर्ष स क्षणं,
 महाद्भुतं प्रत्युत वृद्धिमाप्तवान् ॥

(२२)

कचच्छलाद् मुष्टिचतुष्टयाद्भुवान्,
 विलुञ्चतु द्राक् चतुरः ऋधादिकान् ।
 न पञ्चमी मुष्टिरतिप्रयोजने—
 ऽत्यरक्षदिन्द्रार्थनया नया सताम् ॥

(२३)

व्रतत्रया मूर्ध्नि न केवलं निजा,
महात्मभिर्भक्तकृपाऽपि धार्यते ।
सुरोपरोधादिति रक्षितालका,
जगाविदं मुष्टिसमस्यया विभुः ॥

(२४)

प्रभूत्तमाङ्गस्थितिपावना स्म मा,
पतन्निमे भूरजसीति भावयन् ।
धृतान् स्ववस्त्रे निदधौ पयोम्बुधौ,
शचीपतिस्तेन विलुञ्चितान् कचान् ॥

(२५)

असौ धृतध्यानसुखस्थिरासनो,
जटावलीमण्डनमण्डितो बुधैः ।
अलक्ष्यताध्यात्मगुणैः फलैर्ग्रहि—
र्लतान्वितः कोऽपि तपोमहीरुहः ॥

(२६)

अभूदसावुन्नतधर्ममेघभाग्,
व्रतग्रहादादित एव किं विभुः ।
अटाटघमानामिति मूर्ध्नि तज्जटा—
मुदीक्ष्य साक्षादुदनायि योगिभिः ॥

(२७)

वृषाङ्कमेकं किल जाह्नवी श्रिता,
 श्रुतेति वार्त्ता सकलेऽपि मण्डले ।
 वृषाङ्कमेनं किमु तज्जिगीषया,
 कलिन्दकन्याऽपि जटात्मनाऽभजत् ॥

(२८)

समाधिसारैः समताकरग्रहे,
 न देहगेहे धवलीकृते किमु ।
 तदंसयोरुल्लसिता कचावलिः,
 परिस्फुरत्तोरणतामुपाययौ ॥

(२९)

व्रतोत्सवे कुन्तलसन्ततिविभोः,
 शिरःस्थिता कज्जलमञ्जुलप्रभा ।
 स्वयं समुत्तीर्णनबोधेः क्वचि—
 द्विलग्नसेवाललता श्रियं दधौ ॥

(३०)

द्विषां दृशोरुग्रविषं शुभस्पृशां,
 शरीरिणामेणमदाञ्जनं घनम् ।
 जटाऽस्य रेजे बहुधूमधोरणी,
 तपः कृशानोर्दुरितद्रुधूमरी ॥

(३१)

बभूव रत्नत्रययोगतो व्रते,
 प्रभुर्द्यु रत्नाच्चतुरश्वचतुर्गुणः ।
 नृपः सहस्रै रिति युक्तमुत्तमै-
 श्वचतुर्गुणै रंशुभिरन्वगम्यत ॥

(३२)

अमी हि कच्छप्रमुखाः सुखासिका-
 मविस्मरन्तः प्रथमं प्रसादजाम् ।
 अथापि नः स्तात् प्रभुतुल्यशीलता-
 लताफलप्राप्तिरिति व्रतं ललुः ॥

(३३)

अमी चतुर्मुष्टिकलोचमीशितुः,
 पितुः प्रजानामनुचक्रिरे सुखम् ।
 परीषहाहेर्जठरैक-जन्मनो,
 विनिग्रहे नो गरुडायितं पुनः ॥

(३४)

रथाश्वकन्येभधनादिभिर्जनै-
 नं दीयमानैरुपयुक्तमीशितुः ।
 सुरद्रुवद्दुर्लभदर्शनेऽत्र तै-
 नं च प्रतीता सुलभान्नपात्रता ॥

(३५)

अनेन मे वार्षिकदानवर्षिणा,
 न वास्तु वस्तुं भुवि किञ्चिदपितम् ।
 इतीव भिक्षोपननाम नाम न,
 प्रभुं श्रितं भिक्षुदृशां समत्सरा ॥

(३६)

अहो परब्रह्मनिरुध्यमानसा,
 विनाशवृत्तिं स तदाऽन्वभूद् विभुः ।
 इतीव कच्छप्रमुखास्ततः पृथग्,
 बभूवुरध्वैति सतीर्थ्यतां गताः ॥

(३७)

द्विधाऽप्यभवतैः प्रभुसङ्गवञ्चितै-
 र्बुभुक्षितैस्तैर्ब्रतमेव भक्षितम् ।
 जनावनं मुक्तिपथं विहाय ते,
 वनं भवाध्वानमिव प्रपेदिरे ॥

(३८)

व्यचिन्तयंश्चेदमहो तनोर्धनो-
 पवासवासीभिरजस्रतक्षणम् ।
 यथा मुनीनां व्रतरक्षणं तथा,
 न दुष्करं चित्तनिरोधलक्षणम् ॥

(३६)

विलीयते हन्त कदाचिदागता,
 परा विपत्तौष्टक-शान्तिकादिभिः ।
 सदापतत्क्षुद्विपदो निवारणं,
 न मूलमन्त्रादिकमस्ति किञ्चन ॥

(४०)

गुणा विवेकप्रमुखाः कुकर्मणा,
 बलीयसौदर्यहुताशने हुताः ।
 कुकीर्त्तिमूर्त्तीर्दधतेऽत्र भस्मसा-
 द्भ्रविंणवः कस्य न सञ्चरिणवः ॥

(४१)

सुवृत्तसङ्गीतमदान्धमानिनी,
 प्रणीतचेतोविकृतिक्षुदुद्भवाः ।
 क्रमाद् बलाढ्यास्तदयं कलाभृतः,
 कलावृतौ दर्शयतीव दर्शताम् ॥

(४२)

जगद्धितार्थं जलराशिसम्भवं,
 व्यधायि कण्ठे गरलं स्मरद्विषा ।
 न कोऽपि देवः स कृपालुरस्ति यः,
 समुद्धरेत् क्षुद्विषमङ्ग सङ्गतम् ॥

(४३)

पुरं प्रविश्याक्षकपाटपाटना-
 पुरस्सरं लुण्ठितसारसम्पदः ।
 करोति यः क्षुत्कटकस्य निग्रहं,
 तमन्नदेवं समुपास्महे वयम् ॥

(४४)

ददाति यो नावसरेऽन्नमार्थिने,
 प्रदाह्य चिन्तासु परं प्ररोदयन् ।
 स्वयं चितायां ज्वलतः स्वरोदकात्,
 स बद्धमुष्टिर्मृतकाद् विशिष्यते ॥

(४५)

वनीपकानां भृतया यदाशया,
 यशः प्रसूते समयेऽन्नदायकः ।
 समागतादेव गुणान्निदानतो,
 भवेत्तदाशाभरणंकलोलुपम् ॥

(४६)

भवेन्न तुङ्गानतमूर्धनामिनी,
 व्यथोदरव्यन्तरनिर्मिता यदि ।
 किमर्थमथ्यन्त इमेऽतिभीषणाः,
 कृपाणतुल्याः कृपणास्तदा जनैः ॥

(४७)

अपि प्रबुद्धैरुदरार्थमर्थिभिः,
 समं धनान्धंः क्रियते दुरोदरम् ।
 न हार्यमाणं छलपाशपातनाद्,
 वृथा सुवर्णं निजवृत्तमीक्ष्यते ॥

(४८)

कुठारिकामानकपाटपाटने,
 विलज्जता नाट्यनटीपटीयसी ।
 विचित्रवंशस्थितिचित्रलुम्पने,
 मषीसखीयं जठरोद्भवा व्यथा ॥

(४९)

इमां जगद्भ्रूक्ष्णराक्षसीं सुधां,
 निरोद्धुमेको भगवान् प्रगल्भते ।
 अलाभलाभाजितदैन्यविस्मय-
 व्यपेतचेताः स हि योगिपुङ्गवः ॥

(५०)

यथा करिष्यत्ययमेष नः प्रभु-
 स्तथा करिष्याम इति स्वनिश्चयम् ।
 वयं तु हित्वा न परं जगद्गुरोः,
 स्वचेतसोऽपि प्रब्रलं त्रपामहे ॥

(५१)

वसुव्ययादाददत्तेऽप्यसुव्ययाद्,
 यदाश्रवस्थैर्ययशोमनोषिणः ।
 तदेव चेदात्मकरागतं हृतं,
 तदा किमस्थाप्यत नो बुभुक्षया ॥

(५२)

पुरा न पृष्टो नियमस्थितिं प्रभु-
 र्ब्रूते तु पृष्टोऽपि स नाह किञ्चन ।
 करोति किं लक्षणया न साम्प्रतं,
 गृहे गतानां भरतो व्रतोत्सवम् ॥

(५३)

ततो विनीतास्त्वटवीयमेव नः,
 कुटुम्बिनोऽमी तरवो नवोदयाः ।
 मृगाश्च मित्राणि मृगारिदारित-
 द्विपेन्द्रचर्माणि च वस्त्रसञ्चयाः ॥

(५४)

निकुञ्जगुञ्जन्मधुपालिलालितै-
 द्विजस्वरैरस्त्वह तूरपूरणम् ।
 प्रभातसम्पादितमङ्गलारवाः,
 शृगाल-बालाश्च भवन्तु बन्दिनः ॥

(५५)

प्रदर्शयन्तामिह नृत्यपात्रतां,
 सुमोदिताः पल्लवसङ्गता लताः ।
 कुतूहलाच्छैलतटीमुपेयुषां,
 मृधं च मत्तद्विरदा रदारदि ॥

(५६)

सृजत्वसौ बालमरालकूजितैः,
 करक्वणत्कङ्कणनादसादरम् ।
 स्ववीचिभिर्वीजितचारुचामरा,
 सुरापगा वारविलासिनीरसम् ॥

(५७)

त्रिलोकभर्त्रापि हि या स्वयं धृता,
 जटैव निश्छत्रधिया धिनोतु सा ।
 तदेकदा सत्त्वयशः शिरःस्थितं,
 कथं नु नेतां विशदीकरिष्यति ॥

(५८)

प्रयातु पाटीर[र]जोव्रजौचिती-
 मिहाङ्गसंसर्गि सदैव भस्म नः ।
 प्रदत्तसङ्कल्पसुखाय कल्पतां,
 निशीथतल्पाय शिला किलाश्मनः ॥

(५९)

अमी इति स्वान्तसमीरचापल-
 प्रयुक्तयोगप्रभृताहृतार्तयः ।
 भवच्च कं योगमृतेऽपि योग्यतां,
 जिनावधानेन तपोभृतो दधुः ॥

(६०)

चिरान्निबद्धोरुजटैर्विनिमित्त-
 प्रवालमूलाम्बुफलादिवृत्तिभिः ।
 वियोगिभिस्तरुपगङ्गमीदृशैः,
 स्थितं सरङ्गैरिव जङ्गमैर्द्रुमैः ॥

(६१)

विनाऽपि तैर्विश्वविभुस्तु केवलः,
 सुरद्रुमः शेषमहीरुहैरिव ।
 विदिद्युते सौरभमुद्गिरन् यश-
 स्त्रिलोककुक्षिम्भरिपुण्यपुष्पितः ॥

(६२)

ततान धूमायितमादिमस्तनो,
 यदाकलत्वात्त विभोः परीषहः ।
 फलोदये ध्यापुरसालभूरुह-
 स्तदा ययौ दोहदधूपधूमताम् ॥

(६३)

तनुं कृशीकृत्य हृताणुसञ्चया,
 कया दिशा क्षुत्कृतमन्तुरीशितुः ।
 यतस्तदा तैरणुभिः परिस्कृ(ष्कृ)तं,
 बभूव पुण्याङ्गममुष्य मेदुरम् ॥

(६४)

शशाक नैव क्षुदमुष्य बाधितुं,
 दिगम्बराशासहकृत्वरी धियम् ।
 इमां विबाधेत हि मोहवासना,
 प्रभोर्बबाधे प्रतिसङ्ख्ययैव सा ॥

(६५)

छलादुरीरथ (दीर्य) त्क्षुधमान्तरद्विषां,
 प्रति त्रिलोकीपतिमस्त्रमोचनम् ।
 अधीरतापर्यवसायि नाभवन्,
 मनीषितस्फूर्तिमदात्मकीर्तये ॥

(६६)

प्रभोस्तितिक्षामुपवीक्ष्य तादृशीं,
 क्षुधाऽपि सम्यक्त्वमिवाध्यगम्यत ।
 अरक्षि साक्षीकृतविश्वचक्षुषा,
 क्षुधोऽनुबन्धः परतो न वत्सरात् ॥

(६७)

अथ प्रभुः पारमहंस्य-वासना-
 विशीर्णनिःशेषविकारसारधीः ।
 भ्रमन्तनेकेषु कुलेष्वसम्भ्रमा-
 दनाप्तभैक्षप्रसरत्तपोबलः ॥

(६८)

विशिष्टपात्रप्रतिलम्भतो नृणां,
 प्रमोदबाष्पैर्द्वृतलोचनं पुरा ।
 गृहाद् विनिर्यन्नकृतप्रतिग्रह-
 स्ततश्च शोकाश्रुभिरिष्टवञ्चनात् ॥

(६९)

प्रतिग्रहेणानुगृहाण मेदिनीं,
 परोपकाराद् विमुखोऽत्र मा स्म भूः ।
 जनस्य भक्त्या ललितालकच्छला-
 दितीव कर्णान्तमुपेत्य शिक्षितः ॥

(७०)

द्विदृक्षुरीयासमितिच्छलाद् रसा-
 तले प्रविष्टानपि कर्मवैरिणः ।
 तपोऽर्चिषा भानुरिवातिदुस्सहो,
 जगद् दृगासेचनः (तः) सुधांशुवत् ॥

(७१)

दधत् परं सर्वसहिष्णुतागुणं,
 वसुन्धरातोऽपि वसुन्धरागुरुः ।
 महानिलादप्रतिबन्धसन्धया,
 विशेषवान् नित्यवशीकृतानलः ॥

(७२)

विशारदः शारदवारिदृप्तता-
 निवारिणीमाकलयन् प्रसन्नताम् ।
 अनन्तपद्मः परिबिभ्रदुच्चकै-
 रलेपतां पद्मदलातिशायिनीम् ॥

(७३)

अभीष्टभूयः सुमनोरसो व्रजन्,
 पुरात् पुरं भृङ्ग इवाब्जमब्जतः ।
 पुरन्दरद्रङ्गमदोग्रताहरं,
 पुरं गजैकोपपदं व्यभूषयन् ॥

(७४)

स तत्र गत्वा रुचिरं गृहे गृहे,
 प्रदीयमानं द्रविणाद्यनाददत् ।
 अकालकोलाहलसङ्कुलं नभो,
 न लाति ने[ते]ति जनैरकारयत् ॥

(७५)

विभोः सः हेलोद्दलिताघपर्वत-
 व्रजोच्छलत्पुण्यमहापयोनिधेः ।
 प्रवृद्धवेलोजितगर्जितभ्रमं,
 ततान संक्षोभितपौरयादसः ॥

(७६)

प्रवर्धमानं विनिरुद्धदिग्गणं,
 गुणं गुणित्वेन नभो बभार तम् ।
 कथञ्चिदेवोपहितत्वमस्पृशन्,
 ममौ न स श्रोत्रशते तु देहिनाम् ॥

(७७)

यशोनिधिः सोमयशःसुतोऽथ तं,
 निशम्य कर्णेन स कर्णपुङ्गवः ।
 किमेतदित्याहितसम्भ्रमो निजं,
 नभोलिहं सौधगवाक्षमागतः ॥

(७८)

बुभुत्सुरेतस्य निदानमादितो,
 विनिक्षिपन्नक्षि विदिक्षु दिक्षु च ।
 भ्रमन्तमन्तःकरणैः सहाङ्गिनां,
 सम्भाग्यवन्तं भगवन्तमैक्षत ॥

(७६)

विना न हर्षाश्रुभिरक्षिवञ्चितं,
 मुखाम्बुजं नापि विकासमन्तरा ।
 वपुर्विना नो पुलकावगुण्ठनं,
 कराद् ऋ(वृ)ते नाञ्जलिबन्धसन्धया ॥

(८०)

पदोः प्रमादोऽभिगतौ न निर्ममे,
 न च त्वयि स्वादुगिरोऽपि निर्ममे ।
 धृता स लक्ष्म्या न निजा न तत्यजे,
 न ते नमोऽकारि न दुष्कृतत्यजे ॥

(८१)

अयं जनस्त्वां न च नोपतिष्ठते,
 स्वशक्तितो भानुमिवाधर्षपूजया ।
 कथं तुदेन्नानुचितं च कण्टकै-
 स्तथाप्ययं ते भूतकाननुग्रहः ॥

(८२)

गूहाङ्गणं नो निजपादपङ्कजै-
 स्त्वयाऽर्चयित्वा यदि नीतमर्च्यताम् ।
 अशौचसम्भावनया प्रतिग्रहात्,
 तदा पुनस्तर्कमलम्भि चर्च्यताम् ॥

(८३)

अथापि पश्याभिमुखं मुखेन्दुना,
 दिवापि विश्राणित-कौमुदीमहः ।
 अनाद्यप्रज्ञेषु निवेदिताशयो,
 भृशं भवास्मासु कृपापयोनिधिः ॥

(८४)

मनस्विनाऽज्ञो यदि बोध्यते जनो,
 निजाशयं न क्षतिमेति तावता ।
 कृपालता प्रत्युत तस्य पीनता,
 फलद्वयेनैकपदेऽधिगच्छति ॥

(८५)

गृहेषु सर्वोत्तममस्तु वस्तु नः,
 कृतार्थमंहि द्वयसेवनात् तव ।
 गिरोत्तमर्णेन सुधां प्रदाय न-
 स्त्वयाधमर्णत्वमपि व्यदस्यताम् ॥

(८६)

इति ब्रुवाणैर्मनुजैरितस्ततो,
 वृतं विनीतैरभिनीतिभक्तिभिः ।
 मतङ्गजां मत्तमिवाभिसान्त्वने,
 सगर्वगन्धर्वकलाविलासिभिः ॥

(कुलकम्)

(८७)

निरीक्ष्य तं चेतसि स व्यचिन्तयत्,
 किमेष भास्वान् न स यत्प्रतप्तभाः ।
 निशाकरः किं न स यत्कलङ्कवान्,
 सुरप्रभुः किं न स भूरिरन्ध्रदृग् ॥

(८८)

स्मरः किमङ्गी न स भस्मयद्भुव-
 ऋधग्निजं तत्किमयं सुरद्रुमः ।
 न सोऽपि यस्माद् मितकामितप्रदः,
 प्रदत्तविश्वामितमुद्गरस्त्वयम् ॥

(८९)

किमेष विष्णुर्न स यज्जनार्दना-
 भिधो हरः किं न स यन्महानटः ।
 किमेष वेधा न हि सोऽपि यज्जगद्-
 विनिमित्तौ व्याकुलधीः कुलालवत् ॥

(९०)

किमेष मेरुर्न यतोऽतिकोमलो,
 महाद्विपः किं न यतो मदोज्ज्वलतः ।
 तदेष चिन्तामणिरस्तु वस्तु स-
 न्न चिन्तया यद्रहितो ह्ययं मणिः ॥

(६१)

बहिर्मह[ः] किञ्चिदगोचरो गिरां,
 पटावृतस्येव महामणेरहो ।
 अमुद्रितं स्फूर्जति मुद्रमास्य यत्,
 तदंशतः स्युः शतमंहि'मालिनः ॥

(६२)

विचार्यते स्वोपमिति-स्थलं यथा,
 कथा समाये(ने)षु विशीर्यते तथा ।
 व्रजन्ति बन्धं विशरारुधर्मकाः,
 करे गृहीताः सिकताः कियच्चिरम् ॥

(६३)

अमुष्य संशुद्धगुणाब्धिमक्षमो,
 विगाहितुं चित्तविचारणोडुपः ।
 कलङ्कमुक्तं यदुशन्ति निष्कलं,
 तदेव धामेदमुदीतमादिमम् ॥

(६४)

बहिः प्लवन्तामिह भूरिकल्पनाः,
 स्पृशन्ति ता नास्य गुणं मनागपि ।
 अनेकमायाजलचक्रचुम्बनाद्,
 रसो न गृह्येत हि तात्त्विकाम्बुनः ॥

१- वंक्रयादयश्च [उ० सं०] इत्यनेन साधुः । ह्रःचः उभयश्रुतिवानयं शब्दः ।

(६५)

अलक्षिताभ्यन्तरलक्षणः प्रभु-
 बंहिर्गुणैरेष तु तैर्न नूयते ।
 पुरप्रतोलीपरिखादि वर्णने,
 न वर्णितः स्यात् खलु तत्त्वतो नृपः ॥

(६६)

अदस्तुलाभृत्परदेवगर्हणा-
 प्यनर्हणामञ्चति काव्यशिल्पिना ।
 विचारकृद् व्याहृतिमीक्षतेऽत्र किं,
 न सिद्धचसिद्धयोः स्फुटनिग्रहस्थलाम् ॥

(६७)

तपोनिधिः सत्यविधिश्चिदर्यमा,
 चरित्रचूडामणिरेष शाश्वतः ।
 इति प्रतीतिर्यदि योग्यतां व्रजे-
 दमुत्र वित्रासितभावशात्रवे ॥

(६८)

अमूदृशं रूपमनुत्तरं पुरा,
 मया दृगातिथ्यमनायि तायिनः ।
 अमू समूढामृतपानलालसे,
 कुतोऽन्यथादृष्ट इवात्र धावतः ॥

(६६)

अचिन्त्यशक्तिः कुरुते क्षणान्नवं,
 पुरातनं प्रेम दृगेव देवता ।
 विनैव गोचक्रकृतां व्यवस्थितं [ति],
 मनोरथं वाहयति स्वसम्मुखम् ॥

(१००)

विलोकनादेव गरीयसां गुरो-
 र्बभूव मे क्षीरसमुद्रमज्जनम् ।
 अमुद्रमुद्वद्यञ्जितसंस्तवस्मृते-
 रथास्तु पीयूषपयोधिमग्नता ॥

(१०१)

अपोहमूहं च किलास्य तन्वतो,
 गतस्य सम्मोहमिति क्षणं हृदा ।
 स्ववासनानुद्भवयामिनीव्यये,
 बभूव जातिस्मरणारुणोदयः ॥

(१०२)

स तेन पूर्वं जगदीशसंस्तवं,
 मुमुक्षुमागं च यथास्थितं विदन् ।
 इदं हृदन्तर्निदधे नृपात्मभू-
 विचित्रतत्कार्यचरित्रविस्मितः ॥

(१०३)

अर्वाषि वर्षं विषमैः परीषहै-
 रमोघधाराधरतुल्यकर्मणा ।
 न बिन्दुरेकोऽप्यलगच्चयैरलं,
 समाधिसच्छत्रमिदं विभो स्तुमः ॥

(१०४)

न संविदानोऽपि परीषहद्विषां,
 चमूं जिगीषुर्विधिमाह भैक्षगम् ।
 उदात्तशान्तत्वमिदं जगत्पतेः,
 रुमाधिहारेऽञ्चति नायकश्रियम् ॥

(१०५)

स्वयं तपोभिः प्रबलैः प्रतप्यते,
 तनोति तापापहृतिं च मादृशाम् ।
 अयं गुणः किं जगृहे भवच्छिदा,
 सविद्युतः शान्तदवात् पयोमुचः ॥

(१०६)

मदर्थसंरक्षितदानकौशल-
 प्रजापरं कौशलमध्यजीगपत् ।
 न संनिधौ वा व्यवधौ निजं जनं,
 विभुर्विभक्तव्यमपेक्ष्य वञ्चयेत् ॥

(१०७)

अलक्षितस्वार्थगतिः प्रयत्नवा-
 निहागतोऽसौ मम बोधिसिद्धये ।
 रवीन्दुमेघोपमया महात्मनां,
 परोपकाराय विनिमित्तं जनुः ॥

(१०८)

अमी जनाः स्वामिसुखाय नेशते,
 यदन्नकाले द्रविणादिदायिनः ।
 विवेकनेत्रावरणत्वमीयुषी,
 ततः क्वचिद्भ्रुकलाऽपि दोषभाग् ॥

(१०९)

गुणान्वये भद्रकतातिशोभना,
 तमन्तरेणानुक्रोत्यशोभना ।
 सुधांशुयोगे रजनीं स्फुटोदयां,
 समुद्धतध्वान्तमयीं तदत्यये ॥

(११०)

फलं विना यामधिकार्पणादपि,
 स्थले जलं स्वाद् यथा न लेभिरे ।
 अमी समीहाविषयां सृजन्तु तां,
 सुपात्रदानैकविधेरभिज्ञताम् ॥

(१११)

अलं परासङ्गतिचुम्बिचेतसा,
 कथं मयीदं घटतामिहागते ।
 अभूयत स्वप्नमहीरुहैस्त्रिभि-
 र्यदुद्गता स्वप्नमहीरुहाङ्कुरैः ॥

(११२)

ध्रुवोपकार्येऽप्युपकारिता विभोः,
 प्रदर्शिता स्वप्नगणेन या मयि ।
 क्व भेददृष्टौ घटतां विपर्यया-
 दभेदसृष्टावपि सा द्वयागतेः ॥

(११३)

प्रभुप्रभावादथवा न दुर्घटं,
 किमप्यदो भक्त्युचितप्रदो हि सः ।
 न नाम तद्दानकलास्वधीतिनो,
 मरुद्गवीकामघटामरद्रुमाः ॥

(११४)

कपालनाशात्कलशक्षये यथा,
 पुरातनन्यायमताभिमानिनाम् ।
 विभोरथ स्वाङ्गणभूषणे तथा,
 क्षणं विलम्बोऽपि न मे प्ररोचते ॥

(११५)

असाविदं ध्यायति यावदात्मना,
 जगद्विभुस्तावदभूषयद् गृहम् ।
 विनीतभृत्या नवमागतं घटं-
 स्तदैव तत्रेक्षुरसं डुडौकिरे ॥

(११६)

प्रदेयचित्तस्वमनोविशुद्धतां,
 तदा त्रिवेणीमिलनोपमां विदन् ।
 प्रकर्षिहर्षाश्रुभरप्लुतेक्षणो,
 जगत्प्रभुं भूपतिसूनुरुचिवान् ॥

(११७)

गृहाण भिक्षां गतदूषणामिमां,
 विमानवासिप्रणतां ह्लिपङ्कजः ।
 तवास्त्वदानीं प्रसरत्करप्रभा-
 भरैरिदं कुङ्कुमपङ्किलं नभः ॥

(११८)

इतीरिते भूमिभुजस्तनूभुवा,
 जगद्विभुर्दक्षिणहस्तमूचिवान् ।
 त्वया यथा दानकलोपदर्शिता,
 प्रदर्शनीया ग्रहणेऽपि सा तथा ॥

(१६१)

परोपकारार्थमधःस्थितिः करा-
 न्न दातुरेतिह मनस्विर्गहिता ।
 अधःस्थितैरेव फणाभृतां फणै-
 र्वसुन्धरा भूरिधराधराधृता ॥

(१२०)

विधाय वामं प्रति वाम्यवासनां,
 त्वया न हेयावसरोचिती निजा ।
 रणे जयं ह्येष ददौ भवान् मुखं,
 चकार दानादुपशान्तनिःस्वताम् ॥

(१२१)

गुणग्रहात् प्रेम मिथः समुल्लसे-
 न्न दोषदृष्टिस्तु सुखाय कस्यचित् ।
 विवादभाजोः करभामृताशिनो-
 नं क्लृप्तयुक्तिः कलहं व्यपोहति ॥

(१२२)

इमां स शिक्षामुपलब्धवान् गुरोः,
 करोऽथ सद्यः प्रससार दक्षिणः ।
 पयः पयोदः सरसीव धारया,
 बवर्ष तत्रेक्षुरसं नृपात्मभूः ॥

(१३२)

क्रमोच्चभूर्दातृमनो गिरेरिव,
स्फुटेव तत्पुण्यपटी गृहच्छटा ।
शिखेव तत्कौशलवारिधेः पृथू,
रराज धारंक्षुरसी विभोः करे ॥

(१२४)

समुत्थितां ह्येः पुरुषोत्तमस्य खात्,
सरित् पपाते त्युचितार्थवित्तदा ।
विभोः करोत्येक्षुरसापगा ययौ,
प्रवृद्धपूरेण किमूर्ध्वमम्बरम् ॥

(१२५)

विभोः करस्थेक्षुरसं नभोलिहं,
प्रवृद्धपूरेणोदधिदङ्कया विधुः ।
स्वतातबुद्धेरसि कियदञ्जसा,
तदेव नामस्यत चेद् घटोद्भवम् ॥

(१२६)

विधोः सुधायां मधुरो रसः किया-
निति स्वमाधुर्यगुणेन गर्वितः ।
विभोः करस्थेक्षुरसः शिखामिषात्,
कुतूहली किं गगनं स्म गाहते ॥

(१२७)

मुदोचितं दास्यति यस्तपस्विने,
 क्रमप्रवर्धिष्णुफलं स लप्स्यते ।
 इतीव तादृक् शिखया समन्विता,
 प्रभोः करस्थेक्षुरसः स्म भाषते ॥

(१२८)

जिनेश्वरस्तेन रसेन पारणं,
 जगद्विषद्वारणमाद्यमातनोत् ।
 समुल्ललासास्य तनुस्ततः प्लुताः,
 पयोधरेणाभिनवेन भूरिव ॥

(१२९)

अभूद् विभोः शान्तरसः प्रसूत्वर-
 स्ततो रसाद्भूक्तिरसस्तु दायिनः ।
 तथा परेषां हृदि विस्मयाभिधो,
 रसो रसेनेति मृषा न लोकगीः ॥

(१३०)

आघ्नन्तो द्राग् दुन्दुभीन् देवसङ्घा—
 श्चेलोत्क्षेपं चापि गन्धाम्बुवर्षम् ।
 श्रेयांसस्य व्यञ्जयामासुहृच्चै-
 रातन्वाना वैशमनि स्वीयहर्षम् ॥

(१३१)

उज्जागरप्रशमसागरनाथदत्त-

सम्यक् कचं द्रवति किं शुचिधिष्ण्यसृष्टिः ।
 आनन्दमेदुरसुरैर्विहिता तदानीं,
 श्रेयांसमूर्ध्नि निपपात च पुष्पवृष्टिः ॥

(१३२)

सार्धत्रयोदश-सुवर्ण-सुवर्णकोटीः,

कोटीरहीरुचिरं जितदिग्गणास्ते ।
 श्रेयांसधाम्नि ववृषुः प्रभुभक्तिशैल-
 क्रीडातटीप्रतिभटीकृतसन्निवेशाः ॥

(१३३)

ऐक्षवं रसमिनाय ददानो,

लब्धवान् यदसि काञ्चनसिद्धिम् ।
 तत्त्वमेष विबुधो विबुधत्वं,
 नाम कौशनिहितार्थकथं नः ॥

(१३४)

साधुदानविधिवेधसि जाते-

येन भूरियमशोभि यशोभिः ।
 तोषितेन विभुना परितुष्टा,
 तुष्टुवुस्तमिति देवनिकायाः ॥

(१३५)

विश्वेश्वरोऽपि विहरंस्तदुपज्ञज्ञान-
धर्मज्ञलोककृतसंयमगात्रयात्रः ।
दीक्षादिनाद्विगलिते शरदां सहस्रो,
घातिक्षयाद् विमलकेवलमाससाद ॥

(१३६)

भविककमलोल्लासं कुर्वन्निरस्ततमोभरः,
प्रसृमरदृशां मार्गमार्गप्रदर्शनतत्परः ।
अकलिततपस्तेजोराशिदिनेश इवोदितो,
भुवनविजयस्फीतां भेजे ततः स यशःश्रियम् ॥

इति न्यायविशारद-न्यायाचार्य-महोपाध्याय-

श्रीमद्यशोविजयगणि-

विरचिते “आर्षभीयचरिते महाकाव्ये”

प्रथमः सर्गः ।

अथ द्वितीयः सर्गः

(१)

अथ साधुरिव स्वमानसं,
भरतो भारतवर्षमन्वशात् ।
विभुकेवलसम्भवक्षणो-
ऽवनमच्चक्रबलाज्जितक्षितिः ॥

(२)

युधि योधयशःपयोव्रतो-
विलसत्कोशगृहाद् विनिर्गतः ।
प्रविशेच्च पुरं परस्य यत्-
करवालोऽजनि योगसिद्धिमान् ॥

(३)

गजकुम्भभवास्त्रपायिनः,
परतेजोवडवाग्निशोषिणः ।
अगमन् यदसेर्यथा भयं,
जलराशेर्न तथारिभूभुजः ॥

(४)

यदसिभ्रमतोऽतिमूर्च्छताः,
 पवनोद्भ्रान्तलता[तां]वने द्विषाम् ।
 उपवीक्ष्य तरङ्गमङ्गना,
 जलधौ खड्गविषाणमद्रिषु ॥

(५)

भुवि जाग्रति चिन्तितार्पणा-
 चतुरे यस्य करे ग्रहोदरे ।
 सुरभूमिरुहाः स्म शेरते,
 गतचिन्ताः सुरशैलकन्दरे ॥

(६)

तरलान् युधि वारियाचका-
 नपि कुर्वन्नहितान् सुधापिबान् ।
 मनुजाधिपतिर्न चिन्तिता-
 धिकदः कैर्मनुजैरचिन्ति यः ॥

(७)

अभिधावति यस्य चातुरी,
 विनतायास्तनये महानये ।
 अलभन्त न पन्नगाः पदं,
 भुवि पाटच्चरपारदारिकाः ॥

(६)

करवाल-करालताधरो,
 मुखमाधुर्यवशीकृतावनिः ।
 द्विषतां सुहृदां च योऽभवद्,
 विषपीयूषपयोमहोदधिः ॥

(९)

अभवत् तपनाशुसंज्वर-
 क्षुच्चं...भयं शोकं विह्वला ।
 यदरिप्रमदावियोगिनी,
 धृतपञ्चाग्नितपोव्रता वने ॥

(१०)

अहरन् रजतादि यद्द्विषां,
 सद्नेषु प्रकटं वनेचराः ।
 न तु गौञ्जगणभ्रमान्महा-
 मणिवातायनमौक्तिकलजः ॥

(११)

असुहृत्प्रमदाश्रुकारिभि-
 र्ववृधे यस्य यशोलतोचितम् ।
 यददीप्यत तैर्महोऽनलः,
 प्रबलस्तत्तु चमत्क्रियास्पदम् ॥

(१२)

अधिकं स्म विदन्ति नारयो,
ज्वलनं यत्प्रबल-प्रतापतः ।
दववह्निघने ततो भिया,
प्रविशेयुः कथमन्यथा वने ॥

(१३)

लघुतूलवदिन्दुमण्डलं,
यशसो यस्य पुरः प्रतीयते ।
इति युक्तिमदम्बराङ्गण-
भ्रमणं तस्य मरुत्प्रचारतः ॥

(१४)

विधुरङ्गति पीनफेनतां,
प्रचलद्वारिकणन्ति तारकाः ।
तरणिस्तरुणोऽपि यद्यशो-
जलधौ विद्रुमकन्दवृन्दति ॥

(१५)

गलितैर्निजदृग्गलन्तिका-
सलिलैस्तापवतो वियोगतः ।
यदरिव्रजसुभ्रुवामभूत्,
कुचशम्भोः स्नपनं निरन्तरम् ॥

१. 'प्रयोगतः इति स्वयाठान्तरम् ।

(१६)

यदिभैन्निजदानवारिणा,
 सतता सिक्तकरैः सुलक्षणैः ।
 क्षितिभृन्महिमासहिष्णुभि-
 विधृता किं न निजानुकारिता ॥

(१७)

अमिता घयमत्र सप्त ते,
 गगनाद्धादिति संहतक्रमैः ।
 रविसप्तजयादुदासितै-
 स्तुरगैर्यस्य दिशो ललङ्घरे ॥

(१८)

तरसा न महारथस्य किं,
 विजयन्ते स्म मनोरथान् रथाः ।
 सुकृतैकमुखेक्षिणः फले,
 सुकृतेनैव पुरस्कृताः स्वयम् ॥

(१९)

युधि यस्य पदातयो भटा,
 व्यलसन् वर्मपयोदवेष्टिताः ।
 कुलिशाक्षतशौर्यनिर्जर-
 क्षितिभृज्जङ्गमशृङ्गसन्निभाः ॥

(२०)

मदनो निजरूपसम्पदा,
 विजितो येन यथावपत्रपाम् ।
 भजते स्म स इत्यदृश्यतां,
 त्रपमानो[णो]ऽपि निजेन चेतसा ॥

(२१)

अजनिष्ट महान् पराभवो,
 हठतश्छत्रममुञ्चतोऽप्यहो ।
 युधि यद्धनबाणवर्षणे,
 नृपतेश्छत्रमुचस्तु नो भयम् ॥

(२२)

अयमुद्धतसेनया रया-
 जिजतषट्खण्डसमग्रमण्डलः ।
 निजभाल-ललामरत्नता-
 मनयच्चक्रिपदं महोर्जितम् ॥

(२३)

अथ तस्य रुचाभिमन्त्रितै-
 बहूसिद्धौषधिमूलमिश्रितैः ।
 कलसैर्जलसम्भृतैर्मृदा,
 सविकासैरिव मङ्गलाननैः ॥

(२४)

मुकुटांशुभिरुद्ध्वमुच्छ्रितै-
 दिवमुत्कण्ठयितुं समुद्यतैः ।
 बलकम्पित-भूतलच्छला-
 दपि संज्ञापितनागनागरैः ॥

(२५)

कनकाभरणप्रभाभरै-
 विदधानैर्भुवमीक्षणोन्मुखीम् ।
 अभिषेकविधिः प्रचक्रमे,
 निखिलैर्द्वादशवार्षिको नृपैः ॥

[त्रिभिः कुलकम्]

(२६)

गजवाजिरथैः पदातिभिः,
 समभूत् तन्नगरं तदाकुलम् ।
 जगदादिमसर्गसम्ममुखं,
 दरविस्तारिविधेरिवोदरम् ॥

(२७)

शयितं किमु शेषदिवपुरैः,
 कृतकोलाहलशान्तिसर्वतः ।
 लघु तत्र समागतैर्जनै-
 जनसम्मर्दपरिश्रमोज्ज्वलैः ॥

(२८)

ध्वजिनी बहुभूतां ध्वजै-
 ननु मायेव गुणैरभिद्यत ।
 न तु तेष्वविशेषमान्तरं,
 किमपि ज्योतिरगाद्विभिन्नताम् ॥

(२९)

अतिघट्टनतो महीभृतां,
 बहुकोलाहलगर्जितोर्जितः ।
 च्युतहारमणिव्रजैरभू-
 न्ननु रत्नाकर एव तत्पथः ॥

(३०)

तिलमात्रमपि स्थिता न भूः,
 पृथिवीशेष्वभियत्सु सर्वतः ।
 प्रभुताप्तिसुखानि सोऽन्वभूत्,
 प्रथमं यः प्रभुवीक्षणं व्यधात् ॥

(३१)

रतिहासविलासशालिभि-
 बंधुशो भूमिभुजां गतागतैः ।
 अभवत् प्रतिनायकं भुवः ।
 कुलवध्वा न कटाक्षलक्षणा ॥

(३२)

किमपश्यदमुद्रितेक्षणा,
 न तमिल्लापि विसंयुतार(?) रिः ।
 निजमध्यदिशा गतागतै-
 स्त्वरमाणोत्तरखण्डराजकम् ॥

(३३)

निजवेश्मनि कोऽप्यवस्थितो,
 न च वृद्धो न शिशुर्धुवाऽपि न ।
 नृपवंशभवस्तदा मदा-
 लससन्नाट् दृगुपासनोत्सुकः ॥

(३४)

अधिगत्य तदाऽप्यनागतान्,
 प्रभुरष्टानवर्ति सहोदरान् ।
 प्रजिघाय स दूतमन्वमून्,
 पृथगेकैकममर्षणः क्षणात् ॥

(३५)

अथ तान् प्रतिधूमधोरणी-
 रकिरन्नाकुलताकरीगरः ।
 स्वमुखादिति दूतमन्त्रिणो,
 भरताकूतकृशानुकुण्डतः ॥

(३६)

अभिषेकमहे महीश्वरा,
 भरतेशं कति नोपतस्थिरे ।
 भवदुर्गाविलङ्घनक्षणे,
 चरणं चारुतरा गुणा इव ॥

(३७)

अनुपस्थितिरत्र वः पुन-
 नं हिमानीमहिमाम्बुजस्य किम् ।
 फलशालिरसाललालिते,
 मधुराज्ये पिकपक्षिणामिव ॥

(३८)

इयतैव निजावनिस्थितिः,
 सदसत्संशयगोचरीकृता ।
 अधुनाऽपि भजध्वमाशु तं,
 जनिमाजीवितसंस्थितिस्तथा ॥

(३९)

अधिकेऽत्र न तेजसा बलं,
 किमपि स्फोरयितुं च युज्यते ।
 शलभो लभते कियद्यश-
 स्तरणौ क्लृप्तरणः क्रुधारुणः ॥

(४०)

अनुजादनुजारितेजसो,
 यदि तस्याश्रयणाद् बहिर्मुखाः ।
 परदुर्ग्रहदुर्गसंनिभं,
 व्रतमादत्त तदा मदापहम् ॥

(४१)

अथ पक्षयुगेऽपि वो रुचि-
 नं नयार्थद्वितये मुनेरिव ।
 निजखड्गलतोपलाल्यतां,
 तदनेकान्तकथेव सङ्गरे ॥

(४२)

यदि नर्तयितुं समुत्सुका,
 रणरङ्गेऽसिनटीं पटीयसीम् ।
 यदुपज्ञमदः कलाऽखिला,
 भरतस्तत्र स किं स्खलिष्यति ? ॥

(४३)

अमुनाऽपि जयोद्भवं भवा-
 ध्यवसायेन यशस्तमेष्यति ।
 जलदाम्बुपयोनिधाविव,
 प्रपतत्तत्खलु पूर्णपूरकम् ॥

(४४)

इदमस्त्वथ पक्षमेककं,
त्रिषु सम्यग् विनिगन्तुमर्हथ ।
प्रभवे खलु विज्ञपय्य यं,
विमलं दौत्यफलं लभामहे ॥

(४५)

इति तेषु वितीर्य वाचिकं,
स्वविभोरुत्तरलाभकामिषु ।
व्यसृजन् भरतानुजा गिरं,
मुखपद्मान्मकरन्दसन्निभान् ॥

(४६)

उचितं भरतेश्वरो नृपै-
र्भूतिपात्रैरभिषिच्यतेऽखिलैः
न तु भागभुजः स्वबन्धवः,
क्षतिमेष्यन्त्यनुपस्थिता अपि ॥

(४७)

निजबन्धुषु बन्धुसम्पदा,
प्रमदो यस्तमुदन्तमन्ततः ।
उदये हृदयेन विस्फुरत्-
कुमुदं वक्ष्यति कौमुदीपतेः ॥

(४८)

उदरम्भरिरेव केवलं,
परिभुङ्क्ते स्वयमजितां श्रियम् ।
न कदाचन तां स्वबन्धुषु,
प्रियबन्धुस्त्वविभज्य रज्यति ॥

(४९)

कृतमस्य निजाजितश्रियः,
प्रविभागेनिजबन्धुसम्पदः ।
वडवाग्निरिवाम्बुधेरपः,
पितृदत्ता अपि यो जिघत्सति ॥

(५०)

स्वपरैकमतिविभक्तिं चेद्,
गुरुतृष्णागरलं निजे गले ।
पितृवेश्मगतो महेश्वरः,
कनकेनैव तदेष माद्यतु ॥

(५१)

न वयं तु भजामहे ह्यर्मुं,
धृतिभाजः पितृदत्तसम्पदा ।
नियतत्वविशेषदर्शिनो,
न पतामः क्वचनापि संशये ॥

(५२)

धृतिरेव हि नः परं प्रति,
 प्रतिबध्नाति बलप्रवर्त्तनम् ।
 विभूयात्कतमस्तु तेजसा,
 ननु पञ्चाननसूनुरुनताम् ॥

(५३)

अधिकं समुपासितश्च किं,
 भरतो ब्रूत फलं ददाति [नः] ।
 किमु रक्षति यातुधानतो,
 मरणान्निःशरणान् भयातुरान् ॥

(५४)

स्वमतान् मनुजान् वितन्वतीं,
 पलितालीखटिकाक्षराङ्किताम् ।
 किमु वा परिपातिनीं जरां,
 यमदूतीं स निवारयिष्यति ॥

(५५)

यदि वा तरसा रसायनं,
 सकलातङ्कविनाशि दास्यति ।
 रविधाम निशीव यद्बलाद्,
 गलितं यौवनमेति वार्धके ॥

(५६)

अथवाऽश्लथवासनाशत-
 प्रबलद्वन्द्वमपाकरिष्यति ।
 वपुषि प्रसरेत् प्रियाप्रिय-
 प्रभवा विह्वलता न यद्वशात् ॥

(५७)

यदि वा न दिवा न वा निशि,
 स्थिरतामेति यदन्तरिन्द्रियम् ।
 प्रविधाप्य वशं तदेव नः,
 परमब्रह्मणि मज्जयिष्यति ॥

(५८)

विदधाति खमेव पुष्पितं,
 यदि युष्मत्प्रभुरेभिरङ्कुरैः ।
 कुरुतां क इवास्य सेवनां,
 तदही तुल्यनृभावभावितः ॥

(५९)

चरणाश्रयणं तु तेन न-
 श्चरणोच्चारकृतोपदिश्यताम् ।
 अननुष्ठितधर्मदेशके,
 गुरुता गच्छति नामशेषताम् ॥

(६०)

शयिताः स्वमुखे वयं मदा-
दभिभूता भरतेन भोगिनः ।
अधुना तदतीव भीषणा-
मसिदंष्ट्रामुपदर्शयामहे ॥

(६१)

अनुजा यदि याचिता रणं,
भरतेन स्फुटमग्रजन्मना ।
तदमी वितरीतुमुत्सुका,
न कृपाणः कृपणोऽत्र कोशभृत् ॥

(६२)

विलसेद् बलवत्युपस्थिते,
न कला हन्त कलागुरोरपि ।
द्विजनायकदर्शनं हर-
न्निह सिंहीतनयो निदर्शनम् ॥

(६३)

उदितास्मदुपक्रमादितो,
विमला पङ्ककलङ्कशङ्कया ।
समराम्बुनिधेर्जयेन्दिरा,
न च बन्धुद्रुहमेनमेष्यति ॥

(६४)

यशसा भरणं भूतस्य च,
 प्रथमेन व्यभिचारमञ्चति ।
 असिसौष्ठवपक्षपाति त-
 न्न तु कस्यापि गृहे नियन्त्रितम् ॥

(६५)

अयमेतु वयं समुद्यताः,
 क्षुभिताभभोधितरङ्गसन्निभाः ।
 जनकानुमतिं विना परं,
 प्रणयामो न सगोत्रसङ्गरम् ॥

(६६)

इति तानभिधाय सत्वरं,
 ययुरष्टापदमद्रिशेखरम् ।
 प्रभुपादरजोविभूषितं,
 मदभाजो नृपगन्धसिन्धुराः ॥

(६७)

जलदैरपि यो गुरुकृतो,
 विपुलं शिक्षितुमुन्नतिक्रमम् ।
 समुपास्तिपरैः प्रकल्पित-
 प्रसरन्निर्भरहारदक्षिणैः ॥

(६८)

दधदातपवारणं घनं,
विपुलं योऽजनि मध्यभागतः ।
शिखरेषु च तीव्रमातपं,
*विधुरिच्छामतिवृत्य वृद्धिमान् ॥

(६९)

कुसुमस्मितयालसद्वय-
स्तरुणालिङ्गितया कया स्फुटम् ।
भ्रमरोचितशोभया न य-
द्वनराज्यानुकृता पणाङ्गना ॥

(७०)

स्फटिकोरुशिलानुबिम्बितं,
स्वमवेक्ष्य प्रतिपन्थिशङ्कया ।
रदघातपरिश्रमं मदात्,
कुरुते यत्र सुरेन्द्रकुञ्जरः ॥

(७१)

रतिकेलिरहस्यसाक्षिणी,
हृदयग्राहिणि किन्नरीगणैः ।
स्फटिकाश्मदरीपरीक्षिता,
बुबुधे यत्र सखीव निर्मला ॥

(७२)

(क ?) शबरीधृतसारसौरभं,
 सरसि स्नातमतिस्खलद्गतिम् ।
 पवमानमुपेत्य यत्र का,
 धृतमत्तप्रियधोर्न पिप्रिये ॥

(७३)

स्वरपूरणया प्रतिध्वनेः,
 स्फुरितैर्यत्र शिखण्डिताण्डवैः ।
 मुदितः कृतकण्डघोलनं,
 मधुरं गायति किन्नरोगणः ॥

(७४)

घनगर्जितजप्रतिध्वने-
 विबुधा यं घनमेव जानते ।
 सुकृतात् क्षितितर्पणोद्भवा-
 दद्दातस्थिरतामुपागतम् ॥

(७५)

उपनीय विकल्प्यदृश्ययो-
 नियतारोपवशादभिन्नताम् ।
 व्यवहारकरः स्वलक्षणे,
 भजते यः सुगतप्रमाणताम् ॥

(७६)

खचरीषु समागतास्वहो,
 कुरुते किं यदधित्यकाऽपि न ।
 उपगृह्य हृदा सखीर्विधिं,
 स्ववनीपुष्पफलोपचारतः ॥

(७७)

स्वकुलोपकृताधमर्गतां,
 नियतं योऽपनिनीषुरुन्तः ।
 वनगुच्छजलाशयच्छला-
 ज्जर्लाधि कुम्भभुवो विनिह्नुते ॥

(७८)

सकला स्वजलाशयोदक-
 च्छर्लतो येन हृता दिवः सुधा ।
 तदघक्षतये मरुत्पथे-
 ऽनुशयानेन कृता विधुप्रपा ॥

(७९)

प्रथमानरसप्रवाहिनो,
 कठिनानामपि हृद्विभेदिनी ।
 समतामयते विनिर्गता,
 कविवक्त्राच्च यतः सरस्वती ॥

(८०)

विवदन्त इवान्तराकृत-

द्विजराजोत्तमस (ह्य) भ्यशोभिताः ।

शिखरेषु समच्छविच्छटा,

निशि यन्नौषधयश्च तारकाः ॥

(८१)

गुणवान् रहसि प्रकाशयेत्,

स्वगुणं न ध्वनयेत्तु डिण्डिमम् ।

इति यत्र रहस्यवेदिभि-

निशि दीपायितमौषधिव्रजैः ॥

(८२)

श्मनादमनागनाहत-

ध्वनिपूर्णामृतपायिनो हृदः ।

शिखराणि तपोगिरेर्लयं,

मुनयो यच्छिखरेषु तन्वते ॥

(८३)

अमलायतदृष्टयश्च्युतैः,

फलमूर्लैर्विहितस्ववृत्तयः ।

दधते चकिता यदाश्रिता,

मुनयः केऽपि मृगाश्च तुल्यताम् ॥

(८४)

स्मरति स्वतनुच्छविं न य-
 चिछरसीन्दुर्मणिचक्रचुम्बितः ।
 कुपिताद्रिसुतांह्लिताडन-
 प्रसृतालक्तकशम्भुभालजाम् ॥

(८५)

सकलौषधिसारसम्भृतं,
 नगराजत्वधिया वृषध्वजः ।
 यमपावयदादिमः प्रभुः,
 स्वयमङ्गीकृतसर्वमङ्गलः ॥

(८६)

वहति क्षितिभृत्सु राजतां,
 विहितस्वर्णकिरीटविभ्रमम् ।
 भरताभिभवं व्यजिज्ञपम्,
 भगवन्तं प्रणिपत्य तत्र ते ॥

(८७)

भगवानपि तन्मनोर्गिरि,
 ज्वलितं प्रेक्ष्य कषायवह्निना ।
 नवमेघ इव प्रचक्रमे,
 परिनिर्वापयितुं वचोऽमृतैः ॥

(८८)

किमियं विमनस्कतोदिता,
 बलवत् सा भवतां श्रियः कृते ।
 न कृतेऽपि नियन्त्रणाशते,
 कुटिलेयं स्ववशाऽवतिष्ठते ॥

(८९)

चलतां लहरीभ्य एव या,
 वडवाग्नेः परितापकारिताम् ।
 अधिसागरमध्यगोष्ट तां,
 श्रियमिष्टां गणयेत् कथं बुधः ॥

(९०)

विषवत् कमला विषस्वसा,
 परितापाय भवेन्न संशयः ।
 शिरसा द्युनदीमुवाह यद्,
 गिरिशोऽशेत हरिश्च वारिधौ ॥

(९१)

सुकृतं स्वषतेऽिच्छनत्स्यहो,
 कमला स्वाश्रितवृक्षमूलवत् ।
 भवितास्मि कथं निराश्रये-
 त्यपि नो वेद जडाशयोद्भवा ॥

(६२)

भवतीह सगोत्रजो यतः,
 कलहः क्षोणिभुजां शुनामिव ।
 प्रतिवान्तमिव प्रशान्तहृद्,
 विरसं राज्यमदः क ईहते ॥

(६३)

हृदये मलिनेक्ष्यते कला,
 ननु राज्ञोऽकरुणाकलङ्किता ।
 बहिरेव तु सा प्रगल्भते,
 हरहारस्मितकुन्दहारिणी ॥

(६४)

गुरुवारिदवाक्यबिन्दवो,
 नृपतेश्छत्रभृतो जगन्ति न ।
 चलितेव हि चामरानिलात्,
 सुमतिस्तिष्ठति नान्तिके क्षणम् ॥

(६५)

करवाल इव स्थितिः कृता,
 हृदि निस्त्रिंशतयाऽवनीपतेः ।
 द्वयमेकगुणं न तत्कृपा-
 इकुरमुद्यन्तमपि च्छिनत्ति किम् ॥

(६६)

अतितुच्छनृपत्वशर्मणे,
 कुलवैरादिह यो यशःक्षयः ।
 भवतां बत भस्मनः कृते,
 तदिदं चन्दनदाहसाहसम् ॥

(६७)

बलिनो यदि योद्धुमुद्यता,
 रणकण्डूलभुजा भुजाभुजि ।
 सहजेन न मोहवैरिणा,
 तहदो सम्प्रति योद्धुमर्हथ ॥

(६८)

स हि चित्तमहाटवीपतिः,
 प्रगुणीकृत्य कषाय-यामिकान् ।
 अपि चक्रिपुरन्दरादिकान्,
 निजबन्दीकुरुते निरन्तरम् ॥

(६९)

तनयोऽस्य च रागकेसरी,
 सहजद्वेषगजेन्द्रसङ्गतः ।
 कुरुते स्ववशंवदान् बलात्,
 प्रशमश्रेणिशिरःस्थितानपि ॥

(१००)

तदवारितपारिपन्थिकै-
 विषयैः स्वार्थनितान्तजागरैः ।
 ममतागहनात् समुत्थितै-
 र्मुषितो मुक्तिपथैर्न को जनः ॥

(१०१)

कुपितं समुदीक्ष्य तत्कृता-
 श्रवसेनान्यमनन्यसन्निभम् ।
 चरणस्खलनेव जायते,
 व्रतभाजामपि धीरमानिनाम् ॥

(१०२)

पतितं युधि पञ्चसायकं,
 तदतिश्रेष्ठभटं सहेत कः ।
 त्रिभिरेव जगत्त्रयीं जयन्,
 विफलां वेत्ति शरद्वयीं हि यः ॥

(१०३)

कुटिला हसितेन फेनिला,
 सलिलावर्त्तविवर्त्तनाभिभृत् ।
 अमुना विहिताङ्गनानदी,
 नरके पातयति प्रमादिनः ॥

(१०४)

ददती स्वगणे परभ्रमं,
 स्वमति स्वैरिषु चात्मवैरिषु ।
 अमुनैव विनिर्मिता सता-
 मपि माया नयने विलुम्पति ॥

(१०५)

जनसंबननाय कामिनी-
 कनकेत्यक्षरषट्कबीजया ।
 अपराजितयाऽस्य विद्यया,
 स्फुरितं कुत्र न पाठसिद्धया ॥

(१०६)

विनिपात्य गुरुत्वगह्वरे,
 सुखतृष्णां करिणीं प्रदर्शयन् ।
 विपरीतकथासृणिक्षतै-
 र्दमयत्यत्येष विवेककुञ्जरम् ॥

(१०७)

तुरगानुरगारिजिञ्जवान्,
 प्रबलानस्य विकल्पसंज्ञकान् ।
 गगनेऽप्यपरिस्खलद्गतीन्,
 समरे प्रेक्ष्य न कः प्रकम्पते ॥

(१०८)

अजितेन जितं किमप्यहो,
 विजितेऽस्मिन् भुवनत्रयं जिनम् ।
 इति तद्विजयाय संयम-
 क्षितिपालः स्ववशो विधीयताम् ॥

(१०९)

चतुरङ्गचमूवृतः स हि,
 प्रभवेन्मोहजयाय नापरः ।
 कठिनः शरभं विनाऽस्तु कः,
 शठकण्ठीरवदर्पलोठने ॥

(११०)

रदनानिव शक्रदन्तिन-
 श्चतुरस्तस्य गुणान् क्षमादिकान् ।
 दधते किमु कान्दिशीकतां,
 न समद्वीक्ष्य कषाययामिकाः ॥

(१११)

तनयावनयावतंसितौ,
 जयति द्वावपि मोहभूपतेः ।
 तनुजोऽस्य शमोऽनुपाधिको,
 गरुडः पन्नगवृश्चिकाविव ॥

(११२)

दमनामभटैः पदे पदे,
 कृतसौराज्यमहेऽस्य मण्डले ।
 विषयाः क्व हरन्तु ते धनं,
 यदपायानि धृतानि गुप्तिषु ॥

(११३)

अतिदुःसहतामसंवृते,
 कलयत्वाश्रवभूभृदोजसा ।
 मुखमेव ददाति सम्मुखे,
 न तु सेनाधिकृतेऽस्य संवरे ॥

(११४)

मदनो वदनोरुकालिमा,
 भवति ब्रह्मभटेऽस्य जाग्रति ।
 न हि पञ्चशरेण जीयते,
 समरेऽसौ नवगुप्तिशक्तिभृत् ॥

(११५)

भवसिन्धुमपि स्वसेवकान्,
 गतपारं स सुखेन तारयेत् ।
 सुदती कियती तदग्रतः,
 कृशमध्या शुचिगोत्रया नदी ॥

(११६)

घटयत्यमुना कृतापटुं,
हृदि दृग् दृश्यपृथक्त्वधारणा ।
निहतं परशक्तिमायया,
न विशल्येव किमाशु लक्षणम् ॥

(११७)

विदधाति कुविद्यया यया,
विवशं मोहनृपो जगज्जनम् ।
प्रतिहन्ति नञ्चैव^१ तामसौ,
प्रियबीजान्तरयुक्तिलाघवः ॥

(११८)

समुपैति विवेकवारण—
श्छलयाशोऽपि परेण पाप्मिनः ।
स्वयमेव तदीयमण्डलं,
सहसा संस्मृतबोधजन्मभूः ॥

(११९)

सुविकल्पतुरङ्गमाः सुखं,
कुविकल्पानसुहृत्तुरङ्गमान् ।
दलयन्ति किलास्य दुर्मदान्,
मृगनागानिव भद्रदन्तिनः ॥

१. अत्र निषेधार्थक 'नञ्' इत्यस्य तृतीया ।

(१२०)

इति मोहनूपस्मयक्षय—

क्षममाश्रित्य चरित्रभूपतिम् ।

कृततद्विजया भजन्तु भोः,

सुखमध्यात्मपुरप्रभुत्वजम् ॥

(१२१)

लभते यदमर्त्यनायको,

मणिंसिंहासनमाश्रितो दिवि ।

अपि शर्म वने तृणस्थितो,

मुनिरध्यात्मरतिस्ततोऽधिकम् ॥

(१२२)

मुनये वितरन्ति यां मुदं,

सहजाध्यात्मरसस्य विप्रुषः ।

लहरी न चरीकरीति ता—

मपि पीयूषसमुद्रसम्भवा ॥

(१२३)

धनिनामभिमानमात्रजं,

सुखमध्यात्मविदां तु तात्त्विकम् ।

अनयोरियदन्तरं पुन—

भंवपल्ली शबरैर्न लक्ष्यते ॥

(१२४)

जननी धृतिरुद्यमः पिता,
 भगिनी सत्यरतिः सदा हिता ।
 सहजः सविधे च बन्धवः,
 स्थिरता तुष्टि-कृपा-क्षमादयः^१ ॥

(१२५)

मुदिता जननी स्वसा सुतो,
 व्रतरङ्गः समता च गेहिनी ।
 अनतिक्रमवृत्तिता स्नुषा,
 भववैरस्य विभावना सुता ॥

(१२६)

भगिनीपतिरार्हतागमो,
 रुचिरौ तत्तनयौ यशोवृषौ ।
 अपि यस्य समाधिरात्मजा—
 रमणस्तत्तनया तटस्थता ॥

(१२७)

गुणसंस्तव एव मातुलः,
 सुतपुत्राः सुनया महारथाः ।
 उचिता नियतिः पितृष्वसा,
 गुणसन्दीभितनामदायिनी ॥

१. क्षमाधवः इति पाठान्तरम् ।

(१२८)

ऋजुसूत्रविचारचञ्चुरः,
 समयस्तातसहोदरः परः ।
 सुविशुद्धपथानुसारिता,
 प्रथिता तद्गृहिणी गृहं श्रियः ॥

(१२९)

मणिचारिमभाजि-वारणा,
 स्थितिवातायनलम्बितैः पदैः ;
 विधिपक्षवलक्षकुट्टिमे,
 सुतपः स्तम्भनिवृत्तिभित्तिके ॥

(१३०)

शिखरस्थितनिश्चयेक्षणा,
 विलसत्काञ्चनकुम्भभूषिते ।
 स्थितिरद्भुतयोगमन्दिरे,
 जडतातापविकारवर्जिते ॥

(१३१)

सुकुटुम्बगृहस्थता स्थिति—
 मुनिराजस्य हि तस्य तात्त्विकी ।
 अपरे तु भवाटवीमृगा,
 गुहभाजो भ्रमणे रताः सदा ॥

(१३२)

सुखिनो विषयज्वरातुरा,
न हि चक्रिन्निदशाधिपा अपि ।
उपशान्तमदस्मरज्वरो,
मुनिरेको भुवनत्रये सुखी ॥

(१३३)

अब्धिर्वारिगणैरिवानल इव ज्वालाकरालस्तृणै-
नीचः सज्जनदूषणैरिव कर्णैः कालः कलानामिव ।
आकाशं भगणैरिव प्रहरणैः शौर्यं भटानामिव,
स्वान्ते संयमवर्जितेन विषयाकाङ्क्षा नृणां पूर्यते ॥

(१३४)

वर्धिष्णुन्निदशाद्धिगौरवगतिस्पर्धिष्णुमुक्ताफल-
श्रेणीशालिनि यद्विमानतिलके सर्वार्थसिद्धाह्वये ।
भुक्तं शर्म तदाशु विस्मृतमहो युष्माभिरानीयतां,
वत्साः सम्प्रति संस्मृतेर्विषयतामाश्चर्यचिन्तामणिः ॥

(१३५)

या दिव्यैर्न सुखैर्न्यषेधि विषयाकाङ्क्षा समुत्सर्पिणी,
भोगैर्यास्यति तानवं कथमहो सा मानवीर्यैरिमं ।
पारावारतडागकूपतटिनीतोयैर्न या शोषिता,
तामङ्गारकृतस्तृणं क्व दलयेद्दभ्राग्रजाग्रत्पयः ॥

(१३६)

तानत्युन्नतगर्वपर्वतभिदादम्भोलिभिर्भाषितै—

रित्थं विश्वविभुर्विबोध्य निखिलानग्राहयत् संयमम् ।

दिग्दन्तावलदं तदेव तटिनीमन्दारहारप्रभां,

शौण्डीयेण ततो यशःश्रियमिमे विश्वाद्भुतां लेभिरे ॥

इति न्यायविशारद-न्यायाचार्य-महोपाध्याय-

श्रीमद्यशोविजयगणि—

विरचिते “आर्षभीयचरिते महाकाव्ये”

द्वितीयः सर्गः ।

अथ तृतीयः सर्गः

(१)

उदीक्ष्य तादात्विकमेतदेषां,
चारित्रमाश्चर्यरसेऽवधूतैः ।
शिरोभिरुत्सारितदौत्यभारै-
र्व्यचिन्ति चित्ते भरतस्य दूतैः ॥

(२)

अहो महासाहसमेतदेषां,
लीकोत्तरं श्री भरतानुजानाम् ।
ये सेव्यतामेव ययुः प्रपन्न-
स्वतातमार्गा न तु सेवकत्वम् ॥

(३)

येषां प्रवृत्तौ न रसो रणार्थ-
मन्वग्रजन्मानमकीर्त्तिभीत्या ।
निवर्त्तमानोऽपि बभूव मोघो,
भावारिघातं प्रतिपर्यवस्यन् ॥

(४)

अमूदृशाः केऽपि कठोरवीर्याः,
 कण्ठीरवाः शुश्रुविरे न कर्णे ।
 अष्टापदे ये पदमाशु दत्त्वा,
 प्रतापमार्यादिनरत्नजैत्रम् ॥

(५)

न क्रोधवह्नेर्यदमी रसेन्द्रा,
 विचक्रिरे तातनिदेशवश्याः ।
 नष्टापदष्टापदसिद्धियोग्या-
 स्तेनैव युक्तं सहसा बभूवुः ॥

(६)

युक्तं त्रिलोकोपकृताममीषां,
 क्रोधोऽपि बोधोन्मुखतां जगाम ।
 उद्योतकृत्पाटलिमऽहिमाशोः,
 प्रभातजातः किमुतालुलोके ॥

(७)

आदाय तातानुमतिप्रतोक्षा,
 संस्तम्भनीमौषधिमग्निशक्तेः ।
 स्वात्मैव नामीभिरकषि गोत्र-
 क्लेशानलानान्तु सहोदरोऽपि ॥

(८)

स्वान्ते चिराद् दत्तपदः कथञ्चिद्,
 विसंवदन्नेकफले स्वभावात् ।
 अलम्भि न भ्रातरि किं प्रबुद्धैः,
 क्रोधः खलस्नेहसमत्वमेभिः ॥

(९)

अष्टापदाद्रावधिरुह्य योग-
 श्रेणीं शिवाभ्यर्णमुपेयिवांसः ।
 मूर्धानमेते नियतं सुमेरो-
 रप्युन्नतं बिभ्रति भूभृदचर्याः ॥

(१०)

तीक्ष्णाग्रभाजा भरतोक्तिसूच्या,
 वेधेन सञ्जातगुणप्रवेशैः ।
 एभिस्त्रिलोकीविभुवंशजातैः,
 सम्भूय मुक्ताभिरलम्भि शोभा ॥

(११)

भाग्यं दृशोर्दोत्यमिषादमीषा—
 मस्माकमाकस्मिकमाप पाकम् ।
 आकण्ठमग्नेर्यदमू सुधायां,
 बभुवतुर्वृत्तविलोकनेन ॥

(१२)

सन्तापिताः स्वामिवचोऽनलोष्ण—

मेते यदस्माभिरुदीरयद्भिः ।

संशोधयामस्तमिमं तु मन्तु—

मकृत्त्रिमैतद् गुणसंस्तवौघैः ॥

(१३)

न वेत्ति वक्तुं खलु नीचजिह्वा,

ब्रूते न सम्यग्गुणिनां गुणं या ।

तत्प्रत्यवायोपनताच्च साध्य—

मुत्पातवातांन्मुखरत्वमस्याः ॥

(१४)

गुणग्रहेणैव विचिन्त्य वाचा—

माचारपूताः फलवज्जनित्वम् ।

भवन्ति सन्तः किल सिद्धशुद्ध—

सारस्वताः केचन तत्प्रपञ्चे ॥

(१५)

अल्पो हि जल्पोऽन्यगुणे गुणित्वं,

सन्देहतल्पोपगतं तनोति ।

भू यो गुणानामुचितं तदेषा—

मानन्दिबन्दिन्नतधारणं नः ॥

(१६)

इदं विमृश्य द्रुतमेत्य दूताः,
 पुरीं विनीतां भरतं प्रणम्य ।
 बभाषिरे चित्रकरं चरित्रं,
 तेषामशेषाद्भुतभाग्यभाजाम् ॥

(१७)

तथाहि—

नत्यर्थनायामनतिप्रतिज्ञा,
 रणेऽर्थिते ये चरणं प्रपन्नाः ।
 वर्णाधिकं सर्वमकार्षुरुक्तं,
 वर्णाधिकादेव तवानुजास्ते ॥

(१८)

एतैरिदानीं पितुरात्तदीक्षै—

स्त्यक्तः समग्रोऽपि रमाधिकारः ।
 सम्प्राप्तरत्नैरिव रोहणाद्रे—
 निःस्वैः स्वमूर्धापितकाण्ठभारः ॥

(१९)

तंस्त्यक्तसङ्गैर्धृतयोगरङ्गैः,
 कृतप्रसङ्गैः स्वगुणाधिकारे ।
 विमुक्तशुक्लेतरपक्षचन्द्र—
 निस्तन्द्रतागर्वहरैर्बभूवे ॥

(२०)

सम्भावितं युद्धरसं ह्यमीभिः,
 संहृत्य शान्तं हृदि दर्शयद्भिः ।
 लब्ध्वा पुरःस्फूर्तिकमर्थमन्यं,
 काव्ये कवीन्द्रै रिव मोहिताः स्मः ॥

(२१)

प्राचीनमार्गं स्वरसे न यातं,
 रम्यावदातैर्गतपङ्कजातैः ।
 तुङ्गै स्तरङ्गै रिव जाह्नवीयै—
 स्तवानुजैस्त्वं सकुलोऽसि पूतः ॥

(२२)

मिथ्यात्ववैताढ्यगुहां तमिस्रा—
 ग्रन्थि प्रयत्नादुद्भिद्य सद्यः ॥
 प्रियाप्रियोन्मग्ननिमग्ननीर—
 नदीद्वये निमित्तसेतुबन्धाः ॥

(२३)

उत्पातवृष्टौ प्रसभं कृतायां,
 भावाहितायातकिरातदेवैः ।
 रत्ने क्रियाज्ञानपवित्रचर्म—
 च्छत्रे वितत्य श्रितसत्यसन्धाः ॥

१. अत्र वृत्तभङ्गः सञ्जातः

(२४)

अन्तःप्रकाशायततातपत्र—

दण्डे स्वमध्यात्तर्माणि नियोज्य ।
वेश्मापि रत्नद्वयमध्यगानां,
विस्मारयन्तो गुणनागराणाम् ॥

(२५)

उप्तैः प्रभाते परिपाकभाग्भिः,
सायं च वैराग्यगृहाधिपेन ।
सम्पूर्यमाणैर्दिनकृत्यशस्यै—
निर्वाहयन्तः शुचिलोकवृत्तम् ॥

(२६)

जित्वा क्षणेनोत्तरखण्डनिष्ठान्,
म्लेच्छानशेषानपि मोहमुख्यान् ।
शत्रुर्न नः कोऽपि जगत्त्रयेऽस्तो—
त्यन्तलिखितवर्षभकूटशैले ॥

(२७)

लब्ध्वा निधानानि नवापि तत्त्वा—
न्याप्तोत्तमाज्ञासुरसिन्धुदेशे ।
जयन्ति सर्वे वशिताऽखिलाशाः,
सहोदरास्ते त्वमिव त्वदीयाः ॥

१. रत्नद्वयसम्पुटेऽस्मिन्—इति ग्रन्थकृत्पाठान्तरम् ।

(२८)

तव प्रभुत्वे प्रविशन्तिवदानीं,
 बाह्यानि राज्यानि नरेन्द्र तेषाम् ।
 चन्द्रोडुतेजांसि रवेरिवाशु,
 राशी दिनादावुदये समे ते ॥

(२९)

श्रुत्वैतार्तोऽनुजविप्रयोगात्,
 तद्राज्यलाभाच्च मुदं दधानः ।
 सङ्कीर्णरूपो भरतेश्वरोऽभू—
 च्छायातपाभ्यामिव भाद्रघस्रः ॥

(३०)

स जग्रसे तानि ततोऽनुजानां,
 राज्यानि लीलाजितराजराजः ।
 आजन्मभोगप्रदमस्तकर्म,
 न च्छत्रमन्यं सहते धरित्र्याम् ॥

(३१)

तथापि चक्रं न कुतोऽपि हेतो—
 विवेश तस्यायुधवेशम चक्रम् ।
 दृष्टव्यलीकं धृतनीतिसार—
 महो रहो धाम यथा सुमित्रम् ॥

(३२)

पूर्णप्रयत्ने विहितेऽपि चक्रे,
 बहिश्चरेऽपायनिपातशङ्कौ ।
 अलब्धसिद्धिर्महतीं तदानीं,
 योगीव चिन्तां विततान चक्री ॥

(३३)

न रञ्जितौ कैश्चरणौ मदीयौ,
 स्वकीयकोटीरमणिप्रभाभिः ।
 कैर्वा नरेन्द्रैर्विहिता न मौलौ,
 पुष्पस्रजज्ञा मम सद्वितीया ॥

(३४)

किं नाम रत्नं रुचिरं धरित्र्यां,
 मदीयकोशे न शयालु जातम् ।
 काः सम्पदः पद्ममिवालिमाला,
 न मामहम्पूर्विकया समीयुः ॥

(३५)

न के मदोत्क्षिप्तकराः करीन्द्रा,
 गर्जन्ति मे तर्जितहस्तिमालाः ।
 अमूल्यतां बिभ्रति बिभ्रतः के,
 न वाजिनो देवमणिं विगाले ॥

१. 'प्रपन्नाः' इति ग्रन्थकृत्पाठान्तरम् ।

२. कण्ठे ।

(३६)

एकातपत्रीकृतसर्वभूमे—

रित्येषमत्यद्भुतसम्पदोऽपि ।

न वश्यतां यन्मम चक्रमेति,

दुनोति तच्छल्यमिवोग्रमन्तः ॥

(३७)

कृतौ स्फुटं लाघवमीक्षमाणे—

र्यां नेष्यते न्यायबुधैरिदानीम् ।

न शाब्दिकानामिव कर्त्तरीयं,

मयि क्षमाऽऽख्यातपदप्रवृत्तिः ॥

(३८)

स्थानेन यावत्स्थितिमेति चक्रं,

स्थानस्थितं स्यान्न मनोऽपि तावत् ।

द्वयोस्तदुच्छृङ्खलयोः खलोकित—

नियन्त्रणायां मम कोऽप्युपायः ॥

(३९)

संशोधिते चक्रिपदस्य हेतौ,

द्राक् कण्टकोद्धारविधिप्रयोगात् ।

वादोव चक्रं विमुखीभविष्णु,

कं दोषमुत्पश्यति मेऽवशिष्टम् ॥

(४०)

संशेरते चेन्मम योग्यतायां,
 चक्रामराश्चक्रिपदस्य शश्वत् ।
 तद्दर्शयन्ते किममी प्रमीला,
 लीलाकृतः सङ्गररङ्गनाट्यम् ॥

(४१)

इत्यादिचिन्तातटिनीनिमग्नं,
 भूपालभालस्थलरत्नमेनम् ।
 समुद्दिधीर्षुः प्रकटीचकार,
 मन्त्री गिरं नावमिवानवद्याम् ॥

(४२)

अवेमि राजेन्द्र ! चरैस्तवाज्ञां,
 न मन्यते बाहुबली बलियान् ।
 भ्राता कनीयानधुनाऽपि चण्ड-
 दोर्दण्डवित्रासितविश्ववीर ॥

(४३)

पृथ्व्यां प्रसिद्धाः कठिना गिरीन्द्रा-
 स्तद्हारि तेभ्यः कठिनं च वज्रम्
 तच्चूर्णने जाग्रदखर्वगर्वा,
 ततोऽपि कामं कठिनास्य मुष्टिः ॥

(४४)

अवैति शत्रुक्षितिपान् समग्रान्,
 युक्तं मृगानेव स राजासिंहः ।
 मुखे तृणं ग्राहयिता रणे ता-
 नरण्यवासं भयकम्प्रतां च ॥

(४५)

स्वरं भनक्त्यप्रतिरुद्धदर्पो,
 महाबलोऽसावसुहृद्द्रुमौघान् ।
 संक्षोभयत्येव मनःसमुद्रं,
 महीयसामप्युपजातकोपः ॥

(४६)

अमुष्य सच्चामरधारिणीव,
 प्रदर्शयन्ती शुचिपक्षपातम् ।
 कदापि सेवाक्षणरङ्गभङ्ग-
 भीत्येव नीतिर्न जहाति पाश्वर्यम् ॥

(४७)

अस्याननं लोचनलक्ष्मयुग्मं,
 चन्द्रो द्विपक्षी विशदं यशश्च ।
 भालं विशालं च तदर्धमत्र,
 द्वासप्ततिस्तेन कला घटन्ते ॥

(४८)

सूत्रार्थभिन्ना नवतत्त्वविद्या-
 इचतुर्दशान्याश्च मयि स्फुरन्ति ।
 उदन्तमन्तःस्थितदन्तरेखा,
 दम्भादिदं सूचयतीदमास्यम् ॥

(४९)

अमानतद्दानजलप्रवाहे,
 खलेत्यलं तस्य यशोमरालः ।
 प्रत्यर्थिभूपालयशःप्रशस्त-
 मुक्तागणग्रासवितीर्णकालः ॥

(५०)

भवत्यहीन्द्राननवाडवाग्नि-
 दिग्दन्तिदन्ताक्रमणात् त्रिलोक्याम् ।
 सतीव्रतं तीव्रतरं तदीय-
 कीर्त्तः परस्पर्शनिषेधशुद्ध्या ॥

(५१)

रविनिशायां जलधौ निपत्य,
 करोति मन्त्रं वडवानलेन ।
 तेजोऽस्य जेतुं न दिने तु किञ्चित्,
 स्मरत्यसौ छिद्रघटाभवुद्धिः ॥

(५२)

मित्रं तदास्यस्य रवेश्च पद्मं,
 मिथो महामत्सरवारणाय ।
 ददाति किं गुञ्जदलिच्छलेन,
 तदोजसस्तस्य च सन्धिजल्पम् ॥

(५३)

गुणास्तदीयाः शरदिन्दुशुभ्रा-
 श्वेतो जनानामिह रञ्जयन्ति ।
 सा चातुरी काचन धातुरीहा-
 मन्वेतु नो वस्तुगतिं तु जातु ॥

(५४)

उद्धासयन्त्यन्यगुणांश्चिरस्थान्,
 मनो जनानां प्रसभं हरन्ति ।
 तुदन्ति रोमोद्गमकण्टकैस्ता-
 नुच्छृङ्खलाः केऽपि गुणास्तदीयाः ॥

(५५)

तद्रूपसौन्दर्यनिरूपणेन,
 कन्दर्पदर्पस्तनुतामुपैति ।
 स्पृहानुबन्धं हृदयेन धत्तो,
 नूनं विनेयाविव चाश्विनेयौ ॥

(५६)

प्रत्यक्षतां गच्छति विश्ववृत्तं,
वातायनैस्तस्य महाशयस्य ।
दिग्देशकालव्यवधानवन्ध्यं,
धर्मप्रभावैरिव योगभाजः ॥

(५७)

एष्यद्विनिर्यद्वहृदिक् क्व चारु-
निःशेषलेखोल्लिखितार्द्धिवृद्धिः ।
सहस्रनेत्रैः सचरैर्भविष्णुः,
स्पृष्ट्वा विधत्ते सहवासवेन ॥

(५८)

तदीयकोशे विलसत्यपूर्वा,
लब्धिः किलाक्षीणमहानसीया ।
दत्ता परस्मै यदनन्तलक्ष्मीः,
स्वयं च भुक्ताऽपि न निष्ठिता स्यात् ॥

(५९)

अन्तःपुरं तस्य रतेर्न काय-
व्यूहश्रियं किं श्रयतेऽत्युदारम् ।
विश्वत्रयोत्कृष्टविनोदशालि-
समानशीलस्मररङ्गलीलम् ॥

(६०)

वाक्कौशलाद् वा पतिमीहते स,
 प्रोद्दामधीर्जेतुमिहानु तं यत् ।
 लक्ष्मच्छलोद्ग्राहनिगोर्णवर्ण-
 मालम्बितं पत्रमिवेदमिन्दुः ॥

(६१)

सुधीभिरक्षुद्रविमुद्रितार्थ-
 विस्तारिसारस्वतसारकोशैः ।
 संकर्णकर्णमृतयानतृप्तिः,
 सञ्जायते तस्य महासभायाम् ॥

(६२)

कविबुद्धश्चाभ्युदयं लभेते,
 सदा यदभ्यर्णगतिं श्रयन्तौ ।
 स कोऽपि भास्वान् गणकैरदृष्ट—
 स्वभावधामा बहलीशनामा ॥

(६३)

अपारिजातोऽपि स पारिजातः,
 सम्पूरयन्नर्थिगणे हितानि ।
 अमन्दरागोऽपि च मन्दरागः,
 स्थैर्येण किं भक्तजनैर्न-दृष्टः ॥

(६४)

अमान्तमन्तःकरणेऽस्य शौर्य-
 रसं किमादाय कृता विधात्रा ।
 सुत्रामजैत्राद्भुतगात्रवीर्याः,
 सहस्रशस्तस्य जयन्ति पुत्राः ॥

(६५)

एकोऽपि तेषां यदि युद्धरङ्ग-
 च्छेको रणेऽभ्यापतति प्रकोपात् ।
 भेकोपमानाः क्षितिपास्तदानीं,
 पलायनस्यैव कलां स्मरन्ति ॥

(६६)

चित्रं न यच्छत्ययमथिनेऽर्थं,
 करार्ग्रजाग्रच्छतकोटिपद्मः ।
 यत्त्यक्तकोशो द्विषतां ददाति,
 खड्गेऽस्य दिव्यश्रियमद्भुतं तत् ॥

(६७)

तस्य प्रतापानलधूम एव,
 चकास्ति साक्षादसितः कृपाणः ।
 विपक्षभूभृन्मशकव्रजोऽस्मा-
 न्नो चेत् पलायेत कथं विषण्णः ॥

(६८)

अश्वव्रजोत्खातधरारजोभि-
 नंगनो युधि प्रौढनिशान्धकारे ।
 खड्गोऽस्य जैत्रं जपतीव मन्त्रं,
 कृत्वाऽरितेजःकणवीरहोमम् ॥

(६९)

स्वोयच्छविच्छन्नविपक्षलक्ष-
 प्रतापकीर्त्यर्कविधुप्रकाशम् ।
 धाराधरं प्रेक्ष्य तदीयखड्गं,
 यलायिताः केऽत्र न राजहंसाः ॥

(७०)

आनन्दनश्चन्दनवत्प्रजानां,
 कृतान्तवद्भूतिकरो रिपूणाम् ।
 व्यामोहनो मान्त्रिकवच्छठानां,
 स राजते राजकुलावतंसः ॥

(७१)

अस्मिन् दृढीभूतजनानुरागे,
 विवृद्धकोशे प्रसृतप्रतापे ।
 बलोजिते कः कुरुते जयाशां,
 प्राच्यं यशः संशयितं चिकीर्षुः ॥

(७२)

त्वया त्वमुष्मिन्नजिते न शक्य-
 स्त्रातुं निजश्चक्रिपदप्रवादः ।
 नभस्यलुप्त्वा ग्रहमात्रदीप्ति,
 ग्रहाधिपख्यातिमुपैति नार्कः ॥

(७३)

कियज्जितं जाग्रति तत्र शत्रौ,
 क्षेत्रं त्वयेदं भरताभिधानम् ।
 ग्रन्थावभिन्ने सति मोहनीय-
 कर्मेव मोक्षार्थमुपस्थितेन ॥

(७४)

समग्रशास्त्रेऽपि कृतप्रवेशा,
 मोमुह्यते ब्रह्मणि दृग्यथोच्चैः ।
 तथा तवास्मिन् जगदेकसारे,
 प्रणीतषट्खण्डजयाऽपि सेना ॥

(७५)

चक्रं सहस्रेण सुरं रवेति,
 वृत्तान्तमेनं द्विसहस्रनेत्रम् ।
 प्रतिश्रुतं सर्वजये प्रवेशं,
 कथं करोत्यायुधवेश्मनीदम् ॥

(७६)

न वक्रभावस्तदिहास्ति कश्चि-
 च्चक्रस्य भूशक्रसमागमाय ।
 तवानुजस्यैव तु सत्त्वयास्मि-
 न्नारोप्यते विभ्रमशक्तिभाजा ॥

(७७)

तदस्य पूर्वं प्रहितेन वक्त्र-
 च्छायैव दूतेन विलोकनीया ।
 ऊँकारमग्रे सरयत्यतश्चे-
 दाज्ञा श्रुतौ तन्महतोष्टसिद्धिः ॥

(७८)

प्रमादसुप्तो यदि नागतोऽसौ,
 तद् द्रागमुं जागरयिष्यतीयम् ।
 त्वद्दामभानोरुदयाभिधात्री,
 दूतीयवाणी कृकुवाकुकाकुः ॥

(७९)

अन्येष्विव त्वय्यपि दोमदं स,
 प्रदर्शयिष्यन्नथ नागतश्चेत् ।
 त्वद्दूतवाचः श्रवणात्तदानीं,
 मानी प्रतिज्ञास्यति सम्परायम् ॥

(८०)

स त्वामगत्वा शरणं रणं चेत्,
 करोति तत्सर्वबलेन दण्डयः ।
 स्वीयोऽपि विद्धो विषकण्टकेन,
 कथं क्रमस्यावयवः सुरक्ष्यः ॥

(८१)

क्षमाभृतः शत्रुषु सक्षमा ये,
 ते मुक्तिकामा न तु भुक्तिकामाः ।
 तेन त्वयाज्ञामवमन्यमाने,
 नास्मिन्नुपेक्षाऽवरजे विधेया ॥

(८२)

इमां समुद्दीपितनीतिसारा-
 मुदीर्य वाचं विरराम मन्त्री ।
 दवादितः शैल इवाब्दसिक्तः,
 ऋद्धोऽवबुद्धो निजगाद चक्री ॥

(८३)

जागर्त्ति नाज्ञां मम मन्यतेऽसा-
 वित्येष चित्ते मम मन्युहेतुः ।
 ज्येष्ठः कनिष्ठाविनयासहिष्णु-
 रित्येष तं हन्ति कुकीर्त्तिकेतुः ॥

(८४)

एकत्र भीत्यै नृपधर्मभङ्गो,
 हठे शठानामविलोठघमाने ।
 अन्यत्र सौभ्रात्रहतिः पपात,
 तत्सङ्कटं 'व्याघ्रतटीयमेतत्' ॥

(८५)

ललुः पुराष्टाव (?) तिश्चरित्रं,
 स्थातुं न दत्तेऽनुजमप्यमुं यत् ।
 सम्पश्यति भ्रातृगृहं न वक्र-
 क्रूरग्रहः किं मम चक्रदम्भात् ॥

(८६)

लोभान्न शोभां सहतेऽनुजानां,
 स्वैरं च वैरं कुरुते कुलेऽसौ ।
 इत्युच्छलन्तीमपवादधारा-
 मुपक्रमेऽस्मिन् मम को रुणद्धि ॥

(८७)

एकेन चक्रेण रथं यथार्कः,
 सौभ्रात्रमेकेन तथाऽनुजेन ।
 येनाहमद्याध्वनि वाहयामि,
 ते पातयन्नाशु कथं पतामि ॥

(८८)

शक्रं चिकीर्षुर्ननु चक्रबन्धु-
 गर्त्रच्छिदे मां तरलीकरोति ।
 इयत्प्रभुत्वादहमस्मि तुष्टो,
 बिभेमि' तस्या इति किं न वेत्ति ॥

(८९)

स्वयं न गोत्रे प्रभविष्णु चक्रं,
 प्रवर्त्तयत्याशु तदाहवे माम् ।
 अनतिकृत्येन विरोधबोधः,
 किमीतिमध्ये पठितस्य तस्य ॥

(९०)

जगज्जयात्यन्तहितस्य यद्वा,
 चक्रस्य दोषो न मया विचिन्त्यः ।
 समग्रसाद्गुण्यविधौ विधातु-
 र्वैमुख्यमेवेदमुंदोरणीयम् ॥

(९१)

भ्रातृव्रजप्रव्रजनोत्थतापो,
 नेकः प्रशान्तो हृदये मदीये ।
 पराभवेऽमुष्य पुनर्द्वितीयः,
 सोढुं क्व शक्यो विषमज्वराभः ॥

१. तस्या बिभेमीति न किं स वेत्ति । इति ग्रन्थकृत्पाठान्तरम् ।

(६२)

आशीविषीर्यैविजिता किलाशा,
 ममानुजास्ते जगतोऽपि वन्द्याः ।
 पतन्नमूद्गव्यसनेष्विदानी-
 महं तु हन्तास्मि हतस्तयैव ॥

(६३)

दुःखैकखानिं दुरितद्रुवल्लो-
 मशेषदोषव्रजजन्मभूमिम् ।
 आशां निराशीकुरुते जनो यः,
 सुखी स एवेह न कश्चिदन्यः ॥

(६४)

जीर्णे न जीर्णा न कृशे कृशा या,
 नैसर्गिकी सा न जने धनाशा ।
 उत्पातजातिः परमुल्बणैषा,
 तस्यां च सत्यां सुखिता कुतस्तया ॥

(६५)

यां स्नेहपीयूषघनेऽप्यकस्मा-
 दङ्गारधारां प्रकटीकरोति ।
 आशाभिधाना किल सा दवाग्नि-
 ज्वाला न लोकावगतस्वभावा ॥

(६६)

विधाय वक्षो बलिभिः सहारं,
सपुष्पमालं पलितैः शिरश्च ।
पुंसामतृप्ता धृतिमेष्यतीयं,
प्रदाय किं मण्डनमन्यदाशा ॥

(६७)

आलम्ब्य लोका व्यसनार्णवे यां,
पतन्ति हित्वा च तमुत्तरन्ति ।
आश्चर्यमेषा विपरोतरीति-
राशातरी किं न चरीकरीति ॥

(६८)

न यत्र चन्द्रार्कमरीचिवीचिः,
प्रयाति नो वा पवनः प्रचण्डः ।
हित्वा विचारं पुरुषस्य तत्रा-
प्याशापिशाची कुरुते प्रचारम् ॥

(६९)

अस्या वशीभूय कथं न भूय-
स्त्रपेऽकृपो भ्रातृवधाय धावन् ।
कथं च कुर्यामभिषेकनीरा-
निधौतचक्राननपङ्कमाष्टिम् ॥

१. 'तुष्टा' इति ग्रन्थकृत्पाठान्तरम् ।

(१००)

इत्युद्धतद्वैतविचारदोला-

लोलायमाने भरतस्य चित्ते ।

उदाहरन्न्यायविवेकशुद्ध-

मद्वैतपक्षं सचिवो निजेष्टम् ॥

(१०१)

राज्ञामसुभ्योऽप्यधिकं हि तेजो-

युक्तस्ततस्तच्छिदिमन्युरेव ।

निजः परो वा स विनीयमानो,

नीत्या निषेधान्न यशो निहन्ति ॥

(१०२)

अल्पो हि सह्योऽविनयोऽनुजस्य,

गृहोचितोऽस्मादितरस्त्वसह्यः ।

उद्गृह्णति ह्यध्ययने च वादे,

भिन्ना गुरोर्व्याहृतयो न शिष्ये ॥

(१०३)

ज्येष्ठस्य नाज्ञां दलयेत्कनीया-

निति क्षितौ नीतिरनादिरूढा ।

लुम्पन्नसौ तां यदि नो कुकीर्त्त-

बिभेति तत्का भवतस्ततो भीः ॥

(१०४)

सौभ्रात्रभङ्गस्त्वगतिः स्वनीति-
 प्रतीतिसिद्धावनुषङ्गजन्मा ।
 व्ययो धनयेव धनार्जनायां,
 भवन्ननुद्देश्यतया न दोषः ॥

(१०५)

स्फुटीकरोत्येव च राजनीति-
 द्वयोस्तुलेयं लघुतागुरुत्वे ।
 तथापि दिग्मोहसमः समत्व-
 अमो भवन् केन निवारणीयः ॥

(१०६)

न दोषमात्रेण च राजनीति-
 स्त्वद्या महाराज ! मनस्युपेक्षया ।
 दृष्टं श्रुतं वा भुवने विना किं,
 दोषोद्भवं स्फूर्जति राजतेजः ॥

(१०७)

चक्रेण सौभ्रात्रममुञ्चतस्ते,
 परेण तत्सुस्थितमस्तु भावा ।
 शेते सुखं यज्जनितप्रताप-
 कीर्त्येककोणे निखिलत्रिलोकी ॥

(१०८)

हित्वाऽनुतापद्रवतां तदन्तः,
 कठोरतां चक्रवदद्वियस्व ।
 धृतिर्न बाढं हृदि संशयानं,
 न राज्यलीला तु शयानमेति ॥

(१०९)

सुदुःसहं किञ्चन नास्ति राज्ञा-
 माज्ञाविलोपादपरं हि दुःखम् ।
 तद्दातरि भ्रातरि सौहृदं चे-
 ज्जातिस्तदा काऽरिपदाभिधेया ॥

(११०)

नम्रे मृदुत्वं च शठे हठित्वं,
 भृत्ये प्रसादश्च नरेन्द्रचिह्नम् ।
 न केवलं चामरधारणं तु,
 मौलौ धृतं तत्पशुनाऽपि पश्चात् ॥

(१११)

नम्रस्य देयोन्नतिरित्युदात्तं,
 नत्वोन्नमच्चामरमाह राज्ञे ।
 अत्युन्नतो यः स तु नामनीय,
 इत्यस्य वक्ति व्यतिरेकभङ्गी ॥

(११२)

आशानिराशीकरणादिसूक्तं,
 पीयूषसिक्तं स्वदते यतीनाम् ।
 नीत्यूर्जितं शौवरसं ददाति,
 पृथ्वोपतीनां तु शुभायतीनाम् ॥

(११३)

प्रभुत्वमन्त्रौ प्रवितत्य पक्षा-
 वुत्साहमाशाविनतातनूजम् ।
 राज्ञोऽरिनागा विनिरीक्ष्य दूराद्,
 भ्रमन्तमन्तः सभया भवन्ति ॥

(११४)

स किं नृपो यस्य भवेन्न चित्ते,
 परोऽन्नतिध्वंसविधौ सदाशा ।
 अत्युन्नताम्भोदघटाऽसहिष्णो-
 र्लघुः स वायोरपि किं न लोके ॥

(११५)

स्नात्वा जयाशा परकुम्भिकुम्भ-
 कीलालजालैस्तव शुद्धिमेति ।
 नान्यैर्जलौघैरिति मा मुहस्त्वं,
 निजद्रुहः स्नेहमहेन्द्रजालैः ॥

(११६)

सिद्धा जिगीषा निखिला तवेश,
 क्लेशः कियान् भ्रातृजये विधेये ।
 स्वं पौरुषं स्फोरय मुञ्च दैन्यं,
 न शत्रुजिष्णु क्व तवास्ति सैन्यम् ॥

(११७)

दूतं ततो भूपुरुहूत हूति-
 कलाकुहूतन्द्रितभूपचन्द्रम् ।
 निस्तन्द्रधीः प्रेषय पुण्यपूतं,
 कार्यं तदाकूतमवेत्य कुर्याः ॥

(११८)

इति सचिववचोभिर्बाढिमुच्चाटितायां,
 कलितविविधतन्त्रैः स्निग्धतायां सपत्न्याम् ।
 अनुजमनु धनुर्ज्यारोपकोपं वितेने,
 भरतहृदि पदं द्रागाददाना जिगीषा ॥

(११९)

सकलभरतभक्तुर्मानसं सूर्यरत्नं,
 सचिवतरणिवाक्याभीशुयोगेन वह्निम् ।
 यमुदगिरदमर्षं तेन दग्धं तदानीं,
 चिरपरिचयजातं सोद्वरस्नेहखण्डम् ॥

(१२०)

गुणकमलहिमानी स्नेहपानीयपङ्को,
व्यसनविपुलखानी राजसीराजधानी ।
अहह विषयतृष्णा सर्वतोऽप्युग्रवीर्या,
यदजनि जिननाथज्येष्ठपुत्रोऽनुजारिः ॥

(१२१)

विधुविशदयशःश्रीः स्वामिभक्तं सुवृत्तं,
नयनिपुणमदम्भं निर्भयं सत्यवाचम् ।
द्रुतमनुबहलीशं प्रेषयामा सराजा,
विजितपवनवेगः सोऽथ दूतं सुवेगम् ॥

इति न्यायविशारद-न्यायाचार्य-महोपाध्याय-

श्रीमद्यशोविजयगणि-

विरचिते “आर्षभीयचरिते महाकाव्ये”

तृतीयः सर्गः ।

अथ चतुर्थः सर्गः

ऐन्द्रस्तोमनतायाग्रे -

प्रत्यूहव्यूनहाशिने ।

नमः श्रीपार्श्वनाथाय,

श्रीशङ्खेश्वरमौलये ॥

(१)

प्रस्थितं प्रभुगिरागतपक्षं,

वेगतः शकुनमेव सुवेगम् ।

भाविभावगतिवीक्षणदक्षा,

तं न्यवारयदथाऽशकुनाली ॥

(२)

तस्य दैवमतिसौहृदपात्रे,

वैरिदौत्यवहनादिव सद्यः ।

शंसितुं विपदि यत्परिणामं,

स्पन्दते स्म नयनं पथि वामम् ॥

(३)

आदितः स्ववशमप्यवशः स-
न्नब्जयोनिरचनानुचरत्वात् ।
गन्धसिन्धुरमवेक्षितुकामः,
स क्रमेलकममेलयदक्षणा ॥

(४)

चाषमीक्षितुमनाः स शुभार्थी,
वायसं कटु रटन्तमपश्यत् ।
रोहणेऽपि मणिमाशु जिघृक्षुः,
काचखण्डमिव भाग्यविहीनः ॥

(५)

पापकेतुततपुच्छमिवोग्रं,
जङ्गमं भयतरोरिव पादम् ।
अर्गलामिव समीहितसिद्धे-
र्दन्दशूकमयमैक्षत मार्गं ॥

(६)

सन्ततं दहनमण्डलमध्यात्,
तस्य रोगवियुजो रविनाडी ।
तापकारणमिमं व्यवसायं,
सर्वतोऽपि हि विवक्षुरुवाह ॥

(७)

व्यात्तमास्यमिव विघ्नमृगारेः,
 कुप्रवृत्तितटिनीतटगस्य ।
 रिक्तकुम्भमयमैक्षत सद्यो,
 मस्तके विधवया धृतमुच्चैः ॥

(८)

भूरिबन्धवृतमावृतिहीनं,
 प्रार्थनाविषयमप्युपनम्रम् ।
 काष्ठभारमकरोदयमक्ष्णोः,
 कष्टभारमतिथिं किमु मूर्त्तम् ॥

(९)

मित्रवन्नवदवानलमुक्त-
 उवालजालजटिलं प्रतियान्तम् ।
 मंक्षु तं क्षुतमपि प्रतिषेध्य,
 प्रस्थितेरसकृदाप न दोषम् ॥

(१०)

शिक्षिताश्ववरसारथियुक्तो-
 ऽप्यस्खलत्पथि रथश्च तदीयः ।
 निश्चितामनुहरन्निव चेष्टां,
 तन्मनोरथपरिस्खलनस्य ॥

(११)

चस्कले रसनयाऽस्य तदानीं,
जल्पकल्पकतयापि किलोक्तौ ।
लक्षयक्षनततक्षशिलेश-
क्लेशवारकपराहतयेव ॥

(१२)

वारितोऽपि पथि सादिसमूहै-
स्तस्य वामदिशि दक्षिणहस्तात् ।
सारमेयतरुणः परिसर्पन्,
सारमेयगतमेव मवादीत् ॥

(१३)

वाममेव हरिणा हरिणाशु-
प्रेरिताः परिययुः पथि तस्य ।
स्वीयजातिमृगभिद्गृह्वाम्यं,
दर्शयन्त इव स्वोत्प्लुतिदम्भात् ॥

(१४)

पापयोरपथदर्शनदोषा-
न्नेत्रयोः प्रविकिरन् बहुधूलीम् ।
तं न्यवर्त्तयदिव प्रतिकूलो,
मारुतोऽप्यधिकृतव्यवसायात् ॥

१. 'मीदृग' इति ग्रन्थकृत्पाठान्तरम् ।

(१५)

अग्रतः कटु रराट निविष्टः,
 शुष्ककण्टकितरौ करटोऽस्य ।
 लक्षयन् स्फुटममङ्गलबाणा-
 घर्षिशाणघनघर्घरघोषम् ॥

(१६)

स्थाष्णु[स्तु]रस्य पथि दक्षिणहस्ते,
 रासभोऽपि विरसं रसति स्म ।
 सत्वरोद्भवदुपद्रवनाट्ये-
 ऽदत्तभोजनमृदङ्गसमानः ॥

(१७)

तादृशैरशकुनैरपि जान-
 न्नात्यजत् प्रचलनव्यवसायम् ।
 नाधिकं प्रभुनिदेशविलम्बात्,
 स स्म वेद बलवन्तमपायम् ॥

(१८)

त्यक्तसौवविषयावधिरेष,
 प्राप बाहुबलिमण्डलमिद्धम् ।
 शर्मणाऽतिशयिना परिपूर्णं,
 द्राग्महोदयमिवोत्तमसाधुः ॥

(१६)

तन्न तेन वनमैक्ष्यत यस्मिन्,
यन्न चारुतरुराजिविराजि ।
सा च काचिदपि नैव शुकैर्या,
न स्तुतर्षभयशोभिरशोभि ॥

(२०)

घोषितर्षभगुणा उपरिस्था,
यद्वनीतरुषु तद्वदधःस्थाः ।
सारिकाः स किल गोपगणानां,
दारिकाश्च परिवीक्ष्य जहर्ष ॥

(२१)

यद्वनद्रुमगणे सुरवृक्षै-
निर्गतैः क्वचन कालनियोगात् ।
साक्षिभूतमुखरभ्रमरौघे,
न्यस्तमेव सरसं हृदि मेने ॥

(२२)

भृङ्गसङ्गतलताकरताली,
दानरङ्गरसिका शशिशुभ्रैः ।
तेन यत्र कुसुमैः सुरवाटी,
हासकृन्न कलिता नवनाली ॥

(२३)

यत्र वृक्षतलसुप्तमगुप्त-
 स्वर्णभूषणगणं पथिकौघम् ।
 निश्चिकाय परिवीक्ष्य स गोमु-
 द्धामिकाममभिराममगुप्तम् ॥

(२४)

यत्र तेन ददृशे कणहन्तृ-
 व्यन्तरव्रजपलायनलीला ।
 क्षेत्रपालपरिर्दशितमन्यु-
 त्रासितोत्प्लुतविसङ्गमदम्भात् ॥

(२५)

तस्य यत्र गगनोपगताग्रा,
 ग्रामधामनिचिताः कणपुञ्जाः ।
 पर्वता इव करालकुकाल-
 व्यालमूर्ध्नि पतिताः प्रतिभाताः ॥

(२६)

क्षेत्रमैक्षत स यत्र पवित्रं,
 मण्डितं बहुभिरैक्षवदण्डैः ।
 उच्छ्रितैः प्रतिपदं धृतगर्व-
 ग्रन्थिभिर्नवसुधारसर्जत्रैः ॥

(२७)

वेधसः स्फुटमबुद्ध स यत्र,
स्वर्णरत्नरजताकरदर्शी ।
मेरुरोहणहराचलकोटी,
सर्गयोग्यदललाभसुभिक्षम् ॥

(२८)

यत्र भर्त्तरि स रागमगुप्तं,
सुभ्रुवः स्म न भ्रुवः किमवैति ।
सर्वतः प्रकटरत्नखनीभ्यः,
पाटलांशुपटलैः प्रसरद्भिः ॥

(२९)

किं तरक्षुहरिचित्रकचक्रं,
मंक्षु दृप्तमपि यत्र जनेन ।
वीक्ष्य बाहुबलिपौरुषमानात्,
खञ्जितं च मदकारि न तेन ॥

(३०)

यत्र गजितपराः स्वविषाणो-
त्खातसिन्धुतटपातितगर्ताः ।
चक्रिरे परिणताभ्रमुकान्त-
स्पर्द्धिनोऽस्य वृषभा हृदि मोदम् ॥

(३१)

कूपकुक्षिमुपभिद्य घटीभि-
 र्जीवनान्यपि हठेन हरन्तः ।
 तस्य चित्तमहरन्नरघटा,
 यत्र पूत्कृतिकृतः शठभट्टाः ॥

(३२)

दुष्ट दूत इति यत्र विलोलैः,
 षट्पदैर्भ्रुकुटिभङ्गकरालम् ।
 पत्वलैर्मुकुलितामलपद्म-
 छद्मलोचनशतैः स निरैक्षि ॥

(३३)

त्यक्तगोवधघटोद्भ्रुवभीत-
 क्षीरसागरपयः कलशोऽध्न्यः ।
 किं विभज्य जगृहुर्जनगव्यो,
 वीक्ष्य ता इति स यत्र शशङ्के ॥

(३४)

धान्यमैक्षि कृषिकैः सकृदुप्तं,
 लूनमप्यसकृदुद्गतरोहम् ।
 तेन यत्र पृथुधीभिरधीता-
 ध्यापितं मनसि शास्त्रमिवोच्चैः ॥

(३५)

छायया कवलिताध्वसु यस्मिन्,
भूयसी क्षितिरुहाभतिकान्ता ।
सञ्चरद्रथमणिद्युतिद्रम्भात्,
तेन सौररुगचिन्त्यत वान्ता ॥

(३६)

ग्रामराजिषु कृतान्तरमान-
स्ताम्रचूडतरुणोडुयनेन ।
सन्तुतोष न तु यत्र स सीम्नां,
क्षेत्रपङ्क्तिभिरनन्तरवेदी ॥

(३७)

स प्रपाः यथि विनिर्मितगङ्गा-
पत्रपाः परिपपौ जलपूर्णाः ।
यत्र च प्रतिपदं कणहृद्द्वान्,
लोचनेन जनदेन्यघरद्वान् ॥

(३८)

यत्र काम्यवरणाय पुरेषु,
स्थूललक्षपटहे ध्वनति द्राग् ।
स व्यचिन्तयदगादिषु लीनां,
दीनतां प्रति रवे न रुदित्वा ॥

(३६)

यत्र बलग्नपरैर्विदधद्भिः,
 शास्त्रविद्भिरितरेतरमूहम् ।
 सोऽन्वमन्यत गिरो भगवत्याः,
 कौतुकाय गजयुद्धमुदीतम् ॥

(४०)

यत्र शाब्दिकमठेषु गुरुणा-
 मुल्लिलेख स कराभिनयेन ।
 तर्जनाममरशिष्यसमूह-
 व्याकुलैकगुरुकष्टसभायाः ॥

(४१)

अङ्कसङ्कलनया खटिकानां,
 खण्डनं कलयतां गणकानाम् ।
 यत्र तेन भगणोद्भवलोप-
 व्यग्रधातृसमता प्रतिपेदे ॥

(४२)

कापिलीयमिव बुद्धचविलेपाद्-
 गौणभोगमखिलेषु पुरेषु ।
 तत्र सौवकरणैः स परार्थै-
 रात्मसिद्धिपरमैक्षत लोकम् ॥

(४३)

पूर्णतावदगजध्वजतर्का,
यत्र वैभवमहालयविद्याः ।
स व्यलोकयदलौकिकपद्मा-
वाप्तविभ्रमरसा नगरेषु ॥

(४४)

वासरान्न तिमिरेण विभक्तं,
ग्रामकर्बटपुरादिषु नक्तम् ।
यत्र तेन ददृशे हसितेषु,
स्फाटिकार्हतगृहांशुसमूहैः ॥

(४५)

तं स्म सस्मयवशा इव चैत्य-
स्तम्भलग्नवपुषः सुखयन्ति ।
पुत्रिकाः कलितलक्षकटाक्षा,
यत्र सेष्यमितरेतरपश्याः ॥

(४६)

इन्द्रनीलमणिकुट्टिमहेम-
स्तम्भशालिजिनराजगृहेषु ।
यत्र सोऽर्णवविलोलनलोल-
स्वर्णशैलशतविभ्रममूहे ॥

(४७)

यज्जिनेन्द्रगृहदण्डनिविष्टे,
 लाम्बनालिभृति पार्वणचन्द्रे ।
 विस्मयाकुलमनास्ततनाल-
 व्योमपङ्कजधिया स बभूव ॥

(४८)

तत्र कस्त्वमिति पृच्छति लोके,
 शंसिते भरतदूत इतीमम् ।
 मौलमर्थमनवेत्य निनिन्दुः,
 कल्पितान्यविषयाः पथि वध्वः ॥

(४९)

बुध्यते न भरतः किमु नेते-
 त्याक्षिपन्तममुत्करतालम् ।
 ता जगुर्न परमेनमवेमः,
 कञ्चुकीयरचनैकविशेषात् ॥

(५०)

पूजितो जयति स क्षितिपालैः,
 सार्धभौम इति जल्पति तस्मिन् ।
 तज्जना जगुरसौ न सुनन्दा-
 नन्दनात् किल परोऽस्ति पृथिव्याम् ॥

(५१)

स ह्यनन्तबल इत्यभिजल्प-
 त्यत्र तत्र जगद्गुः कृषिकाराः ।
 अन्तमेति ननु तद्बलमस्म-
 द्वेशपेशलहलैनिपतद्भिः ॥

(५२)

उत्थितं क्षितितृणादिखनद्भि-
 दात्रिपाणिभिरभण्यत वाणी ।
 तद्भूटायुधयशःशितदात्र,
 श्रेणिरेव पिबति प्रसभं नः ॥

(५३)

तं प्रतिप्रबलगर्वभृतैर्वाक्,
 तत्र मङ्क्षुरथकृद्भिरभाणि ।
 ईशमहे विभुबले तव द्वातुं,
 छिन्नकाष्ठनिचयैरपि कष्टम् ॥

(५४)

पर्शुपाणिभिरपि स्वमुखेन्दोः,
 कीलितः सकलया किल वाचा ।
 किं न नः करशयालुकुठारा-
 स्त्वत्प्रभोर्बलगदप्रतिकाराः ॥

(५५)

गा इव त्वदधिपस्य भटान् द्राग्,
 चण्डदण्डहतिभिर्वशयामः ।
 आदिशेत् सपदि बाहुबली चेद्,
 गोदुहोऽपि गिरमाहुरितीमाम् ॥

(५६)

एवमेष विनिरीक्ष्य सुनन्दा-
 नन्दनान्यनृपनाम्न्यसहिष्णून् ।
 तज्जनान् व्यचरदाहितमुद्रो,
 वाचि साचिवदनस्फुटलज्जः ॥

(५७)

पालितामुबहुलङ्घितभूमि-
 भूमिपालविधुना क्रमतोऽसौ ।
 नेत्रयोर्व्यधित तक्षशिलां तां,
 चन्द्रिकां कुवलये कृतहर्षाम् ॥

(५८)

चित्रिते रतिमनाप्य रथाङ्गे-
 यद्गृहोच्चशिखरस्थितिभाजि ।
 विह्वला त्रिदशसिन्धुरथाङ्गी,
 न स्म विश्वसिति[...]रथाङ्गे ॥

(५६)

रत्नराशिषु हृतेषु ययोच्चै-
नन्वभूज्जलनिधिर्जलशेषः ।
यां रुरोध किमु तद्ग्रहणार्थं,
तेन नैष परिखाऽपरवेषः ॥

(६०)

सान्द्रविद्रुमघनो घुसृणौघैः,
फेनिलः प्रसृतचन्द्रपरागैः ।
आश्रितो मृगमदैर्मलिनाभ्रै-
रध्वनत् पटुवदापणवाद्धिः ॥

(६१)

सम्पुटीकृतनभोऽन्तरिता द्यो-
स्तिष्ठति स्म विजितेव ययोच्चैः ।
पृष्ठतस्तदभिधा वनभीत्या,
रन्ध्रदत्तचलतारकनेत्रा ॥

(६२)

यत्र नीलशितिशुभ्रमणीना-
मंशुभिर्नृपगृहोल्लसितानाम् ।

स त्रिवेणिपयसि प्रतिवेलं,
मज्जति स्म मिलति द्विजराजः ॥

(६३)

यद्गृहोन्नतगवाक्षसलीलं,
भामिनीवदनलक्षमुदीक्ष्य ।
यातु शत्रुगणसङ्घटमग्नौ,
भोतभीत इव शीतमरीचिः ॥

(६४)

विस्तृतस्फटिकवेश्मविभायां,
पूर्णमातिथिरुपेत्य न यस्याम् ।
कामिनीवदनपूर्णविधोः स्म,
प्रेमबन्धपरवत्यपयाति ॥

(६५)

उन्मिषत्पुरदरास्य कुलीने,
मज्जिता ननु पुरन्दरयुक्ता ।
इन्दुबिन्दुविषयच्युतकात् किं,
द्यौर्ययेदमुदभाणि मदेन ॥

(६६)

याऽपरोक्षपदसम्भववृत्ति-
व्याप्यताविदलितभ्रममूला ।
ब्रह्मावत्सकलसारचरित्रा,
शुद्धबुद्धिभिरभूत् स्पृहणीया ॥

[अपूर्णमिदं महाकाव्यम् । इतो ऽग्रे न लभ्यते पाठः ।]

एतच्चरित्रं परमपूज्याचार्यश्रीमद्विजयधर्मसूरीश्वरशिष्य-
मुनिश्रीयशोविजयेन संशोधितं सम्पादिसं च । वि० सं० २०२७ ।

विजयोल्लास-महाकाव्यम्

ॐ

स्व० महोपाध्याय-श्रीमद्यशोविजयजीमहाराजाः

सकलभट्टारकशिरोमणिभट्टारकश्री ५
श्रीविजयदेवसूरीश्वरगुरुभ्यो नमः ॥

न्यायविशारद—न्यायाचार्य—महोपाध्याय-
श्रीमद्यशोविजयगणिवर्य-
विरचितं—

विजयोल्लास—महाकाव्यम्

—: प्रथमः सर्गः :—

(१)

ऐङ्कारसारस्मृति-सम्प्रवृत्तै-
वृत्तैः सुवृत्तैः पटुगीतकीर्तिः ।
मदन्तरायव्ययसावधानः,
श्रियेऽस्तु शङ्खेश्वरपार्श्वनाथः ॥

(२)

ऐन्द्रं प्रकाशं कुरुतां ममोद्य-
न्महारयादेव सरस्वतीयम् ।
सदा हितानां तनुते हितं या,
पुंसां पवित्रा सकलाधिकारम् ॥

(३)

ऐङ्कारमाराधयतां जनानां,
 येषां प्रसादः परमोपकारी ।
 तेषां गुरुणां चरणारविन्द-
 रजः परां सम्पदमातनोतु ॥

(४)

न्यूनाधिकाभ्यां शशिभानुसद्भ्यां,
 याभ्यामुभाभ्यां किल कुण्डलाभ्याम् ।
 शोभानुरूपेत्यपरं जगत्यै,
 योग्यं महः कुण्डलमर्पयन्तम् ॥

(५)

सुधांशुनाम्नेव मुधा जनोऽयं,
 कलङ्किनं कञ्चन बह्वमंस्त ।
 इतीव मत्वा तमपह्नुवानै-
 र्द्यां द्योतयन्तं विशदैर्यशोभिः ॥

(६)

निदर्शनत्वं बहुरूपभाजा-
 मनङ्गसङ्गं कथमङ्गतीति ।
 रूपप्रकर्षप्रथितं जनानां,
 भाग्येन भूमीमनुकम्पयन्तम् ॥

(७)

लावण्यलक्ष्मीपरिभोग्लुभ्य-
त्पुलोमजानेत्रचकोरपेयाः ।
मादृग्जनध्यानसमुद्रवृद्धि-
क्षमा दधानं वदनेन्दुभासः ॥

(८)

तारामिषात्सङ्गलग्ण्यमानै,
रेखाभिराभिः खटिकामयीभिः ।
पूर्णं गुणौघैरधुनापि धात्रा,
लाभादविभ्रान्तवतैव सीम्नः ॥

(९)

कुकाल-पातालतलावमज्जद
वसुन्धरोद्धारधुराधुरीणम् ।
सूरीश्वरश्रीविजयादिदेव-
पट्टकपूर्वाचलभानुमन्तम् ॥

(१०)

नाम्नेव धाम्नामनुरूपरूपं,
सङ्क्रान्तमन्तर्गुणमावहन्तम् ।
सूरीश्वरं श्रीविजयादिसिंहं,
स्तोतुं प्रवर्ते विजयाभिकाङ्क्षी ॥

(सप्तभिः कुलकम्)

(११)

भूपो भुनक्ति स्म विशालधामाऽ-
 यं मारुदेविर्मरुदेवनामा ।
 तस्यैव नाम्ना प्रथितः पृथिव्यां,
 सद्धर्मकर्मव्यसनी स नीवृत् ॥

(१२)

यं वीक्ष्य साक्षान्नवदुर्गमुच्चै-
 निर्वेदतो मेष मयि व्यरंसीत् ।
 इतीव शम्भोर्भयतो भवानी,
 नव्यार्थकं तं नवशब्दमाह ॥

(१३)

दुर्गेरुदग्रैर्नवभिः परीतं
 निधीय यं किन्नरगीयमानम् ।
 एकेन दुर्गेण सुमेरुणेन्द्रः,
 स्वर्गेऽपि गर्वोद्धुरतां जहातु ॥

(१४)

फलं ददुर्घां समरावबुद्ध-
 युध्यद्भूटच्छिन्ननिजद्विपात्रैः ।
 सम्पूजिता यत्र नवापि दुर्गाः,
 सिन्दूरपूरैः परपार्थिवानाम् ॥

(१५)

अधःकृतामेव दिशं स्वलक्ष्म्या,
स्वयं विजेतुं पुनरप्युदास्ते ।
इत्युच्छ्रितैर्यो नवदुर्गहस्तै-
दिशो नवाह्लाया जिगीषतीव ॥

(१६)

नीतिर्नवीनेयमनीतिभाव-
मपि स्फुटं यं व्यतिवृत्य वृत्ता ।
इदं न कस्य प्रणिगद्यमानं,
विपश्चितश्चेतसि विस्मयाय ॥

(१७)

स्तुतिः क्षपाणामपि यत्र युक्त्या,
पान्थप्रमोदात् पथि दूरदीर्घे ।
निलीय मेरौ वसतां तु निन्दा,
कल्पद्रुमाणामुदरम्भरीणाम् ॥

(१८)

यो यत्र दोषः प्रतिभाति कश्चि-
न्निदर्शनत्वं किल निर्जलानाम् ।
सरस्वतीशालिजनाननेभ्यः,
स्तुत्येव विप्रस्तु गुणं तमेव ॥

(१९)

पचेलिमं पक्षिगणाः समन्तात्,
 क्षणं कणं ये निपुणं चणन्ति ।
 यत्क्षेत्रसंरक्षकगोलवृष्टि-
 कोलाहलात्ते पुनरुत्प्लवन्ते ॥

(२०)

चौर्यं परस्वेषु न नाम कामं,
 सौराज्यभाजि क्वचनापि यत्र ।
 यद्धैर्यचौर्यात् सुदृशां निलीन-
 शिचत्ते भियाऽनङ्गभटोऽपि सूक्ष्मे ॥

(२१)

यद्यत्र भास्वान् प्रवलाप्रतापो,
 जागति मण्डोवरपार्श्वदेवः ।
 उल्लस्यते तत्सुमनोभिरेभि-
 स्तमोनिरासात्तपगच्छभागिभिः ॥

(२२)

यद्भूर्भुवःस्वः प्रभुताभृताऽपि,
 स्वयं निवासाद् भृशमन्वकम्पि ।
 स्वर्गेण यस्यास्तु कथं तदेक-
 विभक्तिसारूप्यमुचं कशेषः ॥

(३२)

विधेविधेयेष्वरुचिप्रयुक्तं,
वैषम्यमालोक्य बहुष्ववश्यम् ।
धर्मस्य सृष्टिं तपगच्छराज-
साम्राज्यहेतोर्यमनुस्मरामः ॥

(२४)

फलार्थिनः श्रीफलवर्द्धि चैत्यं,
यत्र श्रयन्तः फलसेविनो यत् ।
जना नवत्वं प्रथयन्ति यस्य,
च्छायाभरम्राजितया तदुच्चैः ॥

(२५)

मात्राधिकस्यापि कृतौ गुणश्चेद्,
द्वर्णाधिकस्याधिकतोचितैव ।
धातुर्विधातुर्जगतोऽपि यत्र,
मान्धातुरेवेत्यधिकः प्रयत्नः ॥

(२६)

आभ्यन्तरं यन्मणिवेश्मवृन्द-
ज्योतिर्मयं ब्रह्म विदन्ति सन्तः ।
ततो विना वास्तविकस्वरूपं
स्वर्जायते यस्य विवर्त एव ॥

(२७)

युद्धे च लक्ष्मीः किल येन वप्र-
 वमवृताङ्गेन विलुण्टिता द्योः ।
 इतीव यत्पूर्भयभङ्गलिङ्गं,
 शक्राख्यया ख्यातिमुपैति तस्याः ॥

(२८)

यच्चैत्यवातायनमौवितकेषु,
 स्वकान्तिविद्योतितदिङ्मुखेषु ।
 इन्दिन्दिरौघाः परितो भ्रमन्तो,
 जपासुमभ्रान्तिभृतः पतन्ति ॥

(२९)

यत्रानिशं स्फाटिकजैनसद्य-
 प्रभाप्रभावप्रहतान्धकारे ।
 मृगीदृशामेव कुचेषु शेते,
 कस्तूरिका नाम कुहूनीलीय ॥

(३०)

सदालिषु प्रीतिभरं दिशन्तो,
 दानेन संसर्पिकराभिरामाः ।
 स्फुरद्गतिप्रीणितविश्ववित्ता,
 यत्र श्रिताः कुम्भिसमत्वमिभ्याः ॥

(३१)

यत्रापणश्रेणिषु शुभ्रभासो,
मुक्ताफलानां प्रकराः स्फुरन्ति ।
श्रियः परीभोग (वशे)न जाताः,
स्वेदोदलेशा इव तद्विभूनाम् ॥

(३२)

निजश्रियं येन हृतामवेत्य,
दुखादियं द्यौः किमु मूर्च्छितैव ।
येनोपचीर्णा जिनवेश्मकेतु-
चेलाञ्चलं प्रेरितशीतवातैः ॥

(३३)

यस्मिन्, सभास्तारसभासमक्षं
प्रासाददण्डोपरिचन्द्रबिम्बम् ।
जिगीषया द्यां प्रति दीर्घवंश-
विन्यस्तपत्रश्रियमादधाति ॥

(३४)

यद्वेश्मनां च त्रिदिवीकसां च,
द्वयोविवादो ववृते चिराय ।
अथानयोर्भङ्गजयौ तु भाव्यौ,
विमानताख्या ध्वजधारणाभ्याम् ॥

(३५)

फणाभिरुच्चैः कपिशीर्षदम्भै-
 र्यत्पाति शेषः किल वप्रवेशः ।
 भोगावली विभ्रमतो नितान्तं,
 भोगीन्द्रलीलानिभृताद्भुतश्चि ॥

(३६)

भालस्यभङ्गे सुरतान्ततान्त-
 नारीकुचप्रच्युतदाममुक्ताः ।
 विभान्ति यत्राभ्युदयाय नूनं,
 पुष्पेषुपूजाविधये विमुक्ताः ॥

(३७)

श्रेणीभवत्सन्ततभूरिलोक-
 सङ्घट्टतो यत्र चतुष्पथेषु ।
 मुखेन्द्रकान्त्या पुनरात्मजन्म-
 कुचच्युतं दाम न वेद मुग्धा ॥

(३८)

क्रान्तो वर्णिग्भिः सुमनोभिरेभि-
 र्दध्वान यो दुन्दुभिनादधीरम् ।
 राज्ञे श्रियं यत्र स एव सूते,
 चतुष्पथोऽब्धिः पुरुषोत्तमाय ॥

(३६)

औचित्यभाजो द्रुपदात्मजावत्-
स्वस्वैरिणीभावकलङ्कमार्जी ।
भुवोऽनुरागः प्रतिभर्तृ यत्र,
विभाति कश्मीरजपण्यवीथी ॥

(४०)

पीनीभविष्णोः पणितुः पुरस्ता-
न्त्यस्तेन्द्रनीलद्युतिसङ्गतोऽयि ।
यत्रापणेष्वेणमद्रस्य मन्ये,
मालिन्यमेवास्तु न गौरवाय ॥

(४१)

सदाच्युतश्रीसहितस्य कामं,
कपूर्-रपूरोज्ज्वलफेनराशेः ।
सज्जीवनस्येह यदापणस्य,
रत्नाकरत्वं भजमानमेव ॥

(४२)

यदापणन्यस्तसमस्त-वस्तु-
विक्रीयमाणं वणिजा वलोक्य ।
वृथा कथासु प्रथिता कुलश्रा-
र्न कुत्रिका कैरपि बह्वमानि ॥

(४३)

यत्रेन्दुकान्तालयधोरणीभि-
 जैवातृकज्योतिरुपासिताभिः ।
 उच्चैस्तराभिर्भवभावभागिभिः,
 सनिर्जर्भरागीयत शैलमाला ॥

(४४)

वप्रेषु यस्मिन् विषमेषुवैरि-
 जयाय पीनव्यवसायभाजः ।
 शशाङ्कमौलेर्वलयायितोद्यद्-
 भुजङ्गभूषा परिखा विभाति ॥

(४५)

लङ्कामिवावेत्य पयोधिरेष,
 निषेवते यत्परिखैकवेषः ।
 इदं तु चित्रं परवाहिनीनां,
 कदापि दत्ते न किल प्रवेशम् ॥

(४६)

यद्वप्रपालीपरिखा विशेषा-
 दध्यक्षसंवित्त्रिपुटी किलैषा-
 युक्तं तदेतत्परतो ग्रहस्य,
 मीमांसकारुच्यपथा कथाऽपि ॥

(४७)

यत्रोल्लसत्स्फाटिक-सद्भकान्ति-
 दुग्धोदधिश्चन्द्रमसोऽर्भकस्य ।
 पङ्कः रजःक्रीडनकं किमङ्कः,
 निःशेषमङ्गात् परिमार्ष्टि भूयः ॥

(४८)

उन्मज्जदाविर्भवदात्मदोषो,
 यद्विम्बचुम्बी परिखाजलेषु ।
 मुधा यदाभाहरणापवाद-
 जिहासया दीव्यति दिव्यलोकः ॥

(४९)

बभूव भूवल्लभतानिदानै-
 गुणैर्गरिष्ठः सुकृतैकनिष्ठः ।
 तत्रैव मान्धातूपुरीपराध्यै,
 श्रीमान् महेभ्योऽनघमल्लनामा ॥

(५०)

गुणैर्निजैर्दिग्जय-सूचनार्थ-
 ममुष्य गौरीस्तनतुङ्गशैले ।
 कस्तूरिकापत्रलतावितानैः,
 कीर्तिप्रशस्ति व्यलिखद्विधाता ॥

(५१)

एतद्गुणैश्चन्द्रमरीचिगौरै-

र्यशःपटं यं कवयो वयन्ति ।

तेनावृताङ्गी भवतादिदानीं,

सुद्यौर्मृगाक्षी मलिनाम्बरत्वक् ॥

(५२)

अनेन सम्पूरयता जनाना-

माशां यशो यद्विशदं प्रसूतम् ।

अपूपुरत् कां न भृशं तदाशां,

गुणो हि हेतोर्निजकार्यगामी ॥

(५३)

श्वभ्रं बलिः प्रैष्यत विष्णुनेति,

प्राचां न वाचामनुमोदना नः ।

ह्रियैव तद्दानगुर्णजितः स-

न्नधो जगामेति तु नव्यतर्कः ॥

(५४)

वनीपकानामिदमीयदान-

नीरस्त्रवन्त्या परिवाहितो यः ।

और्वानिलस्य च्छलतः किलाब्धौ,

दारिद्र्यवह्निर्ज्वलति स्फुटैऽयम् ॥

१. श्वभ्रं बलिः कंसजिता धृतेत्यपपाठोऽपि क्वचिल्लभ्यते ।

(५५)

अपारिजातोऽपि वनीपकाना-
 मपूपुरत् कामितमर्थमेवः ।
 सपारिजातस्तु विलज्जयातो,
 लीनालिनीलाननतां प्रपन्नः ॥

(५६)

गुणेन दानस्य तुलामयासीद्-,
 वृथाऽस्य किं कामगवी पशुः सा ।
 एतद्विशेषश्रवणेन शश्व-
 न्तोचेद्भ्रियोत्तानमुखी कथं वा ॥

(५७)

अहो भवस्यैव महान् व्ययोऽभूत्,
 सुपात्रपोषाद्विभवव्ययेन ।
 भावे पुनस्तस्य विवर्धमाने,
 वरीवृधोति स्म विभाव एव ॥

(५८)

ततः कृतार्था विबुधा अपीमे,
 कल्पद्रुमस्यापि न याचितारः ।
 तदात्तदातृत्वगुणस्य तस्य,
 कष्टत्वमात्रं किल संविदानाः ॥

(५६)

वेगप्रकर्षदितिलङ्घ्य विश्वं,
 पदं प्रसर्तुं न ददे पुरो यत् ।
 मन्तोस्ततस्तद्वचसाऽपि तेने,
 सप्ताम्बुधीनामपि कण्ठरोधः ॥

(६०)

प्रकामवन्ध्याचल-साधुसेवा-
 हेवाकिभावादवदातकीर्त्तः ।
 अनेकपस्यास्य न कस्य शस्या-
 न्निरर्गलं दानजलप्रवृत्तिः ॥

(६१)

श्रीदः श्रिया निर्जित एव तेन,
 महेश्वरश्चेश्वरतागुणेन ।
 अतस्तयोस्तज्जयकाक्षिणोः किं,
 मिथः सुहृद्भाव-रसार्द्रमन्तः ॥

(६२)

पुरन्दरो गोत्रभिदेव देवः,
 श्रीदोऽपि नाम्ना स कुबेर एव ।
 ताभ्यामनेनेव तु निष्कलङ्कः,
 लब्ध्वापि लक्ष्मीश्चिरमन्वशीलि ॥

(६३)

अस्थैर्यमौजभच्चिरमस्य लक्ष्मी-
 रेतद्गुणौघैर्घन-यन्त्रितेव ।
 दान्ता महद्भिर्नहि नाम काम-
 मुच्छृङ्खलाश्चापलमाचरन्ति ॥

(६४)

विमानलक्ष्मीपरिभोगतोऽस्य,
 समानता चेन्न पुरन्दरस्य ।
 तदेतदौपम्यकथा प्रथाया-
 मभेद एवास्तु परं निदानम् ॥

(६५)

विद्याभिरेतस्य जितोऽधितस्थौ,
 पुनः कविर्यल्लघुलेखशालाम् ।
 ततस्तदीयाध्ययनार्थपूर्वा-
 भ्यासाय ताराः खटिकात्वमीयुः ॥

(६६)

दयैव तेनान्तरधारि जीवे,
 यतो भयं भेजुषि भूरिधाम्ना ।
 तदीयविद्याविभवस्य नाभूत्-
 कला तु षोडशयपि जातु काव्ये ॥

(६७)

विद्या गुरोरेव हठाद् गृहीता-
 इचतुर्दशाऽप्यस्य मुखे विलेसुः ।
 अतो लघूभूत इवैष चित्रं,
 व्योमाङ्गणे स प्रतिबम्भ्रमीति ॥

(६८)

'अनाश्रितेऽस्मिन्न महत्त्वभाजां,
 वाचामहम्पूर्विकयेति बुद्ध्या ।
 एनं श्रिताभ्यां सुदृढं किमाभ्यां,
 श्रीभारतीभ्यां मुमुचे विरोधः ॥

(६९)

प्रकम्प्यमानो जगदे स्वयं यो,
 मेरुर्नमेरुर्जगदीश्वरेण ।
 धीरस्तु तेनास्तु कथं सुर्वर्णा-
 चलस्य मुख्यस्य तुलाऽप्यमुष्य ॥

(७०)

मुख्यो महेन्द्रो व्यलसत्किलायं,
 शक्रः पुनस्तत्प्रतिबिम्बमात्रम् ।
 इदं विशिष्यापरिचीय तत्त्वं,
 विपर्ययभ्रान्तिरहो जनानाम् ॥

१. अनाश्रितोऽस्मिन्न महत्त्वभाजा वाचामिति पाठोऽपि दृश्यते ॥

(७१)

इतः समुद्राद्बुदपद्यतोच्चै-

र्यशः शशी यत्किल निष्कलङ्कः ।
सरस्वतीशालिनि तत्र जाते,
निष्कम्पभावस्य विजृम्भितं तत् ॥

(७२)

स्वरूपलक्ष्म्यैव हि भस्मभूय-
मनेन नेतुं सुशकः स कामः ।
अतोऽस्य मन्ये भवमन्युवह्नि-
दाहप्रयासः किल फल्गुरेव ॥

(७३)

द्रष्टुं किमासीन्मघवाऽस्य रूपं,
विस्फारितस्फारसहस्रनेत्रः ।
गातुं गुणानेव किमेतदीयान्,
सहस्रजिह्वोऽपि सहस्रजिह्वः ॥

(७४)

सतीव्रतोच्छेदभियानुदीत-
रोमाञ्चराजिः कथमद्य गौरी ।
श्रुत्वा सचिन्तोऽस्य न कीर्तिकान्ती,
प्रमोदमङ्गैर्विवरीतुमीशः ॥

(७५)

कस्तूरिकापङ्किलसूर्यचन्द्र-

तुङ्गस्तनी किं रिपुदुर्यशोभिः ।

अशोभि नैतस्य यशोभरैर्द्यौः,

कर्पूरपूरेण करम्बिताङ्गी ॥

(७६)

यद्भास्वताऽनेन तमः समस्तं,

निरस्यते स्मानुदिनोदितेन ।

कथं न तेनास्तु सतां सुवर्त्म-

गतेनिदानं विजयप्रकाशः ॥

(७७)

सन्त्यज्य जाड्यं बहु चापलञ्च,

यच्छंशवं तेन न बह्वमानि ।

इतीव तद्यौवनसीम्नि भक्ते,

'रोमोद्गमो रोषवशाज्जगाम ॥

(७८)

व्यशीशिषद्रूपमथास्य लास्यं,

वयः स्मयस्मेरतरस्मरस्य ।

बाल्यात्परं नाम तथा यथोच्चै-

र्भानुप्रभा सौरभमम्बुजस्य ॥

१. रोमोद्गमैरोषवशाज्जगामेत्यपि पाठो दृश्यते ।

(७६)

अचूचुरच्चामरभासमस्य,
 केशोच्चयश्चामरभासमस्य ।
 वने निवासं चमरी च लेभे,
 विपर्ययं किन्न गतिश्चलेभे ॥

(८०)

भवं समासेव्य किलैतदास्य-
 सायुज्यभाजं द्विजराजमापुः ।
 तदानुचर्योचित-कर्मयोगाद्,
 द्विजा अपीमे ननु किन्न मुक्ताः ॥

(८१)

पुरो मुखस्यास्य वृथैव भूत-
 मसौ कलङ्कीति यदावधत्ते ।
 धत्ते तदा नाम विधौ स वेधा,
 सन्तक्षणीं दारुणराहुदंष्ट्राम् ॥

(८२)

जेतुं जगद्यस्य दृशैव शक्यं,
 मुखस्य तस्यास्तु न किं विशेषः ।
 इदं जडात्मा सहसाऽविचिन्त्य,
 वृथा विधुः स्पर्धति दुर्विनीतः ॥

(८३)

स्वकान्तिमित्रस्य स एव शश्वत्-
 सङ्क्रम्यमाणां गुणसङ्क्रमेण ।
 सुवर्णशैलस्य गतां शिलासु,
 विशालतां नो वपुषाऽपुषट्किम् ? ॥

(८४)

अस्य द्विषद्गोत्रविखण्डनेन,
 भेजे भुजाभ्यां पविना जयश्रीः ।
 तेनैव दर्पश्चिरमेतयोः किं,
 विस्तारयुग्मांसलतां ततान ॥

(८५)

स मांसलांसद्वितये करीन्द्रः,
 स केसरी चाजनि मध्यदेशे ।
 अहो तमासाद्य कुतोऽपि हेतो-
 विरोधिनोरप्यगलद्वि रोधः ॥

(८६)

निर्वेदतः किं तपसे सिषेवे,
 वनं न रक्तोत्पलपल्लवाभ्याम् ।
 तदीयपादद्वयनिर्जिताभ्यां,
 प्रतिक्षणात्क्षीणविपल्लवाभ्याम् ॥

(८७)

सीमा किमस्मिन्नजकौशलस्य,
सम्भूय भूयः स्मरयौवनाभ्याम् ।
समापि लावण्यविधाविधानात्,
कुतोऽन्यथा हीदृशरूपसृष्टिः ॥

(८८)

गलन्निमेषञ्च निरन्तरञ्च,
तद्दर्शनादर्शनतृप्त्यतृप्ती ।
स्वर्जन्मनः काभिरहो सुरीभि-
निन्दास्तुती कारयतः स्म नोच्चैः ॥

(८९)

कथन्न चक्षुःश्रवसां वधूनां,
शुश्रूषया चास्य दिदृक्षया च ।
सम्पूर्यतामेकतरोपयोगं-
व्यग्रासमग्राक्षमिथः प्रवृत्त्या ॥

(९०)

क्व योग्यताऽस्मासु किलास्य योगे,
कृतार्थता वा नयनोपभोगे ।
इत्थं न काभिर्मनुजाङ्गनाभि-
विसिस्मिये वा हृदि सिस्मिये वा ॥

(६१)

तन्त्रात् प्रयोगात् किल किन्नरीणां,
 सङ्गीततानाहिततद्गुणानाम् ।
 प्रियैः शशाङ्के रसपेशलिम्ना,
 न मूर्च्छनाग्रामजमूर्च्छनेति ॥

(६२)

सर्वाङ्गशैत्यप्रणयि प्रकामं,
 गन्धर्वगानं मधुरा सुधेति ।
 पुलोमजालोमनि शस्य हृष्यत्^१
 शक्राय तं किन्न विनिह्नुते स्म ॥

(६३)

उद्वेलमुत्सर्पति यौवनाब्धौ,
 प्रद्युम्नराजाभ्युदयेन तस्य ।
 मानैर्मनोभिर्ननु मानिनीनां,
 मज्जद्भिर्हृत्प्लुत्य गतिं न तेने ॥

(६४)

जगन्ति जेताऽपि मनस्विनीनां,
 चेतश्चलं लक्ष्यमवेक्ष्य कामः ।
 अमोघशक्तिं किल तं युवान-
 मासाद्यमाद्यत्तममानसोऽभूत् ॥

१. हृष्यच्छक्राय, हृष्यच्छक्राय वा पठनीयम् ।

(६५)

तं युवानमनुवीक्ष्य पुरन्ध्री,
 दुःखमज्जितमनावृति-कृत्ये ।
 आशयाऽपि कृशयौवनिकाऽभूत्,
 तां विहाय किल नायकदेवीम् ॥

(६६)

अथ कथमपि योग्यतावमर्श-
 व्यतिकर-संशयपारगस्य धातुः ।
 मनसि पदमियं भृशं कृशाङ्गी,
 समधृत नायकदेव्यपीह कार्ये ॥

(६७)

इमां कथञ्चित्परमाणुमध्यां,
 मनो विधेर्यत्परमाणु दध्रे ।
 तत्कल्पनीयः किल कोऽपि तस्यां,
 संयोगयोग्यप्रतियोगिभावः ॥

(६८)

श्रियमिव हरिणा हरेण गौरीं,
 सुरपतिनेव पुलोमजां प्रगल्भः ।

अथ महति महे महेभ्यपुत्रीं,
ध्रुवममुना सहनां स संयुज ॥

(९९)

विहितसदृशयोगख्यातकीर्तिविरञ्चिः,
किमपि कपिसरूपं चापलं चापलप्य ।
शुचिरजनि स योग्याद्योग्ययोगप्रयुक्तं,
निजमखिलकलङ्कं मार्जयन्नार्जवेन ॥

(१००)

उद्गतेन तमसोऽवधीरणाद्,
यौवनोदय-समृद्धिशेवधिः ।
विश्वविश्वजननेत्रकौमुदी,
सा व्यराजत कलावताऽमुना ॥

(१०१)

भानोः प्रभेव सविधं परिशीलयन्ती,
तस्य प्रकाशवदना पुरुषार्थभाजः ।
सा दिद्युते प्रतिदिनं समुदित्वरशी-
विश्वत्रयीमृगदृशां विजयावदाता ॥

(१०२)

गच्छे श्रीविजयादिदेवसुगुरोः स्वच्छे गुणानां गणैः,
प्रौढप्रौढिमधाम्नि जीतविजय-प्राज्ञाः परामैयरुः ।
तत्सातीर्थ्यभृतां नयादिविजय-प्राज्ञोत्तमानां कृतौ,
शिष्यस्यादिमसर्ग एष विजयोल्लासे रसोल्लासभूः ॥

इति न्यायविशारद-न्यायाचार्य-महोपाध्याय-

श्रीमद्यशोविजयगणि-

विरचिते “श्रीविजयोल्लासे विजयाङ्कमहाकाव्ये”

प्रथमः सर्गः ।

अथ द्वितीयः सर्गः

(१)

युवनेत्रविलासि यौवनं,
शुचिवंशोचितशीलशालिता ।
चिरमेतदभूदिहोभयं,
सुधियः कस्य न विस्मयावहम् ॥

(२)

अतनोरनुमीयते कृति-
र्न तु सामान्यविधेर्विधेरियम् ।
न विशेषविधिर्विधीयते,
किमु सामान्यविधिं विधूय वा ॥

(३)

पुरुषोत्तममेनमाश्रितां,
शुचि-शृङ्गारसुधारणवोद्भवाम् ।
नयने विनिवेशितामिमां,
न विदुः के भुवि काञ्चनश्रियम् ॥

(४)

अनया विजिताः सुराङ्गना,
 भृशदुःखादिव रूपसम्पदा ।
 अनिमीलितनेत्रसम्पुटा,
 नियतं निश्यपि नैव शेरते ॥

(५)

परिणामसहायनामभाक्,
 तरुणी (सा) तरुरेव निश्चिता ।
 जडतां दधती हियापितां,
 ननु रम्भाऽपि तदीक्षणार्जिताम् ॥

(६)

प्रथिता किल सा तिलोत्तमा,
 कथमस्याः पुरतस्तिलोत्तमा ।
 अनया हि समानताऽप्यहो,
 स्वविशिष्टां मुमुचेऽनुवीक्ष्य यत् ॥

(७)

रतिरेतु रतिं न कर्हिचित्,
 कथमस्यास्त्विद्यता विजिष्णुता ।
 उचितं कलयामि तज्जिता,
 रतिरेवान्तरिता तदेव नु ॥

१. "रतिरेवानुरतिरेतदेव नु" इत्यपपाठः ।

(८)

भयतो महतस्तया जिता,
 दयिताद्धाङ्गसयुग्भवान्यभूत् ।
 द्विजराजकरावमर्शनैः,
 सतताश्वासनभाजनीकृता ॥

(९)

य इमां भुवनांतिशायिनी-
 मकरोदेष करो हि दक्षिणः ।
 इतरास्तु करोति यः पुन-
 र्ननु वामः स विधेर्विलक्षणः ॥

(१०)

चिकुरैः सह सख्यमातनोद्,
 ध्रुवमस्याः सुकृताय चामरम् ।
 पदवी न दवीयसी कथं,
 नृपमान्या पशुजन्मनोऽन्यथा ॥

(११)

सकला कचपाशचुम्बिनी,
 न कलापेऽनु कलापिनः कला ।
 सकलाकलिताद्ध चन्द्रको,
 मुखचन्द्रोपरि सञ्चरः परः ॥

(१२)

अवधाय विधेर्विधेयता-

मिह चण्डीशजयार्थमात्मनः ।

कुसुमानि शरान्न्यधत्त तत्-

कबरीमण्डलसन्निधौ स्मरः ॥

(१३)

अनया मदनो भवं जयन्,

स्वजिघांसुं कृतवैरशोधनः ।

तदयं जयसूचनाय तत्-

कबरीं सत्कुसुमैरपूजयत् ॥

(१४)

इदमाननराजराज्यतः,

कचरूपं स निबध्यते तमः ।

तदमुख्यविमुक्तियुक्तिमा-

नथ मल्लः करदानमहंतु ॥

(१५)

चिकुरालिमयीं नु तामसीं,

पथि सीमन्तमये स्थितः स्मरः ।

जनमोहकृते समस्मरत्,

कृतसिन्धूरसमर्चनाविधिः ॥

(१६)

कविभिः क्रियतां विशालत-
 द्विलसद्भालविभानिभालनात् ।
 रजनीकरकण्टमण्टमी-
 रजनीमण्डनखण्डनं तपः ॥

(१७)

मदनस्य चतुर्भुजात्मनो,
 धनुरोशः स मुधा द्विधाऽकरोत् ।
 जनयन् स हि तत्तु तद्भ्रुवौ,
 युगपत् तौ निजघान दम्पती ॥

(१८)

त्रिजगज्जयसावधानता-
 प्रधनौद्धत्यविलम्बितत्यजः ।
 मदनस्य धनुर्हि तद्भ्रुवौ,
 नियतं न श्रवणान्तिकत्यजौ ॥

(१९)

इदमीयदृशौ हि पक्ष्मले,
 मदनोन्मार्दविघूर्णिते इव ।
 रवि-बोधित-चारुकेसर-
 प्रथिताम्भोज-विडम्बिडम्बरे ॥

(२०)

श्रुतिगामितदीयनेत्रयो-
 नं बुधो विप्रतिपद्यते स्मरः ।
 वदनास्थितरङ्कुसङ्ग्रहा-
 न्ननु राज्ञोऽपि कलङ्कितोचिता ॥

(२१)

इदमीयदृशा बलस्य त-
 च्छ्रवणान्दोलनलोललीलया ।
 नियतं सहचारिणो मधो-
 मंधुमित्रस्य हि तद्विजृम्भितम् ॥

(२२)

श्रयतां शशिनस्तदानना-
 सहनं तद्वदनश्रिया जितः ।
 अधुना तु धुनातु नातुरो,
 हरिणः पङ्क्तयार्जितायशः ॥

(२३)

भजते हरिणो द्विजाधिपो,
 न तु देवञ्च विधिं सरोरुहम् ।
 इदमीयदृशा हृतश्रियो-
 नंहि निर्भीकतयानयोः स्थितिः ॥

(२४)

मृगखञ्जनपङ्कजान्यहो,
 वनमेतानि सुखं विषेहिरे ।
 स्फुरदायततद्दृशोः पुरो,
 न पुनः स्थातुमिमैरसह्यत ॥

(२५)

कुसुमानि शराः स्मरस्य ते,
 हरकोपाग्निहृतास्तथोचितम् ।
 इयमेव जगज्जयाय य-
 न्निशितान् दृष्टिशरान् व्यतीतरत् ॥

(२६)

विजितं किल पङ्कजं तथा,
 चकिते प्रत्युत तद्विलोचने ।
 तदिहात्र विदाञ्चकार को,
 न बुधः स्यादभिदामिदं तयोः ॥

(२७)

मदनस्य तदीयनासिका-
 ततर्बशोपरि भालपट्टके ।
 त्रिजगज्जन-मोहदायिनः,
 सततं नृत्यविधिव्यञ्जम्भत ॥

(२८)

अमृतस्य विधोस्तदाननी-
 भवतः साधु पदं किलाधरौ ।
 उदजीव्यत तौ विधापय-
 द्भ्रवनेत्राग्नि हुतोऽपि मन्मथः ॥

(२९)

उचितं मदनाय तत्प्रिया-
 धरबिम्बीफलढौकनं मधोः ।
 कृसुमप्रसरच्छरव्यये,
 हरगौर्यौ फलतो जिघांसते ॥

(३०)

सुषमासु परीक्षणक्षणे,
 विधिना कल्पिततोलनाविधौ ।
 अधरे किल तत्र गौरवं,
 न तु बालोद्गतविक्रमे श्रिया ॥

(३१)

इदमीयमनातपाशया,
 हरकोपानलहेतितापवान् ।
 अधरं समशिश्रियत् स्मरः,
 स बहुव्रीहिधियेव विक्रमम् ॥

(३२)

उचितः किल विद्रुमेऽधरे,
 प्रथितोऽस्याः स्मरतापनातपः ।
 ननु चित्रमितः समेधते,
 न तु शृङ्गाररसः प्रशुष्यति ॥

(३३)

नितमामिदमीयपाटला-
 धरबिम्बेन शुचिस्मितस्पृशा ।
 अपि कोकनदं व्यडम्बि तत्,
 कलितं बालमराललीलया ॥

(३४)

स्मितविस्मित-केतकीदले-
 रिदमीयाधर-बिम्बचुम्बिभिः ।
 मदनस्य जगज्जिगीषतोऽ-
 प्युचिता पुष्पफलोपनम्रता ॥

(३५)

कथमेतदिदं शुभाधरा-
 मृतनिस्यन्दविलास्यपि स्मितम् ।
 युवभिर्निजनेत्रपद्मिनी-
 दलपीतं हृदयान्यमूमुहत् ॥

(३६)

वयसा शिशुतोत्तरेण य-
 त्तदधिष्ठातृकनिष्ठया स्थितम् ।
 मदनः सदनोदयाय त-
 त्स्मितदुग्धैस्तदसिच्यतोचितम् ॥

(३७)

शुचित्स्मितनिर्झरापगा-
 सलिलस्नानविलासिनो द्विजाः ।
 द्विजराजतद्दास्यसङ्गतो,
 विषमुक्ताः शुचयो विरेजिरे ॥

(३८)

व्यलसन् दशनास्तदानने,
 द्व्यधिकार्स्त्रिशदहो महोज्ज्वलाः ।
 शशिनो द्विगुणां श्रियं निजां,
 किमु संसूचयितुं धृताः कलाः ॥

(३९)

किमु तद्वदनस्य नो विधौ,
 पुरतोऽयुज्यत भस्मगोलता ।
 गलनालबिलात् किलाचिरात्,
 तमसां रूक्षतयाऽशितोज्जिभते ॥

(४०)

द्रुहिणेन तदास्यसृष्टये,
 हृतसर्वस्वतया सुधाम्बुधौ ।
 उदभूदिह पङ्कसङ्करः,
 शशिनि श्यामललाञ्छनच्छलात् ॥

(४१)

अदसीयमुखं विधित्सुना,
 विधुतः सारमर्काषि वेधसा ।
 लधुभूत इवेति सोऽन्वहं,
 भ्रमति व्योम्नि चिराय तूलवत् ॥

(४२)

द्विजराजकलङ्किनो जया-
 दकलङ्केन तदाननेन ते ।
 उचितैव न खेदवेदना,
 स्थितिरेषा हि पुरातनी श्रुता ॥

(४३)

विधुरङ्कमृजाकृतेऽन्वहं,
 किमु तक्ष्णोति तनूमहो निजाम् ।
 न तदाननतुल्यताऽस्य ही,
 भविताऽदर्शनमेवमाश्रयता ॥

(४४)

इदमीयमुखं हि वस्तुतो,
द्विजराजो विधुरेष चेतारः ।
तदमुष्य हठेन तच्छ्रियं,
हरतः स्तैन्यकृतं हि नायशः ॥

(४५)

य इहाश्रययोः परस्परा-
मसमावेशनिदेशपेशलः ।
व्यगलत् स कलिस्तदाननं,
विधुमासाद्य सरस्वतीश्रियोः ॥

(४६)

सकलोऽपि स पाप एव त-
द्वदनस्पर्धनलोलुपो विधुः ।
इति साधु विमृश्यते बुधै-
वितथानुग्रहविद् व्यवस्थितिः ॥

(४७)

स विधिः शुचिपूर्वपक्षता-
भ्रमतः पूरयति स्म किं विधुम् ।
किमयं न समाप्स्यति स्वयं,
स्मृतसिद्धान्ततदाननाद् गलन् ॥

(४८)

मदनस्य तनोस्तदा श्रियं,
 भवभालाग्निहृतेः फलं दिदन् ।
 इदमास्यपदाय चन्द्रमा,
 रविवह्नावजुहोत् तनू निजाम् ॥

(४९)

इदमास्यमवेक्ष्य वेधसा,
 शशभृद्यत्र विलुप्यते क्रुधा ।
 शुचि पक्षमुपैति तं न हाऽ
 शुचिमन्यञ्च विशेषदर्शनः ॥

(५०)

नलिनं मलिनं किलालिना,
 रजनीशोऽपि कलङ्कपङ्किलः ।
 इदमीयमुखे निषेदुषी,
 सुषमाऽऽस्ते कथमेतयोस्ततः ॥

(५१)

इदमास्यतुलाभिलाषिता-
 तम एव द्विजराजि लाञ्छनम् ।
 भवमौलिसुरापगाजले-
 निरयाद्यज्जलधेस्तु कर्दमः ॥

(५२)

अतिकान्तमिदं मुखं सृजन्,
किमु दृग्दोषमृजाकृते विधिः ।
बलियोग्यकरम्भपिण्डकं,
विधुरूपं स वियत्युदक्षिपत् ॥

(५३)

विधुमेव सुरापगाम्बुजं,
चित्तमन्तर्धृतलाञ्छनालि सत् ।
इदमाननचन्द्रतज्जितं,
कलयामः किल हीनकान्तिकम् ॥

(५४)

पुरतो न तदाननस्य किं,
विधुरिङ्गाल इवावलोक्यते ।
उचितं त्विदमन्यथा कुतो,
मितकान्तिस्तमसस्तमश्नतः ॥

(५५)

इदमीयमुखाम्बुजोल्लसत्,
सुषमाडम्बरपश्यतोहरः ।
विधिना विधुरेष ही कुहू-
मुखदंष्ट्रामयचक्रचूर्णितः ॥

(५६)

किमगोचरितः कुहूनिशि,
 प्रयतो मन्त्रमसावपीपठत् ।
 यदवाप तदाननोपमां,
 विधुरुच्चैरिह तत्प्रसादतः ॥

(५७)

त्रिजगद्रुचिरातिशायि तद्,
 विधुनावापि तदाननं पदम् ।
 सूकृताय तमोमदाङ्कुर-
 क्रकचच्छिन्नतनुर्ममार यत् ॥

(५८)

शुचितद्वदनात्तवंभवो,
 द्विजराजोऽपि स हीनवंभवः ।
 उचितां ननु कान्तिभिक्षुकः,
 किमटन् माधुकरीमचीचरत् ॥

(५९)

धुरि कान्तिमतां तदाननं,
 विदितं क्वानुकरोतु चन्द्रमाः ।
 मिहिरादिह जातदीधितिः,
 स कुहूपर्वणि भैक्षदायिनः ॥

(६०)

इदमाननपुष्टये विधिः,
 कणशं कान्तिमयं पचेलिमम् ।
 स लुलाव विधुं पृथक्कृत-
 प्रपतच्छीर्णकणोरुतारकम् ॥

(६१)

इदमाननकान्तिचौर्यत-
 स्त्रपमानेव जनापवादतः ।
 जननीव विधुं सुरेन्द्रदिग्,
 रविभित्त्यैव जनाय निहनुते ॥

(६२)

द्विजराज इवैतदाननात्,
 सुषमाद्वैतरुचोऽध्यगीषत ।
 उचितं विधुपङ्कजादय-
 स्त्रिजगल्लोचनशोकमार्जिनः ॥

(६३)

इदमाननकारिणं करं,
 विधुना प्रोज्छति यत्स्म पद्मभूः ।
 इति तत्र रुचीरपप्रथत्,
 सविशेषोऽपि तदंशशेषजः ॥

(६४)

नयनाम्बुरुहे तदानना-
 च्चकिते सुप्रथिते ततोऽपि किम् ।
 विधुता विधुता पुरातनी,
 यदनेनेह कलङ्कपङ्किला ॥

(६५)

अधरे विधुना सुधारसः,
 श्वसिते सौरभमम्बुजन्मना ।
 निजसारहितं तदानने,
 किमु सख्यप्रथनाय नाहितम् ॥

—अपूर्णमिदं महाकाव्यम्



एतन्महाकाव्यं परमपूज्याचार्य—श्रीमद्विजयधर्मसूरीश्वर-
 शिष्यमुनिवर-श्रीयशोविजयेन सम्पादितं संशोधितं च ।

वि० सं० २०२७



सिद्धसहस्रनामकोशः



स्व० महोपाध्याय-श्रीमद्यशोविजयजीमहाराजाः

॥ घाटकोपरस्थितश्रीसर्वोदयपार्श्वनाथाय नमः ॥

न्यायविशारद-महोपाध्याय-
श्रीमद्-यशोविजयगणिवर्य-
समुच्चितः

सिद्धसहस्रनामकोशः

—०—

ऐन्द्री श्रीः प्रणिधानस्य फलं यस्यानुषङ्गिकम् ।
मुख्यं महोदयप्राप्तिस्तं सिद्धं प्रणिदध्महे ॥१॥

तस्याष्टसहस्राख्यास्मरणं शरणं सताम् ।
मङ्गलानां च सर्वेषां परमं मङ्गलं स्मृतम् ॥२॥

१—ग्रन्थकोशस्य—लेखनकालः वि० सं० १७३६ इति मूलप्रतावद्धितमस्ति ।

अथ प्रथमशतकप्रकाशः —

अनादिशुद्धः^१ शुद्धात्मा^२ स्वयंज्योतिः^३ स्वयम्प्रभुः^४ ।
केवलः^५ केवली^६ ज्ञानी^७ केवलात्मा^८ कलोद्भिक्तः^९ ॥३॥

सार्द्धसत्त्रिकलातीतो^{१०}ऽन्यूनाधिक-कलानिधिः^{११} ।
अनन्तदृग^{१२}नन्तात्मा^{१३}ऽनन्तप्राप्ति^{१४}रनन्तजित्^{१५} ॥४॥

परमेष्ठी^{१६} परब्रह्म^{१७} परमात्मा^{१८} सनातनः^{१९} ।
सदाशिवः^{२०} परंज्योतिः^{२१} ध्रुवः^{२२} सिद्धो^{२३} निरञ्जनः^{२४} ॥५॥

अनन्तरूपो^{२५}ऽनन्ताख्य^{२६} स्तथारूप^{२७}स्तथागतः^{२८} ।
यथारूपो^{२९} यथाजातो^{३०} यथाख्यातो^{३१} यथास्थितः^{३२} ॥६॥

लोकाग्रमौलि^{३३}लोकेशो^{३४} लोकालोक-विलोककः^{३५} ।
लोकेड्यो^{३६} लोकपो^{३७} लोकत्राता^{३८} लोकाग्रशेखरः^{३९} ॥७॥

विश्वदृग्^{४०} विश्वतश्चक्षु^{४१}विश्वतः पाणि^{४२} रात्मभूः^{४३} ।
स्वयम्भू^{४४}विश्वतोबाहु^{४५}विश्वात्मा^{४६} विश्वतोमुखः^{४७} ॥८॥

विश्वकृद्^{४८} विश्वरूपश्च^{४९} विश्वव्यापी^{५०} विधु^{५१} विधिः^{५२} ।
विश्वशीर्षो^{५३} नमद्विश्वो^{५४} विश्वाधारश्च^{५५} विश्वसू^{५६} ॥९॥

विश्वम्भर [ः]^{५७} शिवो^{५८} विश्वावतारो^{५९} विश्वदर्पणः^{६०} ।
विश्वख्यातो^{६१} जयो^{६२} मृत्युञ्जयो^{६३} मृत्युनिवारणः^{६४} ॥१०॥

सर्वादिः^{११} सर्वगः^{१२} सर्वजनीनः^{१३} सर्वदर्शनः^{१४} ।
 सुंश्रुतः^{१५} सुस्थितः^{१६} सुस्थः^{१७} पुराणः^{१८} प्राक्तनो^{१९} विभुः^{२०} ॥११॥
 विधिशेषो^{२१} विधेः सारः^{२२} परो विधि-निषेधतः^{२३} ।
 प्रशान्तवाह्य^{२४} निर्वाच्यो^{२५} दिसभागपरिक्षयी (?)^{२६} ॥१२॥
 अ्रपदो^{२७}ऽनक्षरो^{२८}ऽनिच्छो^{२९} ह्यतद्व्यावृत्तिलक्षणः^{३०} ।
 ब्रह्मचर्यफलीभूतो^{३१} ब्रह्मा^{३२} ब्रह्मपदस्थितः^{३३} ॥१३॥
 आत्मवान्^{३४} वेदवान्^{३५} विष्णु^{३६} ब्रह्मवान्^{३७} ब्रह्मसम्भवः^{३८} ।
 सूक्ष्मः^{३९} परात्परो^{४०} जेता^{४१} जयी^{४२} सर्वमलोऽभिक्तः^{४३} ॥१४॥
 उपासनानां फलद^{४४} उपास्यत्वेन देशितः^{४५} ।
 सर्वाविप्रतिपन्नश्च^{४६} कृषीष्ट कुशलानि नः ॥१५॥

॥ इति महोपाध्याय "श्रीयशोविजयगणि"-समुच्चिते
 राजनगरवास्तव्यसङ्घमुख्य-साह 'पनजी' सुश्रूषिते 'सिद्धनामकाशे'
 प्रथमशतकप्रकाशः ॥१॥

— ० —

अथ द्वितीयशतकप्रकाशः —

धर्मवि^१द्धर्मकृ^२द्धर्मी^३ धर्मात्मा^४ धर्मदेशकः^५ ।
 सुधर्मा^६ धर्मदो^७ धर्मनायको^८ धर्मसारथिः^९ ॥१॥
 दशधर्मा^{१०}ऽनन्तधर्मा^{११} धर्मसारः^{१२} स्वधर्मगः^{१३} ।
 परधर्मविनिर्मुक्तो^{१४} धर्मप्रापी^{१५} विधर्मभृत्^{१६} ॥२॥

धर्मचक्री^{१७} महाधर्मा^{१८} धर्ममूर्तिः^{१९} सुधर्मदृग्^{२०} ।
 धर्माङ्गो^{२१} धर्मसन्न्यासी^{२२} धर्माधर्मविवर्जितः^{२३} ॥३॥

धर्मोत्तरो^{२४} धर्मकीर्ति^{२५} धर्ममुद्^{२६} धर्ममण्डलः^{२७} ।
 धर्मानोघा^{२८} धर्ममौलि^{२९} धर्माग्रो^{३०} धर्मशासनः^{३१} ॥४॥

धर्मक्षमी^{३२} धर्ममृदु^{३३} धर्मजु^{३४} धर्मसंयमः^{३५} ।
 धर्मसत्यो^{३६} धर्मतपा^{३७} धर्मब्रह्मा^{३८} शुचिस्तत [ः]^{३९} ॥५॥

धर्मत्यागी^{४०} धर्ममुक्ति^{४१} धर्मस्थो^{४२} धर्मशाश्वतः^{४३} ।
 धर्मलभ्यो^{४४} धर्मसेव्यो^{४५} धर्मश्रद्धावशंवदः^{४६} ॥६॥

धर्मधातुः^{४७} क्षमाधातुः^{४८} श्रद्धाधातु^{४९} रधातुभाग^{५०} ।
 श्रीपातश्च^{५१} निपातश्च^{५२} ह्रीपातः^{५३} पातकक्षयो^{५४} ॥७॥

श्रेष्ठः^{५५} स्थविष्ठः^{५६} स्थविरो^{५७} ज्येष्ठः^{५८} प्रेष्ठः^{५९} पुरोहितः^{६०} ।
 गरिष्ठधी^{६१} ररिष्ठच्छिद्^{६२} बहिष्ठो^{६३} निष्ठ^{६४} एव च ॥८॥

व्योममूर्ति^{६५} रमूर्तिश्चा^{६६} न्तरिक्षात्मा^{६७} नभोमयः^{६८} ।
 गगनात्मा^{६९} महाकाश^{७०} श्चाम्बरात्मा^{७१} निरम्बरः^{७२} ॥९॥

सुयज्वा^{७३} यज्ञपुरुषो^{७४} यज्ञाङ्ग^{७५} ममृतं^{७६} हविः^{७७} ।
 धर्मयज्ञो^{७८} महावीरो^{७९} यजमानो^{८०} नियाजभाग^{८१} ॥१०॥

मन्त्रमूर्ति^{१३} मन्त्रबीजं^{१४} मन्त्रन्यासश्च^{१५} मन्त्रराट्^{१६} ।
 महामन्त्रो^{१७} मन्त्रपति^{१८} ध (धं) मस्थानं^{१९} सुमन्त्रभूः^{२०} ॥११॥
 चिन्मन्त्रो^{२१} मन्त्रसंस्थानो^{२२} मन्त्रेड्यो^{२३} मन्त्रपूजितः^{२४} ।
 मन्त्रमात्रः^{२५} स्फुरन्मन्त्रो^{२६} मन्त्रदेवश्च^{२७} मान्त्रिकः^{२८} ॥१२॥
 पञ्चमङ्गलमन्त्रश्च^{२९} सर्वमन्त्रावतारवान्^{३०} ।
 मन्त्रे प्रत्यक्षरूपो^{३१} यस्तस्मै भगवते नमः ॥१३॥

॥ इति महोपाध्याय “श्रीयशोविजयगणि” समुच्चिते
 राजनगरवास्तव्यसङ्घमुख्य-साह — ‘पनजी’ सुश्रूषिते सिद्धनामकोशे
 द्वितीयशतकप्रकाशः ॥२॥^२

— ० —

अथ तृतीयशतकप्रकाशः -

जगन्नाथो^१ जगज्ज्येष्ठो^२ जगत्स्वामी^३ जगत्पिता^४ ।
 जगन्नेता^५ जगद्भूता^६ जगद्बन्धु^७ जगद्गुरुः^८ ॥१॥
 जगत्त्राता^९ जगत्पाता^{१०} जगद्रक्षो^{११} जगत्सखः^{१२} ।
 जगदीशो^{१३} जगत्स्रष्टा^{१४} जगद्वन्द्यो^{१५} जगद्धितः^{१६} ॥२॥

१. य० संज्ञकप्रतेः प्रथमं पत्रं विनष्टम्, अतो द्वितीयपत्रस्य प्रथमपृष्ठे
 प्रारम्भः “त्रप्रत्यक्षरूपो” इत्यतो विद्यते ।

२. नमः ॥१३॥ द्वितीयशतकप्रकाशः ॥२॥ ज० ।

३. गत्सुहृन् य० ।

जगत्पति^{१०}र्जगन्मान्यो^{१८} जगच्छास्ता^{१९} जगन्मुखम्^{२०} ।
 जगच्चक्षु^{२१}र्जगन्मित्र^{२२} जगद्दीपो^{२३} जगत्सुहृत्^{२४} ॥३॥
 जगत्पूज्यो^{२५} जगद्धृद्यो^{२६} ५जगद्वि^{२७}जगदर्यमा^{२८} ।
 जगन्माता^{२९} जगद्भ्राता^{३०}जगद्भानु^{३१}र्जगन्मणिः^{३२} ॥४॥
 १जगदच्यो^{३३} जगच्छिन्नन्त्यो^{३४} जगत्काम्यो^{३५} जगत्प्रियः^{३६} ।
 जगद्वेतु^{३७}र्जगत्केतु^{३८}र्जगत्सीमा^{३९} जगन्निधिः^{४०} ॥५॥
 जगद्वैद्यो^{४१} जगज्ज्योति^{४२}र्जगत्पोषी^{४३} जगद्वृषः^{४४} ।
 जगत्पूषा^{४५} ७जगद्धुर्यो^{४६} जगद्वीजं^{४७} जगत्तरुः^{४८} ॥६॥
 जगत्सारो^{४९} जगन्मूलं^{५०} ऽसिद्धार्थः^{५१} सिद्धशासनः^{५२} ।
 सिद्धस्थानः^{५३} सुसिद्धान्तः^{५४} सिद्धगीः^{५५} सिद्धधीः^{५६} सुधीः^{५७} ॥७॥
 भवाब्ध्यगस्ति^{५८}र्भवहृद्^{५९} भवच्छि^{६०}दपुनर्भवः^{६१} ।
 कालातीतो^{६२} भवातीतो^{६३} भयातीतः^{६४} कलातिगः^{६५} ॥८॥
 गुणातीतो^{६६} रजोऽतीतः^{६७} कल्यातीतः^{६८} कुलातिगः^{६९} ।
 वर्णातीतः^{७०} पदातीतो^{७१} मार्गातीतो^{७२}ऽक्षरातिगः^{७३} ॥९॥
 वाक्यातीतः^{७४} स्मयातीतो^{७५} वाचोऽतीतो^{७६} नयातिगः^{७७} ।
 वृच्यतीतः^{७८} स्पृहातीतो^{७९} न्यासातीतो^{८०} जनातिगः^{८१} ॥१०॥

४. जगद्गुरुः य । ५. जगद्वि^{२७}र्जगद जं० । ६. दयो य० ।

७. जगद्दुर्यो जं० । ८. सिद्धार्त्तः य० ।

छन्दोऽतीतो^{६२} जनातीतो^{६३} लोकातीतो^{६४} लयातिगः^{६५} ।
 रीगातीतो^{६६}स्तपोऽतीतो^{६७} व्रतातीतो^{६८} यमातिगः^{६९} ॥११॥
 ध्यानातीतो^{७०} मनोऽतीतो^{७१}श्चिन्तातीतो^{७२}श्चयातिगः^{७३} ।
 लेपातीतो^{७४} गदातीतो^{७५} कामातीतो^{७६}स्तमोऽतिगः^{७७} ॥१२॥
 वेदातीतो^{७८} वयोऽतीतो^{७९} सर्वातीतो^{८०} यः प्रभुः ।
 कर्मन्धनानि दह्यन्ते तस्य घनाग्निना क्षणात् ॥१३॥

॥ इति महोपाध्याय 'श्रीयशोविजयगणि' समुच्चिते
 राजनगरवास्तव्य-सङ्घमुख्य-साह 'पनजी' सुश्रुषिते श्रीसिद्धनामकोशे
 तृतीयशतकप्रकाशः ॥३॥^१

— ० —

अथ चतुर्थशतकप्रकाशः

अमृतात्मा^१ऽमृतोद्भूतो^२ऽमृतस्रष्टा^३ऽमृतोद्भवः^४ ।
 अमृतौघो^५ऽमृताधारो^६ऽमृताङ्गो^७ऽमृतसंस्थितिः^८ ॥१॥
 कृतज्ञः^९ कृतकृत्यश्च^{१०} कृतधर्मा^{११} कृतऋतुः^{१२} ।
 कृतवेदः^{१३} कृतात्मा च^{१४} संस्कृताप्ति^{१५}रसंस्कृतः^{१६} ॥२॥
 भावः^{१७} स्वभावो^{१८} निर्वर्गो^{१९} मुख्यवर्गो^{२०}ऽपवर्गभाग^{२१} ।
 सत्ता^{२२} पदार्थः^{२३} पूर्णार्थो^{२४} लक्षणार्थ^{२५}स्त्रिलक्षणः^{२६} ॥३॥

पद्मेशः^{३७} पद्मसम्भूतिः^{३८} पद्मभूः^{३९} पद्मविष्टरः^{४०} ।
हृत्पद्मस्थो^{४१} महापद्मः^{४२} पद्मः^{४३} पद्मासनोदयः^{४४} ॥४॥

हिरण्यगर्भः^{४५} श्रीगर्भो^{४६} विरञ्चि^{४७} द्रु^{४८} हिणश्च^{४९} कः^{५०} ।
वेदगर्भः^{५१} शतानन्दः^{५२} पुराणज्ञः^{५३} पुराणगः^{५४} ॥५॥

विश्वरेता^{५५} हंसगति^{५६} म^{५७}हाहंसश्च^{५८} हंसराट्^{५९} ।
प्रजापतिः^{६०} प्रजानाथो^{६१} हिरण्येशो^{६२} हिरण्यमयः^{६३} ॥६॥

हृषीकेशो^{६४} नभःकेशः^{६५} स्थास्नु^{६६} जिष्णुः^{६७} पितामहः^{६८} ।
भिषग्वरो^{६९} ऽगदङ्कारो^{७०} वैद्यो^{७१} ध्वस्तगदो^{७२} ऽगदः^{७३} ॥७॥

वरदः^{७४} पारदः^{७५} श्रीदः^{७६} सिद्धिदः^{७७} सर्वशर्मदः^{७८} ।
वर्षीयान्^{७९} वृषभो^{८०} वर्षो^{८१} वृषकेतु^{८२} वृषध्वजः^{८३} ॥८॥

महाबोधि^{८४} वर्द्धमानो^{८५} महर्द्धि^{८६} वर्द्धिलक्षणः^{८७} ।
अहानि-वृद्धि^{८८} स्तुल्यात्मा^{८९} त्रिलिङ्गो^{९०} ऽतिस्त्रिलिङ्गकः^{९१} ॥९॥

निरक्षः^{९२} कृतभूरक्षो^{९३} रक्षोहन्ता^{९४} स्वरक्षितः^{९५} ।
आत्मेक्षणः^{९६} क्षणमयः^{९७} शुभंयुः^{९८} पुष्कलेक्षणः^{९९} ॥१०॥

त्रयीमय^{१००} स्त्रयीकेतु^{१०१} धारावाही^{१०२} त्रयीधरः^{१०३} ।
त्रयीतेजोमय^{१०४} स्त्रेता^{१०५} दशपारमितेश्वरः^{१०६} ॥११॥

त्रयीतनु^{१६}स्त्रयीगीतः^{१६} ३पिटकत्रयदेशितः^{१७} ।
त्रिस्थ^{१८}स्त्रिकरणोन्मुक्त^{१९}स्त्रिब्रह्मप्रकृतिः^{२०} ४श्रिये ॥१२॥

॥इति महोपाध्याय 'श्रीयशोविजयगणि' समुच्चिते
राजनगरवास्तव्यसङ्घमुख्य-साह'पनजी'सुश्रूषिते श्रीसिद्धनामकोशे
चतुर्थशतकप्रकाशः ॥४॥

— ० —

अथ पञ्चमशतकप्रकाशः

शक्तो^१ निरेजः^२ कूटस्थः^३ शीलेशः^४ शीलनायकः^५ ।
शैलेशः^६ प्राप्तशैलेशि^७निश्चयी^८ व्यवहारमुक्^९ ॥१॥

अनुपाधि^{१०}रूपाधिच्छित्^{११} सर्वोपाधिविशुद्धिमान्^{१२} ।
अनाचार्यो^{१३}ऽनुपाध्यायो^{१४}ऽगुरु^{१५}गुरुशिरोमणिः^{१६} ॥२॥

स्वयम्बुद्धो^{१७} विबुद्धश्च^{१८} सम्बुद्धो^{१९} बुद्धजागरः^{२०} ।
तुरीयावस्थित^{२१}स्तुर्यः^{२२} सिद्धजागरिकात्रयः^{२३} ॥३॥

अशस्त्रः^{२४} शस्त्रमुक्^{२५} शस्त्रोजिभ्तः^{२६} शस्त्रविवर्जितः^{२७} ।
अशस्त्री^{२८} परमाशस्त्रो^{२९}ऽशस्त्रभी^{३०}रकुतोभयः^{३१} ॥४॥

३. पितृक° य० ।

४. श्रिये ॥१२॥ श्रीसिद्धनामकोशे चतुर्थप्रकाशः ॥४॥ जं० ।

दयासिन्धुः^{१३} र्दयापालो^{१३} दयानेता^{१४} दयानिधिः^{१५} ।
दयालुः^{१६} स्वदयाचिह्नो^{१७} दयाश्रेष्ठो^{१८} दयोदयः^{१९} ॥५॥

दयास्थायी^{२०} दयास्थानं^{२१} सर्वशुद्धदयामयः^{२२} ।
दयापात्रं^{२३} दयामात्रो^{२४} दयाव्यासो^{२५} दयोनन्तिः^{२६} ॥६॥

आत्माराम^{२७}श्चिदाराम^{२८}श्चिद्रामो^{२९} रामसत्तमः^{३०} ।
श्रीरामः^{३१} केवलारामो^{३२} दयारामो^{३३} विरामवान्^{३४} ॥७॥

अजन्मरामो^{३५}ऽति(ती)रामो^{३६} महारामो^{३७} मनोरमः^{३८} ।
स्वतोरामः^{३९} स्वयंरामः^{४०} १केवलो राम^{४१} एव च ॥८॥

महेन्द्राऽर्च्यो^{४२} महेन्द्रेऽर्च्यो^{४३} महेन्द्रो^{४४}ऽतीन्द्रियार्थदृक्^{४५} ।
अनिन्द्रियो^{४६}ऽहमिन्द्रार्च्यो^{४७}ऽतीन्द्रो^{४८}ऽतीन्द्रियदृक्^{४९}
स्वदृक्^{५०} ॥९॥

भूतात्मा^{५१} भूतभृद्^{५२} भूतरक्षी^{५३} भूताभयङ्करः^{५४} ।
प्रभवो^{५५} विभवो^{५६} भूताधारो^{५७} भूतानुपग्रहः^{५८} ॥१०॥

अस्तप्राणो^{५९} महाप्राणः^{६०} प्राणदः^{६१} प्राणितेश्वरः^{६२} ।
प्राणेशः^{६३} प्राणदयितः^{६४} प्राणाग्न्यः^{६५} प्राणवल्लभः^{६६} ॥११॥

प्राणोत्तरः^{६७} प्राणगति^{६८}रप्राणः^{६९} प्राणिनामिनः^{७०}
अग्राह्यो^{७१} गहनं^{७२} गूह्यं^{७३} प्रणवः^{७४} प्रणवोत्सवः^{७५} ॥१२॥

प्राणायामप्रकटितः^{१६} प्राणमन्त्रो^{१७} जपञ्जपः^{१८} ।
द्रष्टा^{१९} कलङ्कलीभावः^{२०} सिद्धः सिद्धि ददातु^१ नः ॥१३॥

॥इति महोपाध्याय “श्रीयशोविजयगणि” समुच्चिते
राजनगरवास्तव्य-स ॥ मुख्य-साह-‘पनजी’सुश्रूषिते श्रीसिद्धनामकोशे
पञ्चमशतकप्रकाशः ॥५॥

— ० —

अथ षष्ठशतकप्रकाशः

महाशिवो^१ महाज्योतिर्महासिद्धो^२ महाध्रुवः^३ ।
महादृष्टिर्महाप्राप्तिर्महारूपो^४ महायशः^५ ॥१॥

महात्राता^६ महाचक्षु^७र्महाधारो^८ महाविधिः^९ ।
महाविभु^{१०}र्महासारो^{११} महावेदो^{१२} महागमः^{१३} ॥२॥

महोपास्यो^{१४} महाध्येयो^{१५} महाव्यापी^{१६} महामहः^{१७} ।
महानाथो^{१८} महाज्येष्ठो^{१९} महास्वामी^{२०} महासुहृत्^{२१} ॥३॥

महास्रष्टा^{२२} महावन्द्यो^{२३} महामान्यो^{२४} महामुनिः^{२५} ।
महापूज्यो^{२६} महाभ्राता^{२७} महाकाम्यो^{२८} महाप्रियः^{२९} ॥४॥

महाहेतु^{३०}र्महासीमा^{३१} महावैद्यो^{३२} महौषधः^{३३} ।
महामार्गो^{३४} महान्यासो^{३५} महापूषा^{३६} महाचलः^{३७} ॥५॥

महामूर्ति^{१३}महाचक्री^{१३} महाराजो^{१३} महानयः^{१३} ।
महाकीर्ति^{१४}महास्फूर्ति^{१४}महासत्यो^{१४} महातपाः^{१४} ॥६॥

महामुक्ति^{१५}महात्यागी^{१५} महाब्रह्मा^{१५} महाशुचिः^{१५} ।
महाधातु^{१६}महाप्रष्ठो^{१६} महायज्वा^{१६} महाहविः^{१६} ॥७॥

महाव्योम^{१७} महाबीजं^{१७} महामात्रो^{१७} महाधृतिः^{१७} ।
महाकृतो^{१८} महाभावो^{१८} महावर्गो^{१८} महाधरः^{१८} ॥८॥

महासनो^{१९} महाभूति^{१९}महेशश्च^{१९} महावृषः^{१९} ।
महाशिष्टि^{२०}महादेशो^{२०} महाज्ञश्च^{२०} महाव्रतः^{२०} ॥९॥

महागति^{२१}महास्थास्तु^{२१}महावृद्धि^{२१}महाक्षणः^{२१} ।
महागुरु^{२२}महाणुश्च^{२२} महावेश्मा^{२२} महावशी^{२२} ॥१०॥

महाशक्रो^{२३} महाशीलो^{२३} महाचार्यो^{२३} महागुणः^{२३} ।
महादयो^{२४} महापात्रो^{२४} महाव्याप्ति^{२४}महोन्नतिः^{२४} ॥११॥

महार्णवो^{२५} महामेरु^{२५}महाशाखो^{२५} महाधनः^{२५} ।
महावसु^{२६}महावेदो^{२६} महापोतो^{२६} महागृहम्^{२६} ॥१२॥

महादित्यो^{२७} महासोमो^{२७} महाप्रज्ञाङ्कुर^{२७}स्तथा ।
महातर्कवितारश्च^{२८} श्रेयांसि वितनोतु^{२८} २नः ॥१३॥

१. महाकृति ६१ मंहा० य० ॥

२. नः ॥१३॥ श्रीसिद्धनामकोशे षष्ठशतप्र० जं० ।

प्रथमसप्तमशतकप्रकाशः

विजयो^१ वैजयन्तश्च^२ जयन्तश्चापराजितः^३ ।
 सर्वार्थसिद्ध^४स्तीर्थार्थः^५ स्वयम्भूरमणो^६ जयः^७ ॥१॥
 सदातनः^१ सदाज्ञानः^{१०} सदासत्यः^{११} सदाश्रयः^{१२} ।
 सदासुहृत्^{१३} सदासौख्यः^{१४} सदाविद्यः^{१५} सदोदयः^{१६} ॥२॥
 सदायोगः^{१७} सदाभोगः^{१८} सदातृप्तः^{१९} सदानघः^{२०} ।
 सदास्नातः^{२१} सदालेपः^{२२} सदोद्द्योतः^{२३} सदास्थितिः^{२४} ॥३॥
 अतुल्यो^{२५} असदृशो^{२६} ऽकल्यो^{२७} ऽसमानो^{२८} सवया^{२९} नगः^{३०} ।
 अगो^{३१} नगाधिराजश्च^{३२} स्थावरो^{३३} जङ्गमाश्रयः^{३४} ॥४॥
 प्रक्षीणवन्धः^{३५} कामारिः^{३६} प्रमाणपरिधिः^{३७} प्रधोः^{३८} ।
 कृतानन्दः^{३९} कृतामोदः^{४०} कृतशर्मा^{४१} कृतोदयः^{४२} ॥५॥
 कृतान्तसृट्^{४३} कृतान्तच्छिन्त्^{४४} कृतान्तज्ञः^{४५} कृतान्तहृत्^{४६} ।
 समयः^{४७} समयातीतो^{४८} विषमो^{४९} विषमास्त्रजित्^{५०} ॥६॥
 जितारि^{५१}रजितो^{५२} धर्ममेधो^{५३}ऽमोघश्च^{५४} शम्भवः^{५५} ।
 सुप्रतिष्ठो^{५६} दृढरथो^{५७} विश्वसेनो^{५८} महारथः^{५९} ॥७॥
 चिन्तामणिः^{६०} सुरमणिः^{६१} कामकुम्भः^{६२} सुरद्रुमः^{६३} ।
 रोहणो^{६४} दक्षिणावर्तः^{६५} कामधेनु^{६६}रकश्मलः^{६७} ॥८॥
 चित्तार्द्धार्धप्रद^{६८}श्चैत्य^{६९} शिचरच्छाय^{७०}शिचरस्थितिः^{७१} ।
 जैवातृको^{७२}ऽनभिज्ञानो^{७३} विस्पर्शः^{७४} स्पर्शगोचरः^{७५} ॥९॥
 असम्मोहाप्य^{७६} उन्नेयः^{७७} पुरुहूतो^{७८}ऽवतारमुक्^{७९} ।
 दशलाक्षणको^{८०} देशो^{८१}ऽनुद्देशो^{८२}ऽनुपचारभूः^{८३} ॥१०॥

बन्धुरो^{८८} रुचिर^{८९}श्चारु^{९०}र्वन्धू^{९१} रूप्यश्च^{९२} शोभनः^{९३} ।
 शतशाखः^{९४} शतर्क्षश्च^{९५} शततारः^{९६} शताध्वगः^{९७} ॥११॥
 शतोपायः^{९८} शताख्यानः^{९९} शतकीर्तिः^{१००} शताह्वयः^{१०१} ।
 शतगृह्यः^{१०२} शतोद्गीथः^{१०३} शतवृत्तिः^{१०४} श्रियेऽस्तु नः ॥१२॥

॥ इति महोपाध्याय-श्रीयशोविजयगणि-समुच्चिते
 राजनगरवास्तव्यसङ्घमुख्य-साह'पनजी'मुश्रूषिते श्रीसिद्धनामकोशे
 सप्तमशतकप्रकाशः ॥७॥

अथाष्टमशतकप्रकाशः

धीशो^१ धियःपति^२र्धीन्द्रो^३ ध्रिषणः^४ शेमुषीधरः^५ ।
 धीगणो^६ धीसमूहश्च^७ गीष्पतिश्च^८ गिराम्पतिः^९ ॥१॥
 वाचस्पति^{१०}र्वचःस्रष्टा^{११} बृहदात्मा^{१२} बृहस्पतिः^{१३} ।
 बृहदारण्यको [द्]द्योती^{१४} मनीषीशो^{१५} मनीषितः^{१६} ॥२॥
 नयोत्क्रान्तो^{१७} नयोद्भेदी^{१८} ज्ञानगर्भः^{१९} प्रभास्वरः^{२०} ।
 रत्नगर्भो^{२१} दयागर्भः^{२२} पुण्यगर्भः^{२३} स्वगर्भजः^{२४} ॥३॥
 लक्ष्मीशः^{२५} कमलानाथो^{२६} निर्मन्तु^{२७}र्मन्तुमोचनः^{२८} ।
 आशामोचन^{२९} उद्दाम^{३०} आशाविश्रामभाजनम्^{३१} ॥४॥

१. °स्तु वः ॥१२॥ श्रीसिद्धनाम° जं०॥

२. मनीषीष्टो १५ जं० ॥ ३. स्वगर्भजः २४ जं० ॥

धर्मयूपो^{३३} धर्मगणो^{३३} धर्मनेमि^{३३} रकर्मठः^{३३} ।

धर्मचक्रायुधो^{३३} धर्मघोषणो^{३३} धर्मपोषणः^{३३} ॥५॥

स्पृहामुक्तः^{३३} स्पृहात्यागी^{३३} स्पृहापशुः^{३३} स्पृहोजिभक्तः^{३३} ।

दूरस्थो^{३३} दूरदृग्^{३३} दूरपथ^{३३} स्तथ्यः^{३३} स्थितिप्रणीः^{३३} ॥६॥

अध्यात्मगम्यो^{३३} अध्यात्माङ्गो^{३३} अध्यात्माप्यो^{३३} अध्यात्मलोचनः^{३३} ।

अध्यात्माधित्यको^{३३} अध्यात्मकैलाशो^{३३} अध्यात्मशासनः^{३३} ॥७॥

अध्यात्मवासो^{३३} अध्यात्माचो^{३३} अध्यात्माको^{३३} अध्यात्मभास्करः^{३३} ।

अध्यात्मांशु^{३३} धनाध्यात्मः^{३३} स्वाध्यात्मो^{३३} अध्यात्मसङ्ग्रहः^{३३} ॥८॥

अध्यात्मकोटि^{३३} अध्यात्मसारो^{३३} अध्यात्मपरिग्रहः^{३३} ।

अध्यात्मसृष्टि^{३३} अध्यात्मपवित्रो^{३३} अध्यात्मपारगः^{३३} ॥९॥

अध्यात्मपूर्णो^{३३} अध्यात्मेष्टो^{३३} अध्यात्माढ्यो^{३३} अध्यात्मसंश्रयः^{३३} ।

अध्यात्मयज्ञो^{३३} अध्यात्मेन्द्रो^{३३} अध्यात्मेनो^{३३} अध्यात्मवासितः^{३३} ॥१०॥

अध्यात्मभाव्यो^{३३} अध्यात्मेद्धो^{३३} अध्यात्माध्वा^{३३} अध्यात्मसङ्गतः^{३३} ।

अध्यात्मरङ्गो^{३३} अध्यात्माथो^{३३} अध्यात्माभो^{३३} अध्यात्ममन्दिरम्^{३३}

॥११॥

अध्यात्मपूतो^{३३} अध्यात्मास्थो^{३३} अध्यात्माज्ञो^{३३} अध्यात्मसंवरः^{३३} ।

अध्यात्मस्थो^{३३} अध्यात्मधनो^{३३} अध्यात्मज्ञो^{३३} अध्यात्मविष्टरः^{३३} ॥१२॥

१. स्पृहाघनः ४२ जं० ॥

२. त्मसङ्ग्रहः ५४ जं० ॥

३. त्मशासनः ६२ जं० ॥

४. भावो ७७ जं० ॥

५. अध्यात्माग्रो (? ज्ञो) ८२ जं० ६५ जं० ॥

अध्यात्मपीठो^{१३} -^१ अध्यात्मे लो^{१४} अध्यात्मे तो^{१५} अध्यात्मसन्ततः^{१६} ।

^२ प्राध्यात्मो^{१७} अध्यात्मसन्तानो^{१८} अध्यात्माख्यो^{१९} अध्यात्मविन्^{२०}
मुदे^३ ॥१३॥

॥इति महोपाध्याय-श्रीयशोविजयगणि-समुच्चिते

राजनगरवास्तव्यसङ्घमुख्य-साहपनजीसुश्रूषिते श्रीसिद्धनामकोशे

अष्टमशत [क.] प्रकाशः ॥८॥

अथ नवमशतकप्रकाशः

अभो^१ अनदो^२ अरवो^३ अनादो^४ स्वरो^५ अस्वानो^६ अस्वनो^७ अध्वनिः^८ ।

अवृद्धि^९ अरुणो^{१०} बिन्दु^{११} अरविसर्गो^{१२} अलुग^{१३} क्रमः^{१४} ॥१॥

अहसो^{१५} अमातृको^{१६} अप्रत्याहारो^{१७} अधोषो^{१८} अनुपाहितः^{१९} ।

अनामा^{२०} अप्रातिपदिको^{२१} असमासो^{२२} अविग्रहो^{२३} अग्रहः^{२४} ॥२॥

अनाख्यातो^{२५} अकृदन्त^{२६} अचातद्वितो^{२७} नणु (? नाप्यु) णादिकः^{२८} ।

अयोगो^{२९} अरूढि^{३०} अस्ताभो^{३१} अच्छन्दा^{३२} अचाप्यनलङ्कृतिः^{३३} ॥३॥

अपातो^{३४} अलम्बनो^{३५} अक्रान्ति^{३६} अरराशि^{३७} अरनहर्गणः^{३८} ।

अनतो^{३९} अनुन्नतो^{४०} अलग्नो^{४१} अनुच्चो^{४२} अनीचो^{४३} अदिगन्तरः^{४४} ॥४॥

अनको^{४५} अनाटको^{४६} अनाट्यो^{४७} अविभवो^{४८} अतनुभावकः^{४९} ।

अस्थायी^{५०} असो^{५१} अश्लथो^{५२} अनाथो^{५३} अकाव्यो^{५४} अजीति^{५५} -

रपिङ्गलः^{५६} ॥५॥

१. अध्यात्मेजो ६४ अध्यात्मेजो (? डयो) २. प्राध्याप्यो ६७ य० ॥

३. अन्मुदे ॥१३॥ श्रीसिद्धकोशोऽष्टमं जं० ॥

४. अयोजो २६ अभूमि ३० अस्ताभो ३१ जं० ॥ ५. कायो य० ॥

अनिघण्टु^१ रनध्यायो^२ ऽसंहितो^३ ऽवैद्यको^४ ऽव्यथः^५ ।
 अग्रामो^६ ऽमूर्च्छनो^७ ऽवाद्यो^८ ऽनेपथ्यो^९ ऽनिङ्गितो^{१०} लयः^{११} ॥६॥
 पश्यत्यात्मा^{१२} ऽघनो^{१३} ऽभाषो^{१४} ह्यवैखरि^{१५} रमध्यमः^{१६} ।
 अश्वेतो^{१७} ऽपाटलो^{१८} ऽश्यामो^{१९} ऽनीलो^{२०} ऽबभ्रु^{२१} रपीतिमा^{२२} ॥७॥
 अतिकतो^{२३} ऽमधुरो^{२४} ऽनम्लो^{२५} ऽकषायो^{२६} ऽलवणो^{२७} ऽकटुः^{२८} ।
 असौगन्ध्यो^{२९} ऽपदौर्गन्ध्यो^{३०} ऽनुष्णो^{३१} ऽशीतो^{३२} ऽखरो^{३३} ऽमृदुः^{३४}
 ॥८॥

अस्निग्धो^{३५} ऽगौरवो^{३६} ऽलूक्षो^{३७} ऽसंस्थानो^{३८} ऽलघु^{३९} रस्मयः^{४०} १^{४१} ।^{४२}
 अवेदो^{४३} वेदसङ्गीतः^{४४} श्रीयुक्तः^{४५} श्रीपतिः^{४६} श्रिये ॥९॥^{४७}

॥ इति महोपाध्याय-श्रीयशोविजयगणि-समुच्चिते
 राजनगरवास्तव्यसङ्घ-समुख्य-साह'पनजी'सुश्रूषिते श्रीसिद्धनामकोशे
 नवम^{४८} शतकप्रकाशः ॥९॥

अथ दशमशतकप्रकाशः

आदिदेवो^{४९} युगादीशो^{५०} युगेशो^{५१} युगपो^{५२} युगः^{५३} ।
 उपज्ञा^{५४} समयोपज्ञ^{५५} मप्रत्यूहो^{५६} महाबलः^{५७} ॥१॥
 शिवताति^{५८} महाशान्ति^{५९} निर्वृत्तः^{६०} संवृतो^{६१} ऽवृतः^{६२} ।
 अरहा^{६३} अरुहो^{६४} ऽरोह^{६५} आद्यध्येयः^{६६} पदोत्तरः^{६७} ॥२॥

१. रनध्येयो ५८ जं० ॥

२. यः ६६ । अना ६७ ऽश्व्य ६८ ऽनपुषा संज्ञः ६९ श्रिये सिद्धान्त-
 देवता १०० ॥९॥ य०॥

३. ॥९॥ श्रीसिद्धनामं जं० ॥ ४. शतप्रं य० ॥

आत्मरक्षा^{३०}ऽऽत्मकवच^{३१} मात्मत्राता^{३२}ऽऽत्मपञ्जरम्^{३३} ।
 अकुण्ठ^{३४} स्रथ्यम्बकः^{३५} सार्वः^{३६} शर्वः^{३७} सर्वेश्वरो^{३८} मृडः^{३९} ॥३॥

आद्येड्य^{४०} आद्यचारित्र^{४१}माद्यमन्त्र^{४२} ऋगादिमः^{४३} ।
 आद्यवा^{४४}गाद्यभू^{४५}राद्यनेता^{४६}ऽऽद्यर्षि^{४७}वृषादिमः^{४८} ॥४॥
 आद्यमेघः^{४९} प्रधानाद्यः^{५०} क्षमाद्यो^{५१} नाद्यो^{५२} निराक्रियः^{५३} ।
 नन्द्यो^{५४} नादीनवो^{५५} नन्द्यावर्तो^{५६}ऽर्हः^{५७} स्वस्तिको^{५८}ऽस्तिकः^{५९} ॥५॥

प्रोढो^{६०}ऽनूढो^{६१} मन्त्रशिखो^{६२} दीप्तो^{६३}ऽरिघ्नो^{६४} निरन्तरः^{६५} ।
 भद्रो^{६६}ऽनीदृ^{६७}गनित्यंस्थो^{६८}ऽयुतसिद्धः^{६९} सुसंयुतः^{७०} ॥६॥

अलोकस्पृग्^{७१} लोकमध्ये^{७२} लोकमान्यो^{७३} विसंशयः^{७४} ।
 जागरूकः^{७५} सदोन्नद्रो^{७६} निस्तन्द्रो^{७७} निःप्रमीलदृग्^{७८} ॥७॥

अनिमेषो^{७९} निमेषेन्द्रः^{८०} प्रमाकर्ता^{८१} प्रमाप्यकः^{८२} ।
 प्रमाणं च^{८३} प्रमासम्प्रदानं^{८४} शुद्धप्रमाश्रयः^{८५} ॥८॥

प्रमापादानः^{८६} सम्बन्धी प्रमायाः^{८७} स्वप्रमोद्गतः^{८८} ।
 २मार्गो^{८९} मार्गप्रभु^{९०}मार्गस्वामी^{९१} मार्गविशोधकः^{९२} ॥९॥

१. ॥९॥ श्रीसिद्धनाम जं० ।

२—“मार्गो^{९०}मार्गेश^{९१}सन्मार्गो^{९२} मार्गदृग्^{९३} मार्गशोधकः^{९४}” इति जं०प्रती ।

एकधी^{१३}रेकपू^{१४}रेकवेशमै^{१५}कस्थिति^{१६}रेकभूः^{१७} ।

एकोद्भव^{१८}श्चैकमार्ग^{१९} एकधामै^{२०}कशासनः^{२१} ॥१०॥

एकातपत्र^{२२} एकाज्ञ^{२३} एकाग्र^{२४}श्चैकमन्दिरः^{२५} ।

गभस्ति^{२६} स्तरणि^{२७} स्तारः^{२८} सविता^{२९} ध्वान्तनाशनः^{३०} ॥११॥

चतुष्कभा^{३१}गष्टगुणो^{३२} दीनपो^{३३} भक्तवत्सलः^{३४} ।

कृपालुः^{३५} स्फीतकरुणो^{३६} धीरः^{३७} श्रीरमणः^{३८} श्रिये ॥१२॥

१॥ इति महोपाध्याय-श्रीयशोविजयगणि-समुच्चिते
[राजनगरवास्तव्य] सङ्घमुख्य-सा-‘रतन’सुत-सा-‘पनजी’ सुश्रूषिते श्रीसिद्धनामकोशे
दशमशतकप्रकाशः ॥१०॥

[॥ सम्पूर्णमिदं श्रीसिद्धसहस्रनामप्रकरणम् ॥]

फलश्रुतिः

अष्टोत्तरं नामसहस्रमेतत् पठन्ति ये प्रातरपप्रमीलाः ।

ते स्वर्गलीलामनुभूय भूयः सिद्धालयं यान्ति न संशयोऽत्र ॥१॥

प्रशस्तिः

अगच्छे श्रीविजयादिदेवसुगुरोः स्वच्छे गुणानां गणैः,

प्रौढि प्रौढिमधाम्नि जीतविजयप्राज्ञाः परामैयरुः ।

१. एतच्चिह्नद्वयान्तर्गतः पाठो ज० संज्ञकप्रती नास्ति ॥

२. उपेन्द्रवज्राच्छन्दः ॥

३. शार्दूलविक्रीडितच्छन्दः । उपेन्द्रवज्रा-

शार्दूलविक्रीडितच्छन्दसी विहाय शेषरचनाऽनुष्टुप्छन्दोमयी ज्ञेया ॥

तत्सातीर्थ्यभृतां नयादिविजयप्राज्ञोत्तमानां शिशु-
स्तत्त्वं किञ्चिदिदं यशोविजय इत्याख्याभृदाख्यातवान् ॥२॥

१इति श्रीसिद्धनामानि^२ ॥

[पू० आ० श्रीमद्विजयधर्मसूरीश्वरशिष्यमुनिश्रीयशोविजयेन
वि०सं० २०३२ तमे मुम्बानगर्यां संशोधितं सम्पादितं च^१ ।]

-
१. 'इति श्रीसिद्धनामानि' इति य० प्रतौ नास्ति ।
 २. 'नि ॥ लिखितं राजनगरे सं० १६३९ वर्षे इति श्रेयः ।
इति ज० प्रतौ लेखकलिखिता पुष्पिकाऽस्ति ॥
 ३. मेरे धर्मस्नेही मित्र श्री अमृतलाल मो० पण्डित द्वारा किये गये संशो-
धनों के आधार पर पाठान्तर आदि की यह टिप्पणी दी गई है ।

(सम्पादक)

सिद्धसहस्रनामावलीपाठः

सिद्धसहस्रनामावली

धार्मिक ग्रन्थों में नाम-स्मरण की महिमा अत्यधिक वर्णित है। 'कलियुग केवल नाम अधारा। सुमिरि-सुमिरि नर उतरहि पारा।।' इस उक्ति के अनुसार वर्तमान युग में नाम-स्मरण का ही महत्त्व माना जाता है। इष्टदेव के नाम अनन्त होते हैं क्योंकि उसके गुण, कर्म, प्रभावातिशय सभी तो अनन्त ही हैं। तन्त्र-ग्रन्थों में किसी भी इष्टदेव की कृपाप्राप्ति के लिए जो विधान दिये गये हैं उनमें पटल, षड्दति, कवच, हृदय, स्तोत्र, शतक आदि के साथ 'सहस्रनाम' का भी पाठ आवश्यक बताया है।

पूज्यश्री उपाध्याय जी ने इसी आवश्यकता को ध्यान में रखकर प्रस्तुत 'सिद्धसहस्रनामावली' की रचना की है। इसमें १००८ नामों का सङ्कलन क्रमशः अनुष्टुप् छन्दों में किया गया है। आस्तिक जनों में इस प्रकार के सहस्रनामों को पृथक्-पृथक् रूप में प्रत्येक नाम के साथ आदि में 'ॐ' तथा अन्त में 'नमः' लगाकर पाठ और पूजन-जप का विधान प्रचलित है और आवश्यकता एवं कर्म को ध्यान में रखकर अन्य बीजमन्त्र लगा कर भी पाठ किये जाते हैं जिसका विस्तृत परिचय हमने प्रारम्भ में दिया है।

यहाँ केवल आदि में 'ॐ' तथा अन्त में 'नमः' लगाकर चतुर्थी विभक्ति के साथ सभी नामों को अलग-अलग मुद्रित कर रहे हैं। इसका पाठ स्त्री, पुरुष, बालक, बालिका सभी कर सकते हैं और प्रभु की कृपा प्राप्त कर सकते हैं। विशेष प्रयोग के लिये मुक्त महाराज से निर्देश प्राप्त करें।

सिद्धसहस्रनामावलीपाठः

ॐ अनादिशुद्धाय	नमः १	ॐ सदाशिवाय	नमः २०
” शुद्धात्मने	”	” परंज्योतिषे	”
” स्वयंज्योतिषे	”	” ध्रुवाय	”
” स्वयम्प्रभवे	”	” सिद्धाय	”
” केवलाय	”	” निरञ्जनाय	”
” केवलिनं	”	” अनन्तरूपाय	”
” ज्ञानिने	”	” अनन्ताख्याय	”
” केवलात्मने	”	” तथारूपाय	”
” कलोज्जिभताय	”	” तथागताय	”
” सार्द्धसत्त्रिकलातीताय ” १०	”	” यथारूपाय	”
” अन्यनाधिककलानिधये ”	”	” यथाज्ञाताय	” ३०
” अनन्तदृशे	”	” यथाख्याताय	”
” अनन्तात्मने	”	” यथास्थिताय	”
” अनन्तप्रप्राप्तये	”	” लोकाग्रमौलये	”
” अनन्तजिते	”	” लोकेशाय	”
” परमेष्ठिने	”	” लोकालोकविलोककाय ”	”
” परब्रह्मणे	”	” लोकेड्याय	”
” परमात्मने	”	” लोकपाय	”
” सनातनाय	”	” लोकत्रात्रे	”

ॐ लोकाग्रशेखराय	नमः	ॐ मृत्युञ्जयाय	नमः
” विश्वदृशे	” ४०	” मृत्युनिवारणाय	”
” विश्वतश्चक्षुषे	”	” सर्वादये	”
” विश्वतः पाणये	”	” सर्वगाय	”
” आत्मभुवे	”	” सर्वजनीनाय	”
” स्वयम्भुवे	”	” सर्वदर्शनाय	”
” विश्वतो बाहवे	”	” सुश्रुताय	”
” विश्वात्मने	”	” सुस्थिताय	” ७०
” विश्वतोमुखाय	”	” सुस्थाय	”
” विश्वकृते	”	” पुराणाय	”
” विश्वरूपाय	”	” प्राक्तनाय	”
” विश्वव्यापिने	” ५०	” विभवे	”
” विधवे	”	” विधिशेषाय	”
” विधये	”	” विधेःसाराय	”
” विश्वशीर्षाय	”	” विधिनिषेधतः परस्मै	”
” नमद्विश्वाय	”	” प्रशान्तवाह्याय	”
” विश्वाधाराय	”	” निर्वाच्याय	”
” विश्वसुवे	”	” दिवभागपरिक्षयिने	” ८०
” विश्वम्भराय	”	” अपदाय	”
” शिवाय	”	” अनक्षराय	”
” विश्वावताराय	”	” अनिच्छाय	”
” विश्वदर्पणाय	” ६०	” अतद्व्यावृत्तिलक्षणाय	”
” विश्वख्याताय	”	” ब्रह्मचर्यफलीभूताय	”
” जयाय	”	” ब्रह्मणे	”

ॐ ब्रह्मण्यदस्थिताय . नमः	ॐ अनन्तधर्मणे	नमः
„ आत्मवते	„ धर्मसाराय	„
„ वेदवते	„ स्वधर्मगाय	„
„ विष्णवे ६०	„ परधमेविनिर्मुक्ताय	„
„ ब्रह्मवते	„ धर्मप्रापिणे	„
„ ब्रह्मसम्भवाय	„ विधर्मभृते	„
„ सूक्ष्माय	„ धर्मचक्रिणे	„
„ परात्पराय	„ महाधर्मणे	„
„ जेत्रे	„ धर्ममूर्तये	„
„ जयिने	„ सुधर्मदृशे	„ १२०
„ सर्वमलोज्जिभताय	„ धर्माङ्गाय	„
„ उपासनानां फलदाय	„ धर्मसन्न्यासिने	„
„ उपास्यत्वेन देशिताय	„ धर्माधर्मत्रिर्वाजिताय	„
„ सर्वाविप्रतिपन्नाय १००	„ धर्मोत्तराय	„
„ धर्मविदे	„ धर्मकीर्तये	„
„ धर्मकृते	„ धर्ममुदे	„
„ धर्मिणे	„ धर्ममण्डलाय	„
„ धर्मात्मने	„ धर्मानोवाय	„
„ धर्मदेशकाय	„ धर्ममौलये	„
„ सुधर्मणे	„ धर्मश्राय	„ १३०
„ धर्मदाय	„ धर्मशासनाय	„
„ धर्मनायकाय	„ धर्मक्षमिने	„
„ धर्मसारथये	„ धर्ममृदवे	„
„ दशधर्मणे ११०	„ धर्मजंवे	„

ॐ धर्मसंयमाय	नमः	ॐ प्रेष्ठाय	नमः
„ धर्मसत्याय	„	„ पुरोहिताय	„ १६०
„ धर्मतपसे	„	„ गरिष्ठधिये	„
„ धर्मब्रह्मणे	„	„ अरिष्टच्छिदे	„
„ शुचये	„	„ बहिष्ठाय	„
„ धर्मस्याग्निने	„ १४०	„ निष्ठाय	„
„ धर्ममुक्तये	„	„ व्योममूर्त्तये	„
„ धर्मस्थाय	„	„ अमूर्त्तये	„
„ धर्मशाश्वताय	„	„ अन्तरिक्षात्मन	„
„ धर्मलभ्याय	„	„ नभोमयाय	„
„ धर्मसेव्याय	„	„ गगनात्मने	„
„ धर्मश्रद्धावशंभवाय	„	„ महाकाशाय	„ १७०
„ धर्मघातवे	„	„ अम्बरात्मने	„
„ क्षमाघातवे	„	„ निरम्बराय	„
„ श्रद्धाघातवे	„	„ सुयज्वने	„
„ अघातुभाजे	„ १५०	„ यज्ञपुरुषाय	„
„ श्रीपाताय	„	„ यज्ञाङ्गाय	„
„ निपाताय	„	„ अमृतभ्य	„
„ ह्रीपाताय	„	„ हविषे	„
„ पातकक्षयिने	„	„ धर्मयज्ञाय	„
„ श्रेष्ठाय	„	„ महावीराय	„
„ स्थविष्ठाय	„	„ यजमानाय	„ १८०
„ स्थविराय	„	„ नियाजभाजे	„
„ ज्येष्ठाय	„	„ मन्त्रमूर्त्तये	„

ॐ मन्त्रब्रीजाय -	नमः	ॐ जगद्बन्धवे	नमः
॥ मन्त्रन्यासाय	॥	॥ जगद्गुरवे	॥
॥ मन्त्रराजे	॥	॥ जगत्त्रात्रे	॥
॥ महामन्त्राय	॥	॥ जगत्पात्रे	॥ २१०
॥ मन्त्रपतये	॥	॥ जगद्रक्षाय	॥
॥ धर्मस्थानाय	॥	॥ जगत्सखाय	॥
॥ सुमन्त्रभुवे	॥	॥ जगदीशाय	॥
॥ चिन्मन्त्राय	॥ १६०	॥ जगत्सष्ट्रे	॥
॥ मन्त्रसंस्थानाय	॥	॥ जगद्बन्ध्याय	॥
॥ मन्त्रेड्याय	॥	॥ जगद्धिताय	॥
॥ मन्त्रपूजिताय	॥	॥ जगत्पतये	॥
॥ मन्त्रमात्राय	॥	॥ जगन्मान्याय	॥
॥ स्फुरन्मन्त्राय	॥	॥ जगच्छास्त्रे	॥
॥ मन्त्रदेवाय	॥	॥ जगन्मुखाय	॥ २२०
॥ मान्त्रिकाय	॥	॥ जगच्चक्षुषे	॥
॥ पञ्चमङ्गलमन्त्राय	॥	॥ जगन्मित्राय	॥
॥ सर्वमन्त्रावतारवते	॥	॥ जगद्दीपाय	॥
॥ मन्त्रे प्रत्यक्षरूपाय	॥ २००	॥ जगत्सुहृदे	॥
॥ जगन्नाथाय	॥	॥ जगत्पूज्याय	॥
॥ जगज्ज्येष्ठाय	॥	॥ जगद्धयेयाय	॥
॥ जगत्स्वामिने	॥	॥ जगद्धिदे	॥
॥ जगत्पित्रे	॥	॥ जगदर्यम्णे	॥
॥ जगन्नेत्रे	॥	॥ जगन्मात्रे	॥
॥ जगद्भ्रत्रे	॥	॥ जगद्भ्रात्रे	॥ २३०

ॐ जगद्भानवे	नमः	ॐ सिद्धगिरे	नमः
” जगन्मणये	”	” सिद्धधिये	”
” जगदन्वयि	”	” सुधिये	”
” जगच्चिन्त्याय	”	” भवाब्धयगस्तये	”
” जगत्काम्याय	”	” भवहृते	”
” जगत्प्रियाय	”	” भवच्छिदे	” २६०
” जगद्धेतवे	”	” अपुनर्भवाय	”
” जगत्केतवे	”	” कालातीताय	”
” जगत्सीम्ने	”	” भवातीताय	”
” जगन्निधये	” २४०	” भयातीताय	”
” जगद्वैद्याय	”	” कलातिगाय	”
” जगज्ज्योतिषे	”	” गुणातीताय	”
” जगत्पोषिणे	”	” रजोऽतीताय	”
” जगद्वृषाय	”	” कल्यातीताय	”
” जगत्पूष्णे	”	” कुलातिगाय	”
” जगद्धुर्याय	”	” वर्णातीताय	” २७०
” जगद्बीजाय	”	” पदातीताय	”
” जगत्तरवे	”	” मार्गातीताय	”
” जगत्साराय	”	” अक्षरातिगाय	”
” जगन्मूलाय	” २५०	” वाक्ष्यातीताय	”
” सिद्धार्थाय	”	” स्मयातीताय	”
” सिद्धशासनाय	”	” वाचोऽतीताय	”
” सिद्धस्थानाय	”	” नयातिगाय	”
” सुसिद्धान्ताय	”	” वृत्त्यतीताय	”

ॐ स्पृहातीताय	नमः	ॐ अमृतोद्भवाय	नमः
” न्यासातीताय	” २८०	” अमृतौघाय	”
” जनातिगाय	”	” अमृताधाराय	”
” छन्दोऽतीताय	”	” अमृताङ्गाय	”
” जनातीताय	”	” अमृतसंस्थितये	”
” लोकातीताय	”	” कृतज्ञाय	”
” लयातिगाय	”	” कृतकृत्याय	” ३१०
” योगातीताय	”	” कृतधर्मणे	”
” तपोऽतीनाय	”	” कृतकृतवे	”
” व्रतातीताय	”	” कृतवेदाय	”
” यमातिगाय	”	” कृतात्मने	”
” ध्यानातीताय	” २९०	” संस्कृताप्तये	”
” मनोऽतीताय	”	” असंस्कृताय	”
” चिन्तातीताय	”	” भावाय	”
” चयातिगाय	”	” स्वभावाय	”
” लेप्रातीताय	”	” निर्वर्गाय	”
” गदातीताय	”	” मुख्यवर्गाय	” ३२०
” कामातीताय	”	” अपवर्गभाजे	”
” तमोऽतिगाय	”	” सत्तायै	”
” वेदातीताय	”	” पदार्थाय	”
” वयोऽतीताय	”	” पूर्णार्थाय	”
” सर्वातीताय	” ३००	” लक्षणार्थाय	”
” अमृतात्मने	”	” त्रिलक्षणाय	”
” अमृतोद्भूताय	”	” पद्मे शाय	”
” अमृतस्रष्ट्रे	”		

ॐ पद्मसम्भूतये	नमः	ॐ नभःकेशाय	नमः
” पद्मभुवे	”	” स्थास्रनवे	”
” पद्मविष्टराय	” ३२०	” जिष्णवे	”
” हृत्पद्मस्थाय	”	” पितामहाय	”
” महापद्माय	”	” भिषग्वराय	”
” पद्माय	”	” अगदङ्काराय	”
” पद्मासनोदयाय	”	” वैद्याय	”
” हिरण्यगर्भाय	”	” ध्वस्तगदाय	” ३६०
” श्रीगर्भाय	”	” अगदाय	”
” विरञ्चये	”	” वरदाय	”
” दुहिणाय	”	” पारदाय	”
” काय	”	” श्रीदाय	”
” वेदगर्भाय	” ३४०	” सिद्धिदाय	”
” शतमनन्दाय	”	” सर्वशर्मदाय	”
” पुराणज्ञाय	”	” वर्षीयसे	”
” पुराणगाय	”	” वृषभाय	”
” विश्वरेतसे	”	” वर्षीयं	”
” हंसगतये	”	” वृषकेतवे	” ३७०
” महाहंसाय	”	” वृषध्वजाय	”
” हंसराजे	”	” महाबोधये	”
” प्रजापतये	”	” वर्द्धमानाय	”
” प्रजानाथाय	”	” महद्भये	”
” हिरण्येशाय	” ३५०	” वृद्धिलक्षणाय	”
” हिरण्यमाय	”	” महान्विद्वये	”
” हृषीकेशाय	”	” स्तुत्यात्मने	”

ॐ त्रिलिङ्गाय	नमः	ॐ कूटस्थाय	नमः
” अतित्रिलिङ्गाय	”	” शीलेशाय	”
” निरक्षाय	३८०	” शीलनायकाय	”
” कृतभूरक्षाय	”	” शैलेशाय	”
” रक्षोहन्त्रे	”	” प्राप्तशैलशये	”
” स्वरक्षिताय	”	” निश्चयिने	”
” आत्मक्षेपाय	”	” व्यवहारमुचे	”
” क्षणमयाय	”	” अनुपमधये	” ४१०
” शुभयवे	”	” उपाधिच्छिदे	”
” पुष्कलेक्षणाय	”	” सर्वोपाधिविशुद्धिमते	”
” त्रयीमयाय	”	” अनाचार्याय	”
” त्रयीकेतवे	”	” अनुपाध्यायाय	”
” धारावाहिने	” ३९०	” अगुरवे	”
” त्रयीधराय	”	” गुरुशिरोमणये	”
” त्रयीतेजोमयाय	”	” स्वयम्बुद्धाय	”
” त्रेतायै	”	” विबुद्धाय	”
” दशपारमितेश्वराय	”	” सम्बुद्धाय	”
” त्रयीतनवे	”	” बुद्धजागराय	” ४२०
” त्रयीगीताय	”	” तुरीयावस्थिताय	”
” पिटकत्रयदेशिताय	”	” तुर्याय	”
” त्रिस्थाय	”	” सिद्धजागरिकात्रयाय	”
” त्रिकरणोन्मुक्ताय	”	” अशस्त्राय	”
” त्रिब्रह्मप्रकृतये	” ४००	” शस्त्रमुचे	”
” शक्ताय	”	” शस्त्रोज्जिभक्ताय	”
” निरेजसे	”	” शस्त्रविवर्जिताय	”

ॐ अशस्त्रिणे	नमः	ॐ दयारामाय	नमः
„ परमाशस्त्राय	„	„ विरामवते	„
„ अशस्त्रभिधे	„ ४३०	„ अजन्मरामाय	„
„ अकुतोभयाय	„	„ अतिरामाय	„
„ दयासिन्धवे	„	„ महारामाय	„
„ दयापालाय	„	„ मनोरमाय	„
„ दयानेत्रे	„	„ स्वतोरामाय	„
„ दयानिधये	„	„ स्वयंरामाय	„ ४६०
„ दयालवे	„	„ केवलरामाय	„
„ स्वदयाचिह्नाय	„	„ महेन्द्राचार्याय	„
„ दयाश्रेष्ठाय	„	„ महेन्द्रे डचाय	„
„ दयोदयाय	„	„ महेन्द्राय	„
„ दयास्थायिने	„ ४४०	„ अतीन्द्रियार्थदृशे	„
„ दयास्थानाय	„	„ अनिन्द्रियाय	„
„ सर्वशुद्धदयामयाय	„	„ अहमिन्द्राचार्याय	„
„ दयापात्राय	„	„ अतीन्द्राय	„
„ दयामात्राय	„	„ अतीन्द्रियदृशे	„
„ दयाव्यासाय	„	„ स्वदृशे	„ ४७०
„ दयोन्नतये	„	„ भूतात्मने	„
„ आत्मारामाय	„	„ भूतभृते	„
„ चिदारामाय	„	„ भूतरक्षणे	„
„ चिद्रामाय	„	„ भूताभयङ्कराय	„
„ रामसत्तमाय	„ ४५०	„ प्रभवाय	„
„ श्रीरामाय	„	„ विभवाय	„
„ केवलरामाय	„	„ भूताधाराय	„

ॐ भूतानुपग्रहाय	नमः	ॐ महाज्योतिषे	नमः
„ अस्तप्राणाय	„	„ महासिद्धाय	„
„ महाप्राणाय	„ ४८०	„ महाध्रुवाय	„
„ प्राणदाय	„	„ महादृष्टये	„
„ प्राणितेश्वराय	„	„ महाप्राप्तये	„
„ प्राणेशाय	„	„ महारूपाय	„
„ प्राणदयिताय	„	„ महायशसे	„
„ प्राणाश्रयाय	„	„ महानात्रे	„
„ प्राणवल्लभाय	„	„ महाचक्षुषे	„ ५१०
„ प्राणोत्तराय	„	„ महाधाराय	„
„ प्राणगतये	„	„ महाविधये	„
„ अप्राणाय	„	„ महाविभवे	„
„ प्राणिनामिनाय	„ ४९०	„ महासाराय	„
„ अग्राह्याय	„	„ महावेदाय	„
„ गहनाय	„	„ महागमाय	„
„ गूह्याय	„	„ महोपास्याय	„
„ प्रणवाय	„	„ महाध्येयाय	„
„ प्रणवोत्सवाय	„	„ महाव्यापिने	„
„ प्राणायामप्रकटिताय	„	„ महामहाय	„ ५२०
„ प्राणमन्त्राय	„	„ महानाथाय	„
„ जपञ्जपाय	„	„ महाज्येष्ठाय	„
„ ऋष्टे	„	„ महास्वामिने	„
„ कलङ्कलीभावाय	„ ५००	„ महासुहृदे	„
„ महाशिवाय	„	„ महास्रष्ट्रे	„
		„ महावन्द्याय	„

ॐ महामान्याय	नमः	ॐ महाशुचये	नमः
॥ महामुनये	॥	॥ महाघातवे	॥
॥ महापूज्याय	॥	॥ महाप्रष्ठाय	॥
॥ महाभ्रात्रे	॥ ५३०	॥ महायज्वने	॥
॥ महाकाम्याय	॥	॥ महाहविषे	॥
॥ महाप्रियाय	॥	॥ महाव्योम्ने	॥
॥ महाहेतवे	॥	॥ महाबीजाय	॥
॥ महासीम्ने	॥	॥ महामात्राय	॥
॥ महावेद्याय	॥	॥ महाधृतये	॥ ५६०
॥ महौषधाय	॥	॥ महाकृताय	॥
॥ महामार्गाय	॥	॥ महाभावाय	॥
॥ महान्यासाय	॥	॥ महावर्गाय	॥
॥ महापूष्णे	॥	॥ महाधराय	॥
॥ महाचलाय	॥ ५४०	॥ महासनाय	॥
॥ महामूर्तये	॥	॥ महाभूतये	॥
॥ महाचक्रिणे	॥	॥ महेशाय	॥
॥ महाराजाय	॥	॥ महावृषाय	॥
॥ महानद्याय	॥	॥ महाशिष्टये	॥
॥ महाकीर्तये	॥	॥ महादेशाय	॥ ५७०
॥ महास्फूर्तये	॥	॥ महाज्ञाय	॥
॥ महासत्याय	॥	॥ महाव्रताय	॥
॥ महातपसे	॥	॥ महागतये	॥
॥ महाभुक्तये	॥	॥ महास्थास्नवे	॥
॥ महात्वामिने	॥ ५५०	॥ महावृद्धये	॥
॥ महाब्रह्मणे	॥	॥ महाक्षणाय	॥

ॐ महागुरवे	नमः	ॐ विजयाय	नमः
॥ महाणवे	॥	॥ वैजयन्ताय	॥
॥ महावेश्मर्ने	॥	॥ जयन्ताय	॥
॥ महावशिने	॥ ५८०	॥ अपराजिताय	॥
॥ महाशक्राय	॥	॥ सर्वार्थसिद्धाय	॥
॥ महाशीलाय	॥	॥ तीर्थार्चाय	॥
॥ महाचार्याय	॥	॥ स्वयम्भूरमणाय	॥
॥ महागुणाय	॥	॥ जयाय	॥
॥ महादयाय	॥	॥ सदातनाय	॥
॥ महापात्राय	॥	॥ सदाज्ञानाय	॥ ६१०
॥ महाव्याप्तये	॥	॥ सदासत्याय	॥
॥ महोन्नतये	॥	॥ सदाश्रयाय	॥
॥ महार्णवाय	॥	॥ सदासुहृदे	॥
॥ महामेखे	॥ ५९०	॥ सदासौख्याय	॥
॥ महाशाखाय	॥	॥ सदाविद्याय	॥
॥ महाधनाय	॥	॥ सदोदयाय	॥
॥ महावसवे	॥	॥ सदायोगाय	॥
॥ महावेदाय	॥	॥ सदाभोगाय	॥
॥ महापोताय	॥	॥ सदातृप्ताय	॥
॥ महागृहाय	॥	॥ सदानघाय	॥ ६२०
॥ महादित्याय	॥	॥ सदास्नाताय	॥
॥ महासोमाय	॥	॥ सदालेपाय	॥
॥ महाप्रज्ञाङ्कुराय	॥	॥ सदोद्योताय	॥
॥ महातर्किताराय	॥ ६००	॥ सदास्थितये	॥

ॐ अतुल्याय	नमः	ॐ विषमाय	नमः
॥ असदृशाय	॥	॥ विषमास्त्रजिते	॥ ६५०
॥ अकल्याय	॥	॥ जितारये	॥
॥ असमानाय	॥	॥ अजिताय	॥
॥ सव्यसे	॥	॥ धर्ममेधाय	॥
॥ नगाय	॥ ६३०	॥ अमोघाय	॥
॥ अगाय	॥	॥ शम्भवाय	॥
॥ नगाधिराजाय	॥	॥ सुप्रतिष्ठाय	॥
॥ स्थावराय	॥	॥ दृढरथाय	॥
॥ जङ्गमाश्रयाय	॥	॥ विश्वसेनाय	॥
॥ प्रक्षीणबन्धाय	॥	॥ महारथाय	॥
॥ कामारये	॥	॥ चिन्तामणये	॥ ६६०
॥ प्रमाणपरिधये	॥	॥ सुरमणये	॥
॥ प्रधिये	॥	॥ कामकुम्भाय	॥
॥ कृतानन्दाय	॥	॥ सुरद्रुमाय	॥
॥ कृतामोदाय	॥ ६४०	॥ रोहणाय	॥
॥ कृतंशर्मणे	॥	॥ दक्षिणावर्तयि	॥
॥ कृतोदयाय	॥	॥ कामधेनवे	॥
॥ कृतान्तसृजे	॥	॥ अकश्मलाय	॥
॥ कृतान्तच्छिदे	॥	॥ चितार्द्धिर्धंप्रदाय	॥
॥ कृतान्तज्ञाय	॥	॥ चैत्याय	॥
॥ कृतान्तहृते	॥	॥ चिरच्छायाय	॥ ६७०
॥ समंथाय	॥	॥ चिरस्थितये	॥
॥ समंथातीताय	॥	॥ जैवातृकाय	॥
		॥ अनभिज्ञानाय	॥

ॐ विस्पशाय	नमः	ॐ शताह्वयाय	नमः
॥ स्पर्शगोचराय	॥	॥ शतगृह्याय	॥
॥ असम्मोहाप्याय	॥	॥ शतोद्गीथाय	॥
॥ उन्नेयाय	॥	॥ शतवृत्तये	॥ ७००
॥ पुरुहूताय	॥	॥ धीशाय	॥
॥ अवतारमुचे	॥	॥ धियःपतये	॥
॥ दशलाक्षणिकाय	॥ ६५०	॥ धीन्द्राय	॥
॥ देशाय	॥	॥ धिषणाय	॥
॥ अनुद्देशाय	॥	॥ शेमुषीधराय	॥
॥ अनुपचारभुवे	॥	॥ धीगणाय	॥
॥ बन्धुराय	॥	॥ धीसमूहाय	॥
॥ रुचिराय	॥	॥ गीष्पतये	॥
॥ चारवे	॥	॥ गिराम्पतये	॥
॥ बन्धवे	॥	॥ वाचस्पतये	॥ ७१०
॥ रूप्याय	॥	॥ वचःस्रष्ट्रे	॥
॥ शोभनाय	॥	॥ बृहदात्मने	॥
॥ शतशाखाय	॥ ६६०	॥ बृहस्पतये	॥
॥ शतक्षर्याय	॥	॥ बृहदारण्यकोद्द्योतिने	॥
॥ शतताराय	॥	॥ मनीषीशाय	॥
॥ शताध्वगाय	॥	॥ मनीषिताय	॥
॥ शतोपायाय	॥	॥ नयोत्क्रान्ताय	॥
॥ शताख्यानाय	॥	॥ नयोद्भेदिने	॥
॥ शतकीर्तये	॥	॥ ज्ञानगर्भाय	॥
		॥ प्रभास्वराय	॥ ७२०

ॐ रत्नगर्भाय	नमः	ॐ स्थितिप्रणये	नमः
„ दयागर्भाय	„	„ अध्यात्मगम्याय	„
„ पुण्यगर्भाय	„	„ अध्यात्माङ्गाय	„
„ स्वगर्भगाय	„	„ अध्यात्माप्याय	„ ७५०
„ लक्ष्मीशाय	„	„ अध्यात्मलोचनाय	„
„ कमलानाथाय	„	„ अध्यात्मविधित्यकाय	„
„ निर्मन्तवे	„	„ अध्यात्मकैलाशाय	„
„ मन्तुमोचनाय	„	„ अध्यात्मशासनाय	„
„ आशामोचनाय	„	„ अध्यात्मवासाय	„
„ उद्दामाय	„ ७३०	„ अध्यात्माचार्य	„
„ आशाविश्रामभाजनाय	„	„ अध्यात्मकार्य	„
„ धर्मयूषाय	„	„ अध्यात्मभाकराय	„
„ धर्मगणाय	„	„ अध्यात्मशिवे	„
„ धर्मनेमये	„	„ घनाध्यात्माय	„ ७६०
„ अकर्मठाय	„	„ स्वाध्यात्माय	„
„ धर्मचक्रायुधाय	„	„ अध्यात्मसंग्रहाय	„
„ धर्मघोषणाय	„	„ अध्यात्मकोटये	„
„ धर्मपोषणाय	„	„ अध्यात्मसाराय	„
„ स्पृहामुक्ताय	„	„ अध्यात्मपरिग्रहाय	„
„ स्पृहात्यागिने	„ ७४०	„ अध्यात्मसृष्टये	„
„ स्पृहापर्शवे	„	„ अध्यात्मपवित्राय	„
„ स्पृहोजिह्वताय	„	„ अध्यात्मपारगाय	„
„ दूरस्थाय	„	„ अध्यात्मपूर्णाय	„
„ दूरदृशे	„	„ अध्यात्मेष्टाय	„ ७७०
„ दूरपथाय	„	„ अध्यात्माहंघाय	„
„ तथ्याय	„		

ॐ अध्यात्मसंश्रयाय	नमः	ॐ प्राध्यात्माय	नमः
„ अध्यात्मज्ञाय	„	„ अध्यात्मसन्तानाय	„
„ अध्यात्मेन्द्राय	„	„ अध्यात्मारूपाय	„
„ अध्यात्मेनाय	„	„ अध्यात्मविदे	„ ८००
„ अध्यात्मवासिताय	„	„ अभाय	„
„ अध्यात्मभाव्याय	„	„ अनदाय	„
„ अध्यात्मेद्धाय	„	„ अरवाय	„
„ अध्यात्माध्वने	„	„ अनादाय	„
„ अध्यात्मसङ्गताय	„ ७८०	„ अस्वराय	„
„ अध्यात्मरङ्गाय	„	„ अस्वानाय	„
„ अध्यात्मार्थाय	„	„ अस्वनाय	„
„ अध्यात्मभाय	„	„ अध्वनये	„
„ अध्यात्ममन्दिराय	„	„ अवृद्धये	„
„ अध्यात्मपूताय	„	„ अगुणाय	„ = १०
„ अध्यात्मास्थाय	„	„ विन्दवे	„
„ अध्यात्माज्ञाय	„	„ अविस्र्गाय	„
„ अध्यात्मसंवराय	„	„ अलुके	„
„ अध्यात्मस्थाय	„	„ अक्रमाय	„
„ अध्यात्मधनाय	„ ७९०	„ अहसाय	„
„ अध्यात्मज्ञाय	„	„ अमातृकाय	„
„ अध्यात्मविष्टराय	„	„ अप्रत्याहाराय	„
„ अध्यात्मपीठाय	„	„ अघोषाय	„
„ अध्यात्मेलाय	„	„ अनुपाहिताय	„
„ अध्यात्मेताय	„	„ अनाम्ने	„ ८२०
„ अध्यात्मसन्ताताय	„		

ॐ अप्रातिपदिकाय	नमः	ॐ अनर्काय	”
” असमासाय	”	” अनाटकाय	”
” अविग्रहाय	”	” अनाटकाय	”
” अग्रहाय	”	” अविभवाय	”
” अनाख्याताय	”	” अतनुभावकाय	”
” अकृदन्ताय	”	” स्थायिने	” ८५०
” अतद्धिताय	”	” रसाय	”
” नाप्युणादिकाय	”	” अश्लथाय	”
” अयोगाय	”	” अनाथाय	”
” अरूढये	” ८३०	” अकाव्याय	”
” अस्तोभाय	”	” अगीतये	”
” अच्छन्दसे	”	” अपिङ्गलाय	”
” अनलङ्कृतये	”	” अनिघण्टवे	”
” अपाताय	”	” अनध्यायाय	”
” अलम्बनाय	”	” असंहिताय	”
” अक्रान्तये	”	” अवैद्यकाय	” ८६०
” अराशये	”	” अव्यथाय	”
” अनहर्गणाय	”	” अग्रामाय	”
” अनताय	”	” अमूर्च्छनाय	”
” अनुन्ताय	” ८४०	” अवाद्याय	”
” अलग्नाय	”	” अनेपध्याय	”
” अनुच्चाय	”	” अनिङ्गिताय	”
” अनीचाय	”	” लयाय	”
” अदिगन्तराय	”	” पश्यत्यात्मने	”

ॐ अघनाय	नमः	ॐ असंस्थानाय	नमः
॥ अभाषाय	॥ ८७०	॥ अलघवे	॥
॥ अवैखरये	॥	॥ अस्मयाय	॥
॥ अमध्यमाय	॥	॥ अवेदाय	॥
॥ अश्वेताय	॥	॥ वेदसङ्गीताय	॥
॥ अपाटलाय	॥	॥ श्रीयुक्ताय	॥
॥ अश्यामाय	॥	॥ श्रीपतये	॥ ६००
॥ अनीलाय	॥	॥ आदिदेवाय	॥
॥ अबभ्रवे	॥	॥ युगादीशाय	॥
॥ अपीतिम्ने	॥	॥ युगेशाय	॥
॥ अतिक्षताय	॥	॥ युगपाय	॥
॥ अमधुराय	॥ ८८०	॥ युगाय	॥
॥ अनम्लाय	॥	॥ उपज्ञाय	॥
॥ अकषायाय	॥	॥ समयोपज्ञाय	॥
॥ अलवणाय	॥	॥ अप्रत्यूहाय	॥
॥ अकटवे	॥	॥ महाबलाय	॥
॥ असौगन्ध्याय	॥	॥ शिवतातये	॥ ६१०
॥ अपदौर्गन्ध्याय	॥	॥ महाशान्तये	॥
॥ अनुष्णाय	॥	॥ निर्वृताय	॥
॥ अशीताय	॥	॥ संवृताय	॥
॥ अखराय	॥	॥ अवृताय	॥
॥ अमृदवे	॥ ८९०	॥ अरुधने	॥
॥ अस्तिग्धाय	॥	॥ अरुहाय	॥
॥ अगौरवाय	॥	॥ अरोहाय	॥
॥ अलूक्षाय	॥		

ॐ आद्यध्येयाय	नमः	ॐ निराक्रियाय	नमः
१, पदोत्तराय	१,	१, नन्द्याय	१,
१, आत्मरक्षायै	१, ६२०	१, नादीनवाय	१,
१, आत्मकवचाय	१,	१, नन्द्यावर्ताय	१,
१, आत्मत्रात्रे	१,	१, अर्हाय	१,
१, आत्मपञ्जराय	१,	१, स्वस्तिकाय	१,
१, अकुण्ठाय	१,	१, अस्तिकाय	१,
१, त्र्यम्बकाय	१,	१, प्रौढाय	१, ६५०
१, सार्वाय	१,	१, अन्नूढाय	१,
१, शर्वाय	१,	१, मन्त्रशिखाय	१,
१, सर्वेश्वराय	१,	१, दीप्त्याय	१,
१, मृडाय	१,	१, अरिघ्नाय	१,
१, आद्येडचाय	१, ६३०	१, निरन्तराय	१,
१, आद्यचारित्राय	१,	१, भद्राय	१,
१, आद्यमन्त्राय	१,	१, अनीदृशे	१,
१, ऋगादिमाय	१,	१, अनित्यस्थाय	१,
१, आद्यवाचे	१,	१, अयुतसिद्धाय	१,
१, आद्यभुवे	१,	१, सुसंयुताय	१, ६६०
१, आद्यनेत्रे	१,	१, अलोकस्पृशे	१,
१, आद्यर्षये	१,	१, लोकमध्याय	१,
१, वृषादिमाय	१,	१, लोकमान्याय	१,
१, आद्यमेघाय	१,	१, विसंशयाय	१,
१, प्रधानाद्याय	१, ६४०	१, जागरूकाय	१,
१, क्षमाद्याय	१,	१, सदोन्निरायाय	१,
१, नाद्याय	१,	१, निस्तन्द्राय	१,

„ निःप्रमीलदृशे	„	„ एकमार्गाय	„
„ अनिमेषाय	„	„ एकधाम्ने	„ ६६०
„ निमेषेन्द्राय	„ ६७०	„ एकशासनाय	„
„ प्रमाप्यकाय	„	„ एकातपत्राय	„
„ प्रमाणाय	„	„ एकाज्ञाय	„
„ प्रमासम्प्रदानाय	„	„ एकाग्राय	„
„ शुद्धप्रमाश्रयाय	„	„ एकमन्दिराय	„
„ प्रमापादानाय	„	„ गभस्तये	„
„ प्रमायाः सम्बन्धिने	„	„ तरणये	„
„ स्वप्रमोद्गताय	„	„ ताराय	„
„ मार्गाय	„	„ सवित्रे	„
„ मार्गप्रभवे	„ ६८०	„ ध्वान्तनाशनाय	„ १०००
„ मार्गस्वामिने	„	„ चतुष्कभाजे	„
„ मार्गविशोधकाय	„	„ अष्टगुणाय	„
„ एकधिये	„	„ दीनपाय	„
„ एकपुरे	„	„ भक्तवत्सलाय	„
„ एकवेश्मने	„	„ कृपालवे	„
„ एकस्थितये	„	„ स्फीतरुणाय	„
„ एकभुवे	„	„ धीराय	„
„ एकोद्भवाय	„	„ श्रीरमणाय नमः	„ १००८

॥ इति श्रीसिद्धसहस्रनामावली सम्पूर्णा ॥

**आर्षभिय-चरितमहाकाव्यस्य
श्लोकानामकाराद्यनुक्रमणिका**

पद्यानि	पृष्ठाङ्काः	पद्यानि	पृष्ठाङ्काः
अग्रतः कटु रराट	१०६	अधिगत्य तदा	४४
अङ्कसङ्कलनया	११२	अनुजादनुजारि	४६
अचिन्त्यशक्तिः	२६	अनुजा यदि याचिता	५१
अजनिष्ट महान्	४१	अनुपस्थितिरत्र	४५
अजितेन जितं	६३	अनेन मे वार्षिक०	१०
अतिघट्टनतो	४३	अन्तःपुरं तस्य	८५
अतितुच्छ०	६०	अन्तःप्रकाशायत०	७७
अतिदुःसहता	६४	अन्येष्विव त्वय्यपि	६०
अथ तस्य रुचा	४१	अपारिजातोऽपि	८६
अथ तान् प्रतिधूम०	४४	अपि प्रबुद्धैः	१३
अथ पक्षयुगेऽपि	४६	अपोहमूहं	२६
अथ प्रभुः पारमहंस्य०	१८	अबाधयानेन	४
अथवाऽश्लथवासना	५०	अब्धिर्वारिगणै०	६६
अथ साधुरिव	३६	अभवत् तपना	३८
अथापि पश्याभिमुखं	२२	अभिधावति यस्य	३७
अदस्तुलाभृत्पर०	२५	अभिषेकमहे	४५
अधः सुधाकुण्डगणं	२	अभीष्टभूयः	१६
अधिकं समुपासितश्च	४६	अभूदसावन्नत०	७
अधिकं स्म विदन्ति	३६	अभुद् विभोः	३३
अधिकेऽत्र न	४५	अमलायत०	५६

पद्यानि	पृष्ठाङ्काः	पद्यानि	पृष्ठाङ्काः
अमानतदान०	८३	अष्टापदाद्रा०	७३
अमिता वयमत्र	४०	असंख्यकालार्जित	५
अमी इति स्वान्त०	१६	असंख्यशक्ते०	४
अमी चतुर्मुष्टिक०	६	असाविदं ध्यायति	३०
अमी जनाः स्वामि०	२८	अमुहत्प्रमदाश्रु	३८
अमी हि कच्छप्रमुखा	६	असौ धृतध्यान०	७
अमुनाऽपि जयोद्भवं	४६	अस्मिन् दृढीभूत०	८८
अमुष्य सच्चामर०	८२	अस्याननं	८२
अमुष्य संशुद्ध०	२४	अस्या वशीभूय	६३
अमूदृशं रूपमनुत्तरं	२५	अहरन् रजतादि	३८
अमूदृशाः केऽपि	७०	अहो परब्रह्म	१०
अयमुद्धतसेनया	४१	अहो महासाहस०	७१
अयमेतु वयं	५२	आघ्नन्तो द्राक्	३३
अयं जनस्त्वां	२१	आदाय तातानु०	७२
अलक्षितस्वार्थं	२८	आदितः स्ववशः	१०३
अलक्षिताभ्यन्तर०	२५	आनन्दनश्चन्द्रन०	८८
अलं परासङ्गति	२६	आलम्ब्य लोका	६५
अल्पो हि जल्पो	७४	आशा निराशी०	६६
अल्पो हि सह्यो	६६	आशीविषीयै०	६४
अवर्षि वर्षं	२७	इति तानभिधाय	५२
अवैति शत्रु	८२	इति तेषु वितौर्यं	४७
अवैमि राजेन्द्र !	८१	इति ब्रुवाणु०	२२
अश्वन्न जोत्वात०	८६	इति मोहनृप०	६६

पद्यानि	पृष्ठाङ्काः	पद्यानि	पृष्ठाङ्काः
इति सचिंव०	१००	ऋजुसूत्रविचार	६८
इतीरिते भूमि	३०	एकत्र भीत्यै	६२
इत्यादिचिन्ता	८१	एकातपत्रीकृत	८०
इत्युद्धतद्वैत०	६६	एकेन चक्रेण	६२
इदमस्त्वथ	४७	एकोऽपि तेषां	८७
इदं विमृश्य	७५	एतैरिदानीं पितु	७५
इन्द्रनीलमणि	११३	एवमेष विनिरीक्ष्य	११६
इमां जगद्भक्षण०	१३	एष्यद्विनिर्यद्	८५
इमां समुद्दीपित	६१	ऐक्षवं रसमिनाय	३४
इमां स शिक्षा	३१	ऐन्द्रस्तोमनता	१०२
इयतैव निजा	४५	कचच्छलाद् मुष्टि	६
उचितं भरतेश्वरो	४७	कनकाभरण	४२
उज्जागरप्रशम	३४	कपालनाशात्	१६
उत्थितैः क्षिति	११५	करवाल इव	५६
उत्पातवृष्टौ	७६	करवालकरालता	३८
उदरम्भरिरेव	४८	कविर्बुधश्चा	८६
उदितास्मद्दुप	५१	कापिलीयामव	११२
उदीक्ष्य तादात्विक	७१	किमपश्यदमुद्रितेक्षण	४४
उद्वासयन्त्यन्य	८४	किमयं विमनस्कतोदिता	५८
उन्मिषत्पुर	११८	किमेष मेरुर्न	२३
उपनीय विकल्प	५४	किमेष विष्णुर्न	२३
उप्तैः प्रभाते	७७	कियज्जितं जाग्रति	८६
		किं तरक्षुहृरि	१०६

पद्यानि	पृष्ठाङ्काः	पद्यानि	पृष्ठाङ्काः
किं नाम रत्नं	७६	गुणा विवेकप्रमुखाः	११
कुटिला हसितेन	६१	गुणास्तदीयाः	८४
कुठारिकामानक	१३	गुरुवारिद	५६
कुपितं समुदीक्ष्य	६१	गृहाङ्गणं नो	२१
कुसुमस्मितया	५३	गृहाण भिक्षां	३०
कूपकुक्षिमुपभिद्य	११०	गृहेषु सर्वोत्तममस्तु	२२
कृतमस्य निर्जाजित०	४८	ग्रहेषु भास्वानिव	३
कृतौ स्फुटं	८०	ग्रामराजिषु	१११
क्रमोच्चभूर्दातृ	३२	घटयत्यमुना	६५
क्षमाभृतः शत्रुषु	६१	घनगर्जितज०	५४
क्षेत्रमैक्षत स	१०८	घोषितर्षभंगुणा	१०७
खचरीषु	५५	चक्रं सहस्रेण	८६
गजकुम्भभावास्त्र	३६	चक्रेण सौभ्रात्र	६७
गजवाजिरथैः	४२	चतुरङ्गचमूवृतः	६३
गलितैर्निजदृग्	३६	चरणाश्रयणं तु	५०
गा इव त्वदधिपस्य	११६	चलतां लहरीभ्य	५८
गुणकमलहिमानी	१०१	चस्कले रसनया	१०५
गुणग्रहात्	३१	चाषमीक्षितुमनाः	१०३
गुणग्रहेणैव	७४	चित्र न यच्छ०	८७
गुणवान् रहसि	५६	चित्रिते रतिमनाप्य	११६
गुणसंस्तव एव	६७	चिरान्निबद्धो	१६
गुणान्वये भद्र	२८	छलादुदीर्य-	१७
		छायया कवलिता	१११

पद्यानि	पृष्ठाङ्काः	पद्यानि	पृष्ठाङ्काः
जगज्जयत्यन्त०	६३	तनयोऽस्य च	६०
जगत्यशेषस्तदुपज्ञ	२	तनुं कृशीकृत्य	१७
जगद्धितार्थं	११	तन्न तेन वन०	१०७
जननीधृतिरुद्यमः	६७	तपोनिधिः	२५
जनसंवननाय	६२	तरलान् युधि	३७
↓ जलदैरपि भो	५२	तरसा न महा	४०
जागर्त्ति नाज्ञां	६१	तव प्रभुत्वे	७८
जित्वा क्षणेनोत्तर	७७	तस्य दैवमंति	१०२
जिनेश्वरस्तेन	३३	तस्य प्रतापानल	८७
जीर्णेन जीर्णा	६४	तस्य यत्र गगनो०	१०८
ज्येष्ठस्य नाज्ञां	६६	तादृशैरशकुनैरपि	१०६
तं प्रतिप्रवलगर्वं	११५	तानत्युन्नतगर्वं	७०
तं स्म सस्मयवशा	११३	तिलमात्रमपि	४३
सतान धूमायित	१६	तीक्ष्णाग्रभाजा	७३
सतो विनीता	१४	तुरगानुगारि	६२
सत्र कस्त्वमिति	११४	तैस्त्यक्तसङ्गै	७५
सथापि चक्रं	७८	त्यक्तगोवध	११०
सदवारित	६१	त्यक्तसौवविषया	१०६
सदस्य पूर्वं	६०	त्रिलोकभर्त्राऽपि	१५
सदागमाब्धेरुप०	२	त्वया त्वमुष्मिन्	८६
सदीयकोशे	८५	ददती स्वगणे	६२
सदरूपसौन्दर्यं	८४	ददाति यो नावसरे	१२
सन्त्यावनयाव	६३	दधत् परं सर्वं	१६
		दधदातपवारणं	५३

पद्यानि	पृष्ठाङ्काः	पद्यानि	पृष्ठाङ्काः
दमनादमनः	५६	न यत्र चन्द्रार्कं	६५
दमनाम भटैः	६४	न रञ्जितौ	७६
दिदृक्षुरीर्या	१८	न वयं तु भजामहे	४८
दुःखैकखानि	६४	न वेत्ति वक्तुं खलु	७४
दुष्टदूत इति यत्र	११०	न वेदना मे	५
दूतं ततो	१००	न संविदानोऽपि	२७
द्विधाऽप्यभक्तैः	१०	निकुञ्जगुञ्जन्	१४
द्विषां दृशोरुग्रविषं	८	निजबन्धुषु	४७
धनस्य पूतौ धनदः	३	निजवेश्मनि	४४
धनिनामभिमान	६६	निरीक्ष्य तं चेतसि	२३
धान्यमैक्षि कृषिकैः	११०	पतितं युधि	६१
धृतिरेव हि नः	४६	पदोः प्रमादोऽभिगतौ	२१
ध्रुवोपकार्ये	२६	परोपकारार्थं	३१
ध्वजिनी बहु	४३	पशुपाणिभिरपि	११५
न के मदोरिक्षप्त	७६	पापकेतुततं	१०३
न क्रोधवह्नैर्यदमी	७२	पापयोरपथ	१०५
न चक्रभाव	६०	पालितांसु बहु	११६
न जातु कोपात्	३	पुरं प्रविश्याक्षकपाट	१२
नत्यर्थनाया	७५	पुरा न पृष्टो	१४
न दोषमात्रेण	६७	पूजितो जयति स	११४
न म्रस्य देयोन्नति	६८	पूर्णतावदगजं	११३
नम्रे मृदुत्वं	६८		

पद्यानि	पृष्ठाङ्काः	पद्यानि	पृष्ठाङ्काः
पूर्णप्रयत्ने	७६	बुध्यते न भरतः	११४
पृथ्व्यां प्रसिद्धां	८१	बुभुत्सुरेतस्य	२०
प्रतिग्रहेणानुगृहाण	१८	भगवानपि	५७
प्रत्यक्षतां गच्छति	८५	भगिनीपति	६७
प्रथमानरस	५५	भवतीह	५६
प्रदर्शयन्तामिह	१५	भवत्यहीन्द्रानन	८३
प्रदेयचित्त	३०	भवसिन्धुमपि	६४
प्रभुत्वमन्त्री	६६	भविककमलोल्लास	३५
प्रभुप्रभावादथवा	२६	भवेन्न तुङ्गानत	१२
प्रभूत्तमाङ्गस्थिति	७	भाग्यं दृशोदौत्य	७३
प्रभोस्तितिक्षा	१७	भुवि जाग्रति	३७
प्रमादसुप्तो यदि	६०	भूरि बन्धवृत	१०४
प्रयातु पाटीररजो	१५	भृङ्गसङ्गतलता	१०७
प्रवर्धमानं	२०	भ्रातृजप्रव्रजनो	६३
प्रसिद्धजीवाभय	४	मणिचारिमभाजि	६८
प्रस्थितं प्रभु	१०२	मदनो निजरूप	४१
प्राचीनमार्गं	७६	मदनो वदनोरु	६४
फलं विना याम	२८	मदर्थसंरक्षित	२७
बभूव रत्नत्रय	६	मनस्विनाऽज्ञो	२२
बलिनो यदि	६०	मरुत्प्रियो रुद्धमरुत्	२
बहिः प्लवन्तामिह	२४	मिथ्यात्ववैताढ्य	७६
बहिर्महः किञ्चिद०	२४	मित्रं तदास्यस्य	८४

पद्यानि	पृष्ठाङ्काः	पद्यानि	पृष्ठाङ्काः
मित्रवन्नव	१०४	यद्वनद्रुमगणे	१०७
मुकुटांशुभिः	४२	यशसाभरणं	५२
मुदिता जननी	६७	यशोनिधिः सोम	२०
मुदोचितं दास्यति	३३	यां स्नेहपीयूष	६४
मुनये वितरन्ति	६६	या दिव्यैर्न मुखैः	६६
ऋज्जिनेन्द्रगृह	११४	याऽपरोक्षपद	११६
यत्र काम्यवरणाय	१११	युवतं त्रिलोकोपकृता	७२
यत्र गजितपराः	१०६	युधि योधयशः	३६
यत्र नीलशितिशुभ्र	११७	युधि यस्य पदातयो	४०
यत्र भर्तेरि स	१०६	येषां प्रवृत्तौ न	७१
यत्र येन ददृशे	१०८	रतिकेलिरहस्य	५३
यत्र वल्गनपरै	११२	रतिहासविलास	४३
यत्र वृक्षतल	१०८	रत्नराशिषु	११७
यत्र शाब्दिक	११२	रथाश्वकन्येभ	६
यथा करिष्यत्ययमेष	१३	रदनानिव शक्र	६३
यथा यथा नीतिमतिः	४	रविनिशायां	८३
यदसिभ्रमतो	३७	राज्ञामसुभ्यो	६६
यदि नर्तयितुं	४६	लघुतूलवदिन्दु	३६
यदिभैनिज	४०	लब्ध्वा निधानानि	७७
यदि वा तरसा	४६	लभते यदमर्थं	६६
यदि वा न दिवा	५०	ललुः पुराष्टा	६२
यद्ग्रहोन्नतगवाक्ष	११८	लोभान्न शोभां	६२

पद्यानि	पृष्ठाङ्काः	पद्यानि	पृष्ठाङ्काः
वदान्यभावा	५	विशारदः शारद	१६
वनीपकानां भृतये	१२	विशिष्टपात्र०	१८
वर्धिष्णुत्रिदश	६६	विश्वेश्वरोऽपि	३५
वसुव्ययादा	१४	विषवत् कमला	५८
वहति क्षिति	५७	विस्तृतस्फटिकवेश्म	११८
वाक्कौशलाद्	८६	वृषाङ्कमेकं किल	८
वाममेव हरिणा	१०५	वेधसः स्फुटमबद्ध	१०६
वारितोऽपि पथि	१०५	व्यचिन्तयश्चेदमहो	१०
वासरान्न तिमिरेण	११३	व्यात्तमास्यमिव	१०४
विचार्यते स्वोपमितिः	२४	व्रतं जिघृक्ष	६
विदधाति कुविद्यया	६५	व्रतत्रपामूर्ध्न	७
विदधाति खमेव	५०	व्रतोत्सवे कुन्तल	८
विधाय वक्षो	६५	शक्रं चिकीर्षुर्ननु	६३
विधाय वामं	३१	शते सुतानां	६
विधुरङ्गति	३६	शबरीधृतसार	५४
विधुविशदयशः	१०१	शयिताः स्वसुखे	५१
विधोः सुधायां	३२	शयितुं किमु	४२
विना न हर्षाश्रु	२१	शशाक नैव	१७
विनापि तैर्विश्व	१६	शिखरस्थित	६८
विनिपात्य गुरुत्व	६२	शिक्षिताश्ववर	१०४
विभोः करस्थक्षुरसं	३२	श्रुतस्थितेर्यः	१
विभोः सहेलो-	२०	श्रुत्वैतार्तोऽनुज	७८
विलसेद् बलव०	५१	संशेरते चेन्मम	८१
विलीयते हन्त	११	संशोधिते	८०
विलोकनादेव	२६	स एव देवः किल	१
विवदन्त	५६	सकलभरत	१००

पद्यानि	पृष्ठाङ्काः	पद्यानि	पृष्ठाङ्काः
सकला स्वजला	५५	सुधीभिरक्षुद्र	८६
सकलौषधि	५७	सुविकल्पतुरङ्गमाः	६५
स किं नृपो	६६	सुवृत्तसङ्गीत	११
स जग्रसे तानि	७८	सूत्रार्थभिन्ना	८३
स तत्र गत्वा	१६	सृजत्वसौ बाल	१५
स तेन पूर्वं	२६	सौभ्रात्रभङ्ग	६७
स त्वामगत्वा	६१	स्थानेन यावत्	८०
सदा सुपर्वाल्लसितां	३	स्थास्तुरस्य पथि	१०६
सन्ततं दहनमण्डल	१०३	स्नात्वा जयाशा	६६
सन्तापिताः स्वामि	७४	स्फटिको हशिला	५३
स प्रपाः पथि	१११	स्फुटीकरोत्येव	६७
समग्रशास्त्रेऽपि	८६	स्मरति स्वतनु	५७
समाधिसारैः	८	स्मरः किमङ्गी	२३
समुत्थितां ह्येः	३२	स्वकीयगाम्भीर्यं	५
समुपैति विवेक	६५	स्वकुलोपकृता	५५
सम्पुटीकृत नभो	११७	स्वपरैकमति	४८
सम्भावितं युद्ध	७६	स्वमतान् मनुजान्	४६
स हि चित्तमहा	६०	स्वयं तपोभिः	२७
स ह्यनन्तबल	११५	स्वयं न गोत्रे	६३
साधुदानविधि	३४	स्वरपूरणया	५४
सान्द्रविद्रुमघनो	११७	स्वान्ते चिराद्	७३
सार्धत्रयोदश	३४	स्वीयच्छविच्छन्ते	८८
सिद्धा जिगीषा	१००	स्वैरं भनक्त्यप्रति	८२
सुकुटुम्बगृहस्थता	६८	हरिः कणेहृत्य	६
सुकृत स्वपते	५८	हित्वानुतापद्रवत	६८
सुखिनो विषय	६६	हृदये मलिनेक्षयते	५६
सुदुःसहं किञ्चन	६८		

**विजयोत्लास-महाकाव्यस्य
श्लोकानामकाराद्यनुक्रमणिका**

पद्यानि	पृष्ठांकाः	पद्यानि	पृष्ठांकाः
अचूचुरच्चामर	१४१	इदमाननराज	१५१
अतरोरनुनीयते	१४८	इदमास्यतुला	१६०
अतिकान्तमिदं	१६१	इदमास्यमवेक्ष्य	१६०
अथ कथमपि	१४५	इदमीयदृशा	१५३
अदसीयमुखं	१५८	इदमीयदृशौ	१५२
अधः कृतामेव	१२५	इदमीयमना	१५५
अधरे विधुना	१६४	इदमीयमुखं	१५६
अनया मदनो	१५१	इदमीयमुख्य	१६१
अनया विजिता	१४६	इमां कथञ्चित्	१४५
अनाश्रितेऽस्मिन्	१३८	उचितं मदनाय	१५५
अनेन सम्पूरयता	१३४	उचितः किल	१५६
अपारिजातोऽपि	१३५	उद्गतेन तमसो	१४६
अमृतस्य विधो	१५५	उद्वेलमुत्सर्पति	१४४
अवधार्य विधे	१५१	उन्मज्जदावि	१३३
अस्थैयेमौञ्ज०	१३७	एतद्गुणैश्चन्द्र	१३४
अस्य द्विषद्	१४२	ऐङ्कारमाराधयतां	१२२
अहो भवस्यैव	१३५	ऐङ्कारसारस्मृति	१२१
आभ्यन्तरं यन्	१२७	ऐन्द्रं प्रकाशं	१२१
आलस्यभङ्गे	१३०	अौचित्यभाजो	१३१
इतः समुद्रा०	१३६	कथन्न चक्षुः	१४३
इदमाननकान्ति	१६३	कथमेतदिदं	१५६
इदमाननकारिणं	१६३	कविभिः क्रियतां	१५२
इदमाननपुष्टये	१६३	कस्तूरिकापङ्किल	१४०

पद्यानि	पृष्ठांकाः	पद्यानि	पृष्ठांकाः
किमगोचरितः	१६२	द्विजराजकलिङ्कनो	१५८
किमु तद्वनस्थ	१५७	धुरिकान्ति	१६२
कुकालपाताल	१२३	नयनाम्बु	१६४
कुसुमानि	१५४	नलिनं मलिनं	१६०
क्रान्ते वणिग्भिः	१३०	नाम्नैव धाम्ना	१२३
क्व योग्यताऽस्या	१४३	निजश्रियं येन	१२२
गच्छे श्रीविजया	१४७	नितमामिदमीय	१५६
गलन्निमेष	१४३	निदर्शनत्वं	१२२
गुणेन दानस्य	१३५	निर्वेदतः किं	१४२
गुणैर्निर्जैदिग्जय	१३३	नीतिर्नवीनेय०	१२५
चिकुरालिमयीं	१५१	न्यूनाधिकाभ्यां	१२२
चिकुरैः सह	१५०	पचेलिमं पक्षि	१२६
चौर्यं परस्वेषु	१२६	परिणामसहाय	१४८
जगन्ति जेता	१४४	पीनीभविष्णोः	१३१
जेतुं जगद् यस्य	१४१	पुरतो न तदा	१६१
तं युवानमनु	१४५	पुरन्दरो गोत्र	१३६
ततः कृतार्था	१३५	पुरुषोत्तममेन	१४८
तन्त्रात्-प्रयोगात्	१४४	पुरो मुखस्या	१४१
तारामिषात्	१२३	प्रकटय्य	१३८
त्रिजगज्जया	१५२	प्रकामवन्ध्या	१३६
त्रिजगद् रुचिरा	१६२	प्रथिता किल	१४६
दयैव तेनान्तर	१३७	फणाभिरुच्चैः	१३०
दुर्गेरुदग्रैर्नवभिः	१२४	फलं ददुर्घां	१२४
द्रष्टुं किमासीन्	१३६	फलार्थिनः श्रीफल	१२७
द्रुहिणेन तदा	१५८	बभूव भूवल्लो०	१३५
द्विजराज इवैतदा	१६३	भजते हरिणो	१५३

पद्यानि	पृष्ठांकाः	पद्यानि	पृष्ठांकाः
भयतो महत्तस्तया	१५०	यो यत्र दोषः	१२५
भव समासेव्य	१४६	रतिरेतु त्रिं	१४६
भानोः प्रभेव	१४६	लङ्कामिवावेत्य	१३२
भूपो भुनक्ति	१२४	लावण्यलक्ष्मी	१२३
मदनस्य चतु	१५२	वनीपकानामिव	१३४
मदनस्य तदीय	१५४	वप्रेषु यस्मिन्	१३२
मदनस्य तनो	१६०	वयसा शिशु	१५७
मात्राधिकस्यापि	१२७	विजितं किल	१५४
मुख्यो महेन्द्र	१३८	विद्यागुरोरेव	१३८
मृगखञ्जन	१५४	विद्याभिरेतस्य	१३७
यं वीक्ष्य साक्षा	१२४	विधुमेव सुरा	१६१
य इमां भुवनाति	१५०	विधुराब्ज	१५८
य इहाश्रययो	१५६	विधेर्विधये	१२७
यच्चैत्यवाय	१२८	विमानलक्ष्मी	१३६
यत्रानिशं स्फटिक	१२८	विहितसदृश	१४६
यत्रापणश्रेणिषु	१२६	वेगप्रकर्षाद्	१३६
यत्रेन्दुकान्ता	१३२	व्यलसन् दश	१५७
यत्रोल्लसत्स्फाटि ०	१३३	व्यशी शिषद्	१५०
यदापणन्यस्त	१३१	शुचितद्वदना	१६२
यद्भास्वताऽनेन	१४०	शुचितस्मित	१५७
यद्भूर्भुवः स्वः	१२६	श्रयतां शशिन ०	१५३
यद्यत्र भास्वान्	१२६	श्रियमिव हरिणा	१४५
यद्वप्रपालीव	१३२	श्रोदः श्रिया	१३६
यद्वेश्मनां च	१२६	श्रुतिगमित	१५३
यस्मिन् सभा	१२६	श्रेणीभवत्स	१३०
युद्धे च लक्ष्मीः	१२८	श्वश्रे बलिः	१३४
युवनेत्रविलासि	१४६	सकलकच	१५०

पद्यानि	पृष्ठांकाः	पद्यानि	पृष्ठांकाः
सकलोऽपि	१५६	सुधांशुनाम्नैव	१२२
सतीव्रतोच्छेद	१३६	सीमा किमस्मि	१४३
सदाच्युतश्री	१३१	सुषमासु परी	१५५
सदालिषु प्रीति	१३८	स्तुतिः क्ष०	१२५
सन्त्यज्य जाड्य	१४०	स्मितविस्मित	१५६
स मांसलांस	१४२	स्वकान्तिमित्र	१४५
सर्वाङ्गशैत्य	१४४	स्वरूपलक्ष्म्यैव	१३६
स विधिः शुचि	१५६		

सिद्धसहस्रनामकोशस्य श्लोकानामकाराद्यनुक्रमणिका

पद्यानि	पृष्ठांकाः	पद्यानि	पृष्ठांकाः
अजन्मरामो	१७४	अनिमेषो	१८२
अतिक्तोऽमधुरो	१८१	अनुपाधि	१७३
अतुल्योऽसदृशो	१७७	अपदोऽनक्षरो	१६७
अध्यात्मकोटि	१७६	अपातोऽलम्बनो	१८०
अध्यात्मगम्यो	१७६	अभोऽनदो	१८०
अध्यात्मपीठो	१८०	अमृतात्मा	१७१
अध्यात्मपूतो	१७६	अलोकस्पृग्	१८२
अध्यात्मपूर्णो	१७६	अशस्त्रः शस्त्रमुक्	१७३
अध्यात्मभाव्यो	१७६	अष्टोत्तरं नाम	१८३
अध्यात्मवासो	१७६	असम्मोहाय्य	१७७
अनन्तरूपो	१६६	अस्तप्राणो	१७४
अनाख्यातो	१८०	अस्तिग्धोऽगौरवो	१८१
अनर्कोऽनाटको	१८०	अहसोऽस्मातृको	१८०
अनादिशुद्धः	१६६	आत्मरक्षा	१८२
अनिघण्टु	१८१	आत्मवान्	१६७

पद्यानि	पृष्ठांकाः	पद्यानि	पृष्ठांकाः
अहमारामश्चिदा०	१७४	त्रयीतनुस्त्रयी	१७३
आदिदेवो	१८१	त्रयीमयस्त्रयी	१७२
आद्यमेघः	१८२	दयासिन्धुर्दया	१७४
आद्येड्य आद्य	१८२	दयास्थायी	१७४
उपासनानां	१६७	दशधर्माऽनन्त	१६७
एकधीरेकपूः	१८३	धर्मचक्री	१६८
एकातपत्र	१७१	धर्मत्यागी	१६८
ऐन्डी श्रीः	१६५	धर्मधातु	१६८
कृतज्ञः कृत०	१७१	धर्मयूपो	१७६
कृतान्तसूट्	१७७	धर्मविद्धर्म	१६६
गच्छे श्रीविनय	१८३	धर्मदम्भी	१६६
गुणातीतो	१७०	धर्मोत्तरो	१६८
चतुष्कभागष्ट	१८३	धीशो धियः	१७८
त्रिताद्धर्धिप्रद	१७७	ध्यानातीतो	१७१
त्रिन्तामणिः	१७७	नयोत्क्रान्तो	१७८
त्रिन्मन्त्रो	१६६	निरक्षः कृत	१७२
छन्दोऽतीतो	१७१	पञ्चमङ्गल	१६६
जगत्त्राता	१६६	पद्मे शः पद्म	१७२
जगत्पतिर्जग०	१७०	परमेष्ठी	१६६
जगत्पूज्यो	१७०	परयत्यात्मा	१८१
जगत्सारो	१७०	प्रमापादानः	१८२
जगदचर्यो	१७०	प्रक्षीणबन्धः	१७७
जगद्वैद्यो	१७०	प्राणायामप्रकटितः	१७५
जगन्नाथो	१६६	प्राणोत्तरः	१७४
जितारिरजितो	१७७	प्रौढोऽनुढो	१८२
तत्सातीर्थ्यभृता	१८४	बन्धुरो रुचिर	१७८
तस्याष्टसहस्राख्या	१६५	भवावध्यगस्ति	१७०

पद्यानि	पृष्ठांकाः	पद्यानि	पृष्ठांकाः
भावः स्वभावो	१७१	वाचस्पतिर्वचः	१७८
भूतात्मा भूत	१७४	विजयो वैज०	१७७
मन्त्रमूर्ति	१६६	विधिशेषो	१६७
महागतिर्महा	१७६	विश्वकृद्	१६६
महात्राता	१७५	विश्वद्ग	१६६
महादित्यो	१७६	विश्वम्भरः	१६६
महाबोधि	१७२	विश्वरेता	१७२
महामुक्ति	१७६	वेदातीतो	१७१
महामूर्तिर्महा	१७६	व्यौममूर्ति	१६८
महार्णवो	१७६	शक्तो निरेजः	१७३
महाव्योम	१७६	शतोपायः	१७८
महाशक्रो	१७६	शिवतातिर्महा	१८१
महाशिवो	१७५	श्रृष्ठः स्थविष्ठः	१६८
महासनो	१७६	सदातनः	१७७
महास्रष्टा	१७५	सदायोगः	१७७
महाहेतुर्महा	१७५	सर्वादः	१६७
महेन्द्राचार्यो	१७४	सार्धसत्त्रिकला	१६६
महोपास्यो	१७५	सुयज्वा यज्ञ	१६८
लक्ष्मीशः	१७८	स्पृहामुक्तः	१७६
लोकाग्रमौलि	११६	स्वयम्बुद्धो	१७३
वरदः पारदः	१७२	हिरण्यगर्भः	१७२
वाक्यातीतः	१७६	हृषीकेशः	१७२

सिद्धसहस्रनामकोशस्य

नाम्नामकाराद्यनुक्रमणिका

नामानि	पृष्ठाङ्काः	नामानि	पृष्ठाङ्काः
अ			
अकटवे	२०५	अगुणाय	२०३
अकर्मठाय	२०२	अगुरवे	१९५
अकल्याय	२००	अगौरवाय	२०५
अकश्मलाय	२००	अग्रहाय	२०४
अकषायाय	२०५	अग्रामाय	२०४
अकाव्याय	२०४	अग्राह्याय	१९७
अकुण्ठाय	२०६	अधनाय	२०५
अकुतोभयाय	१९६	अघोषाय	२०३
अकृदन्ताय	२०४	अच्छन्दसे	२०४
अक्रमाय	२०३	अजन्मरामाय	१९६
अक्रान्तये	२०४	अजिताय	२००
अक्षरातीताय	१९२	अतद्धिताय	२०४
अखराय	२०५	अतद्व्यावृत्तिलक्षणाय	१८८
अगदङ्काराय	१९४	अतनुभावकाय	२०४
अगदाय	१९४	अतिक्ताय	२०५
अगाय	२००	अतित्रिलिङ्गाय	१९५
अगीतये	२०६	अतिरामाय	१९६

नामानि	पृष्ठाङ्काः	नामानि	पृष्ठाङ्काः
अतीन्द्राय	१९६	अध्यात्मसङ्गताय	२०३
अतीन्द्रियार्थदृशे	१९६	अध्यात्मसंग्रहाय	"
अतुल्याय	२००	अध्यात्मसन्तताय	"
अदिगन्तराय	२०४	अध्यात्मसन्तानाय	"
अधातुभाजे	१९०	अध्यात्मसंवराय	"
अध्यात्मकैलाशाय	२०२	अध्यात्मसंश्रयाय	"
अध्यात्मकोटये	२०२	अध्यात्मसाराय	"
अध्यात्मगम्याय	२००	अध्यात्मसृष्टये	२०२
अध्यात्मज्ञाय	२०३	अध्यात्मस्थाय	२०३
अध्यात्मधनाय	२०२	अध्यात्मांशाय	२०२
अध्यात्मपरिग्रहाय	"	अध्यात्माख्याय	२०३
अध्यात्मपवित्राय	"	अध्यात्माङ्गाय	२०२
अध्यात्मपारगाय	"	अध्यात्माज्ञाय	२०३
अध्यात्मपीठाय	२०३	अध्यात्माह्वयाय	२०२
अध्यात्मपूताय	"	अध्यात्माधिपत्यकाय	"
अध्यात्मपूर्णाय	२०२	अध्यात्माध्वने	"
अध्यात्मभाव्याय	२०३	अध्यात्माप्याय	२०२
अध्यात्मभास्कराय	२०२	अध्यात्माभाय	२०३
अध्यात्ममन्दिराय	२०३	अध्यात्माकार्याय	२०२
अध्यात्मयज्ञाय	"	अध्यात्माचार्याय	"
अध्यात्मरङ्गाय	"	अध्यात्माथार्याय	२०३
अध्यात्मलोचनाय	२०२	अध्यात्मास्थाय	"
अध्यात्मवासाय	"	अध्यात्मेताय	"
अध्यात्मवासिताय	२०३	अध्यात्मेन्द्राय	"
अध्यात्मविदे	"	अध्यात्मेनाय	"
अध्यात्मविष्टराय	"	अध्यात्मेन्द्राय	"
अध्यात्मशासनाय	२०२	अध्यात्मेलाय	"
		अध्यात्मेष्टाय	२०२

नामानि	पृष्ठाङ्काः	नामानि	पृष्ठाङ्काः
अध्वनये	२०३	अनित्थस्थाय	२०६
अनक्षराय	१८८	अनिन्द्रियाय	१९६
अनताय	२०४	अनिमेषाय	२०७
अनदाय	२०३	अनीचाय	२०४
अनध्यायाय	२०४	अनीदृशे	२०६
अनन्तजिते	१८७	अनीलाय	२०५
अनन्तदृशे	"	अनुच्चाय	२०४
अनन्तधर्मणे	१८९	अनुद्देशाय	२०१
अनन्तप्राप्तये	१८७	अनुन्नताय	२०४
अनन्तरूपाय	१८७	अनुपचारभुवे	२०१
अनन्ताख्याय	"	अनुपाधये	१९५
अनन्तात्मने	"	अनुपाध्याय	"
अनभिज्ञानाय	२००	अनुपाहिताय	२०३
अनम्लाय	२०५	अनुष्णाय	२०५
अनकार्य	२०४	अनूढाय	२०६
अनलङ्कृतये	"	अनेपथ्याय	२०४
अनहर्गणाय	"	अन्तरिक्षात्मने	१९०
अनाख्याताय	"	अन्यूनाधिककलानिधये	१८७
अनाचार्याय	१९५	अपदाय	१८८
अनाटकाय	२०४	अपदौर्गन्ध्याय	२०५
अनाट्याय	"	अपराजिताय	१९९
अनाथाय	"	अपवर्गभाजे	१९३
अनादाय	२०२	अपाटलाय	२०५
अनादिशुद्धाय	१८७	अपाताय	२०४
अनाम्ने	२०३	अपिङ्गलाय	"
अनिघण्टवे	२०४	अपीतिम्ने	२०५
अनिङ्गिताय	"	अपुनर्भावाय	१९२
अनिच्छाय	१८८	अप्रत्याहाराय	२०३

नामानि	पृष्ठाङ्काः	नामानि	पृष्ठाङ्काः
अप्रत्यहाय	२०५	अरिघ्नाय	२०६
अप्रातिपदिकाय	२०४	अरिष्टच्छिदे	१६०
अप्राणाय	१६७	अरुहाय	२०५
अबभ्रवे	२०५	अरुढये	२०४
अभाय	२०३	अरोहाय	२०५
अभाषाय	२०५	अर्हाय	२०६
अमधुराय	"	अलग्नाय	२०४
अमध्यमाय	"	अलघवे	२०५
अमातृकाय	२०३	अलम्बनाय	२०४
अमृच्छनाय	२०४	अलवणाय	२०५
अमूर्तये	१६०	अलुके	२०३
अमृतसंस्थितये	१६३	अलूक्षाय	२०५
अमृतस्रष्ट्रे	"	अलोकस्पृशे	२०६
अमृताङ्गाय	"	अवतारमुचे	२०१
अमृतात्मने	"	अवाद्याय	२०४
अमृताधाराय	"	अविग्रहाय	"
अमृताय	१६०	अविभवाय	"
अमृतोद्भवाय	१६३	अविसर्गाय	२०३
अमृतोद्भूताय	"	अवृताय	२०५
अमृतौघाय	"	अवृद्धये	२०३
अमृदवे	२०५	अवेदाय	२०५
अमौघाय	२००	अवैखरये	"
अम्बरात्मने	१६०	अवैद्यकाय	२०४
अयुतसिद्धाय	२०६	अव्यथाय	"
अयोगाय	२०४	अशस्त्रभिदे	१६६
अरघ्ने	२०५	अशस्त्राय	१६५
अरवाय	२०३	अशस्त्रिणे	१६६
अराशये	२०४	अशीताय	२०५

नामानि	पृष्ठाङ्काः	नामानि	पृष्ठाङ्काः
अश्यामाय.	२०५	आत्मपञ्जराय	२०६
अश्लथाय	२०४	आत्मभुवे	१८८
अश्वेताय	२०५	आत्मरक्षायै	२०६
अष्टगुणाय	२०७	आत्मवते	"
असदृशाय	२००	आत्मारामाय	१६६
असमानाय	"	आत्मेश्वरगाय	१६५
असमासाय	२०४	आदि देवाय	२०५
असहय	"	आद्यचारित्राय	२०६
असंस्कृताय	१६३	आद्यध्येयाय	"
असंस्थानाय	२०५	आद्यनेत्रे	"
असंहिताय	२०४	आद्येड्याय	"
असम्मोहाप्याय	२०१	आद्यमन्त्राय	"
असौगन्ध्याय	२०५	आद्यमेघाय	"
अस्तप्राणाय	१६७	आद्यर्षये	"
अस्तिकाय	२०६	आद्यवाचे	"
अस्तोभाय	२०४	आघेऽयाम	२०६
अस्तिगधाय	२०५	आशामोचनाय	२०२
अस्मयाय	२०५	आशाविश्रामभाजनाय	"
अस्वनाय	२०३		
अस्वराय	"	उ	
अस्वनाय	"	उद्दामाय	२०२
अहमिन्द्राचार्याय	१६६	उन्नेयाय	२०१
अहसाय	२०३	उपज्ञाय	२०५
अहानिवृद्धये	१६४	उपाधिच्छिदे	१६५
		उपासनानां फलदाय	१८६
		उपास्यत्वेन देशिताय	"
आ			
आत्मकवचाय	२०६	ऋ	
आत्मत्रात्रे	"	ऋगादिमाय	२०६

नामानि	पृष्ठाङ्काः	नामानि	पृष्ठाङ्काः
ए		कूटस्थाय	१६५
एकधाम्ने	२०७	कृतकृत्याय	१६३
एकधिये	"	कृतकृतवे	"
एकपुरे	"	कृतज्ञाय	"
एकभुवे	"	कृतधर्मणं	"
एकमन्दिराय	"	कृतवेदाय	"
एकमार्गाय	"	कृतभूरक्षाय	१६५
एकवेश्मने	"	कृतशर्मणे	२००
एकशासनाय	"	कृतात्मने	१६३
एकस्थितये	"	कृतानन्दाय	२००
एकाग्राय	"	कृतान्तच्छिदे	"
एकाज्ञाय	"	कृतान्तज्ञाय	"
एकातपत्राय	"	कृतान्तसृजे	"
एकोद्भवाय	"	कृतान्तहृते	"
क		कृतामोदाय	"
कमलानाथाय	२०२	कृतोदयाय	२००
कलङ्कलीभावाय	१६७	कृपालवे	२०७
कलातिगाय	१६२	केवलरामाय	१६६
कलोञ्जिभताय	१६७	केवलात्मने	१८७
कल्यातीताय	१६२	केवलाय	"
कामकुम्भाय	२००	केवलारामाय	१६६
कामधेनवे	२००	केवलिने	१६७
कामातीताय	१६३		
कामरये	२००	क्ष	
काय	१६४	क्षणमयार्यं	१६५
कालातीताय	१६२	क्षमाघातवे	१६०
कुलातिगाय	"	क्षमाद्याय	२०६

नामानि	पृष्ठाङ्काः	नामानि	पृष्ठाङ्काः
ग		छ	
गगनात्मने	१६०	छन्दोऽतीताय	१६३
गदातीताय	१६३	ज	
गभस्तये	२०७	जगत्काम्याय	१६१
गंरिष्ठधिये	१६०	जगत्कैतवे	”
गहनाय	१६६	जगच्चक्षुषे	”
गिराम्पतये	२०१	जगच्चिन्त्याय	”
गीष्पतये	”	जगच्छास्त्रे	”
गुणातीताय	१६२	जगज्ज्येष्ठ्याय	”
गुरुशिरोमणये	१६५	जगज्ज्योतिषे	”
गूह्यःय	१६७	जगत्तरवे	१६२
घ		जगत्त्रात्रे	१६१
घनाध्यात्माय	२०२	जगत्पतये	”
च		जगत्पात्रे	”
चतुष्कभाजे	२०७	जगत्पित्रे	”
चयातिगाय	१६३	जगत्तूज्याय	”
चारवे	२०१	जगत्तूष्णे	१६२
चितार्द्धाधिप्रदाय	२००	जगत्तूषिणे	१६१
चिदारामाय	१६६	जगत्प्रियाय	”
चिद्रामाय	”	जगत्सखाय	”
चिन्तातीताय	१६३	जगत्साराय	१६२
चिन्तामणये	२००	जगत्सीम्ने	१६१
चिन्मन्त्राय	१६६	जगत्सुहृदे	”
चिरच्छायाय	२००	जगत्स्रष्ट्रे	”
चिरस्थितये	२००	जगत्स्वामिने	”
चैत्याय	२००	जगदच्ययि	”
		जगदर्यम्णे	”

नामानि	पृष्ठाङ्काः	नामानि	पृष्ठाङ्काः
जगदीशाय	”	जपञ्जयाय	१६७
जगद्गुरवे	”	जयन्ताय	१६६
जगद्दीपाय	”	जयाय	”
जगद्धिताय	१६१	जयिने	१८६
जगद्घुर्याय	१६२	जागरूकाय	२०६
जगद्धेतवे	१६१	जितारये	२००
जगद्धयेयाय	१६१	जिष्णवे	१६४
जगद्वन्धवे	”	जेत्रे	१८६
जगद्बीजाय	”	जैवातृकाय	२००
जगद्भर्त्रे	”	ज्येष्ठाय	१६०
जगद्भानवे	”	ज्ञानगर्भाय	२०१
जगद्भ्रात्रे	”	ज्ञानिने	१८७
जगद्रक्षाय	”		
जगद्वन्द्याय	”		
जगद्विदे	”	त	
जगद्वैत्राय	”	तथागताय	१६७
जगन्नाथाय	”	तथारूपाय	”
जगन्निधये	”	तथ्याय	२०२
जगन्नेत्रे	”	तपोऽतिगाय	१६३
जगन्मणये	”	तपोतीताय	”
जगन्मात्रे	”	तमोऽतिगाय	”
जगन्मान्याय	”	तरणये	२०७
जगन्मित्राय	”	ताराय	”
जगन्मुखाय	”	तीर्थाचार्याय	१००
जगन्मूलाय	१६२	तुरीयावस्थिताय	१६५
जङ्गमाश्रयाय	२००	तुर्याय	”
जनातिगाय	१६३	त्रयीकेतवे	”
जनातीताय	”	त्रयीगीताय	”
		त्रयीतनवे	”

नामानि	पृष्ठाङ्काः	नामानि	पृष्ठाङ्काः
त्रयीतेजोमयाय	१९५	दशधर्मणे	१९६
त्रयीधराय	”	दशपारमितेश्वराय	१९५
त्रयीमयाय	”	दशलाक्षणिकाय	२०१
त्रिकरणोन्मुक्ताय	”	दिग्भागपरिक्षयिने	१८८
त्रिब्रह्मप्रकृतये	”	दीनपाय	२०७
त्रिलक्षणाय	१९३	दीप्ताय	२०६
त्रिलिङ्गाय	१९५	दूरदृशे	२०२
त्रिस्थाय	”	दूरपथाय	”
त्रेताय	”	दूरस्थाय	”
त्र्यम्बकाय	२०६	दृढरथाय	२००
		दशाय	२०१
		द्रष्ट्रे	१९६
		द्रहिणाय	१९४
दक्षिणावतयि	२००		
दयागर्भाय	२०२		
दयानिधये	१९५		
दयानेत्रे	१९६		
दयापात्राय	”	धर्मकीर्त्तये	१८९
दयापालाय	”	धर्मकृते	”
दयमात्राय	”	धर्मक्षमिने	”
दयारामाय	”	धर्मगणाय	२०२
दयालवे	”	धर्मघोषणाय	”
दयाव्यासाय	”	धर्मचक्रायुधाय	”
दयाश्रेष्ठाय	”	धर्मचक्रिण	१८९
दयासिन्धवे	”	धर्मतपसे	१९०
दयास्थानाय	”	धर्मत्यागिने	”
दयास्थायिने	”	धर्मदाय	१८९
दयोदयाय	”	धर्मदेशकाय	”
दयोन्नतये	”	धर्मघातवे	१९०
		धर्मनायकाय	१८९

नामानि	पृष्ठाङ्काः	नामानि	पृष्ठाङ्काः
धर्मनेमये	२०२	धर्माङ्गाय	१८६
धर्मपोषणाय	"	धर्मात्मने	"
धर्मप्रापिणे	१८६	धर्माधर्मविवर्जिताय	"
धर्मब्रह्मणे	१६०	धर्मनोघाय	"
धर्ममण्डलाय	१८६	धर्मिणे	"
धर्ममुक्तये	१६०	धर्मोत्तराय	"
धर्ममुदे	१८६	धारावाहिने	१६५
धर्ममूर्तये	"	धियः पतये	२०१
धर्ममृदवे	"	धिप्रणाय	"
धर्ममेघाय	२००	धीगणाय	"
धर्ममौलये	१८६	धीनदाय	"
धर्मज्ञाय	१६०	धीराय	२०७
धर्मयूपाय	२०२	धीशाय	२०१
धर्मज्वे	१८६	धीसमूहाय	"
धर्मलभ्याय	१६०	ध्यानातीताय	१६३
धर्माविदे	१८६	ध्वस्तगदाय	१६४
धर्मशाश्वताय	१६०	ध्वान्तनाशकाय	२०७
धर्मशासनाय	१६६	ध्रुवाय	१८७
धर्मश्रद्धावशंवदाय	१६०		
धर्मसत्याय	"		
धर्मसंन्यासिने	१८६	नगाधिराजाय	२००
धर्मसंयमाय	१६०	नगाय	"
धर्मसारथये	१८६	नन्द्याय	२०६
धर्मसाराय	"	नन्द्यावर्ताय	"
धर्मसेव्याय	१६०	नभ केशाय	१६४
धर्मस्थानाय	१६१	नभोमयाय	१६०
धर्मस्थाय	१६०	नमद्विश्वाय	१८८
धर्माग्राय	१८६	नयातिगाय	१६२

न

नामानि	पृष्ठाङ्काः	नामानि	पृष्ठाङ्काः
नयोत्क्रान्ताय	२०१	पदोत्तराय	२०६
नवोद्भेदिने	"	पद्मभुवे	१६४
नादी नवाय	२०६	पद्मविष्टराय	१६४
नाद्याय	"	पद्मसम्भूतये	"
नाप्युणादिकाय	२०४	पद्माय	"
निपाताय	१६०	पद्मासनोदयाय	"
निःप्रमीलदृशे	२०७	पद्मे शाय	१६३
निमेषेन्द्राय	२०७	परधर्मविनिर्मुक्ताय	१८६
नियोजभाजे	१६०	परब्रह्मणे	१८७
निरक्षाय	१६५	परमात्मने	"
निरञ्जनाय	१८७	परमाशस्त्राय	१६६
निरन्तराय	२०६	परमेष्ठिने	१८७
निरम्बराय	१६०	परंज्योतिषे	"
निराक्रियाय	२०६	परात्पराय	१८६
निरेजसे	१६५	पश्यत्यात्मने	२०४
निर्मन्तवे	२०२	पातकक्षयिने	१६०
निर्वर्गाय	१६३	पारदाय	१६४
निर्वाच्याय	१८८	पिटकंत्रयदेशिताय	१६५
निर्वृताय	२०५	पितामहाय	१६४
निश्चयिने	१६५	पुण्यगर्भाय	२०२
निष्ठाय	१६०	पुराणगाय	१६४
निस्तन्द्राय	२०६	पुराणज्ञाय	"
न्यासातीत्राय	१६३	पुराणाय	१८८
		पुरुहुताय	२०१
		पुरोहिताय	१६०
		पुष्कलेक्षणाय	१६५
		पूर्णार्थाय	१६३
		प्रक्षीणबन्धाय	२००
प			
पञ्चमङ्गलमन्त्राय	१६१		
पदातीताय	१६२		
पदार्थाय	१६३		

नामानि	पृष्ठाङ्काः	नामानि	पृष्ठाङ्काः
प्रजानाथाय	१६४	प्राप्तशैलशये	१६५
प्रजापतये	"	प्रेष्ठाय	१६०
प्रणवाय	१६६	प्रौढाय	२०६
प्रणवोत्सवाय	"		
प्रधानाद्याय	२०६	ब	
प्रधिषे	२००	बन्धने	२०१
प्रभवाय	१६६	बन्धुराय	"
प्रभास्वराय	२०१	बहिष्ठाय	१६०
प्रमाणपरिधिषे	२००	बुद्धजागराय	१६५
प्रमाणाय	२०७	बृहदात्मने	२०१
प्रमापादानाय	"	बृहदारण्यकोद्द्योतिने	"
प्रमाप्यकाय	"	बृहस्पतये	२०१
प्रमायाः सम्बन्धिने	"	ब्रह्मचर्यफलीभूताय	१८८
प्रमासम्प्रदानाय	२०६	ब्रह्मणे	"
प्रशान्तवाह्याय	१८८	ब्रह्मपदस्थिताय	१८६
प्रावतनाय	"	ब्रह्मवते	"
प्राणगतये	१०७	ब्रह्मसम्भवाय	"
प्राणदयिताय	"	भ	
प्राणदाय	"	भवत्सलाय	२०७
प्राणमन्त्राय	१६६	भद्राय	२०६
प्राणवल्लभाय	१६७	भयातीताय	१६२
प्राणाग्रहाय	"	भवच्छिदे	१६२
प्राणायामप्रकटिताय	१६६	भवहृते	"
प्राणितेश्वराय	१६७	भवातीताय	"
प्राणिनामिनाय	"	भवाढ्यगस्तये	"
प्राणेशाय	"	भावाय	१६३
प्राणोत्तराय	"	भिषग्वराय	१६४
प्राध्यात्माय	२०३	भूतभृते	१६६

नामानि	पृष्ठाङ्काः	नामानि	पृष्ठाङ्काः
भूतरक्षिणे	१६६	महाकृताय	१६८
भूतात्मने	"	महाक्षणाय	"
भूताधाराय	"	महागतये	"
भूतानुपग्रहाय	१६७	महागर्भाय	१६७
भूताभयङ्कराय	१६६	महागुणाय	१६६
		महागुरवे	"
		महागृहाय	"
मनीषिताय	२०१	महाचक्रिणे	१७८
मनीषीशाय	२०१	महाचक्षुषे	१६७
मनोऽतीताय	१६३	महाचलाय	१६८
मनोरमाय	१६६	महाचार्याय	१६६
मन्तुमोचनाय	२०२	महाश्रेष्ठाय	१६७
मन्त्रदेवाय	१६१	महाऽयोतिषे	"
मन्त्रन्यासाय	"	महाज्ञाय	१६८
मन्त्रपतये	"	महाणवे	१६६
मन्त्ररूजिताय	"	महातपसे	१६८
मन्त्रबीजाय	"	महातर्कविताराय	१६६
मन्त्रमायाय	"	महात्यागिने	१६८
मन्त्रमूर्तये	१६०	महात्रात्रे	१६७
मन्त्रराजे	१६१	महादयाय	१६६
मन्त्रशिखाय	२०६	महादित्याय	१६६
मन्त्रसंस्थानाय	१६१	महादृष्टये	१६७
मन्त्रड्याय	"	महादेशाय	१६८
मन्त्रे प्रत्यक्षरूपाय	"	महाधनाय	१६६
महर्द्धये	१६४	महाधराय	१६८
महाकाम्याय	१६८	महाधर्मणे	१६६
महाकाशाय	"	महाधातवे	१६८
महाकीर्तये	"	महाधाराय	१६७

नामानि	पृष्ठाङ्काः	नामानि	पृष्ठाङ्काः
महाधृतये	१६८	महामुनये	१६८
महाध्येयाय	"	महामूर्तये	"
महाध्रुवाय	"	महामेरवे	१६९
महानयाय	१६८	महायज्वने	"
महानाथाय	१६७	महायशसे	१६७
महान्यासाय	१६८	महारथाय	"
महापद्माय	१६४	महाराजाय	१६८
महापात्राय	१६९	महारामाय	१६६
महापूज्याय	१६८	महारूपाय	१६७
महापूष्णे	"	महागुणवाय	१६९
महापीताय	१६९	महावन्द्याय	१६७
महाप्रज्ञाङ्कुराय	१६९	महावर्गाय	१६८
महाप्रष्ठाय	१६८	महावशिने	१६९
महाप्राणाय	१६७	महावसवे	"
महाप्राप्तय	१६७	महात्रिधये	१६७
महाप्रियाय	१६८	महाविभवे	"
महाबलाय	२०५	महावीराय	१६०
महादीजाय	१६८	महावृताय	१६८
महाबोधये	१६४	महावृद्धये	"
महाब्रह्मणे	१६८	महावृषाय	"
महाभावाय	"	महावेदाय	१६९
महाभूतये	"	महावेश्मने	१६९
महाभ्रात्रे	"	महावद्याय	१६८
महामहाय	१६७	महाध्यापिने	१६७
महामन्त्राय	१६१	महाध्यातये	१६९
महामात्राय	१६८	महाऽयोम्ने	१६८
महामान्याय	१६८	महाव्रताय	"
महामागयि	"	महाशत्राय	१६८
महायुक्तये	"	महाशाखाय	"

नामानि	पृष्ठाङ्काः	नामानि	पृष्ठाङ्काः
महाशान्तये	२०५	मार्गविशोधकाय	२०७
महाशिवाय	१६७	मार्गस्वामिने	"
महाशिष्टये	१६८	मार्गतीनाय	१६२
महाशीलाय	१६८	मार्गाय	"
महाशुचये	"	मुख्यवर्गाय	१६३
महासत्याय	"	मृडाय	२०६
महासनाय	"	मृत्युञ्जयाय	१८८
महासाराय	१६७	मृत्युनिवारणाय	"
महासिद्धाय	"		
महासीम्ने	१६८		
महामुहूर्दे	१६७		
महामोमाय	१६६	यजमानाय	१६०
महास्थास्त्रवे	१६८	यज्ञपुरुषाय	"
महास्फूर्तये	"	यज्ञाङ्गाय	"
महास्त्रष्ट्रे	१६७	यथाख्याताय	१८७
महास्वामिने	"	यथाजाताय	"
महाहविषे	१६८	यथारूपाय	"
महाहंसाय	१६४	यथास्थिताय	"
महाहेतवे	"	यमातिगाय	१६३
महेन्द्राय	१६६	युगपाय	२०५
महेन्द्रार्च्याय	"	युगातीशाय	"
महेन्द्रेड्याय	"	युगाय	"
महेशाय	१६८	युगेशाय	२०५
महोन्नतये	१६६	योगातीताय	१६३
महोपास्याय	१६७		
महोषधाय	१६८		
सान्निध्याय	१६१		
मार्गप्रभवे	२०७	रक्षोहन्त्रे	१६५
		रजोस्तीताय	१६२

नामानि	पृष्ठाङ्काः	नामानि	पृष्ठाङ्काः
रत्नगर्भाय	२०२	वर्द्धमानाय	१६४
रसाय	२०४	वर्षीय	"
रामसत्तमाय	१६६	वर्षीयसे	"
रुचिराय	२०१	वावयातीताय	१६२
रूण्याय	"	वाचस्पतये	२०१
रोहणाय	२००	वाचोऽतीताय	१६२
		विजयाय	१६६
		विधये	१८८
लक्षणाथीय	१६३	विधर्मभृते	१८६
लक्ष्मीशाय	२०२	विधवे	१८८
लयातिगाय	१६३	विधिनिषेधतः परस्मै	"
लयाय	२०४	विधिशेषाय	"
लेपातीताय	१६३	विधेः साराय	"
लोकत्रात्रे	अ८७	विन्दवे	२०३
लोकपाय	"	विबुद्धाय	१६५
लोकमध्याय	२०६	विभवाय	१६६
लोकमान्याय	२०६	विभवे	१८८
लोकाग्रमौलये	१८७	विरञ्चये	१६४
लोकाग्रशेखराय	१८०	विरामवते	१६६
लोकातीय	१६३	विश्वकृते	१८८
लोकालोकविलोककाय	१-७	विश्वस्याताय	"
लोकेड्याय	"	विश्वतः पाणये	१८८
लोकेशाय	"	विश्वतश्चक्षुषे	"
		विश्वतो बाहवे	"
वचःस्रष्ट्रे	२०१	विश्वतो मुखाय	"
वयोऽतीताय	१६३	विश्वदर्पणाय	"
वरदाय	१६४	विश्वदृशे	"
वर्णातीताय	१६२		

नामानि	पृष्ठाङ्काः	नामानि	पृष्ठाङ्काः
विश्वम्भराय	"	व्रतातीताय	१६३
विश्वरूपाय	"	व्योममूर्तये	१६०
विश्वरेतसे	१६४		
विश्वव्यापिने	१८८	श	
विश्वशीर्षाय	"	श्वताय	१६५
विश्वसुवे	"	शतकीर्तये	२०१
विश्वसेनाय	२००	शतगृह्याय	"
विश्वात्मने	१८८	शतताराय	"
विश्वाधाराय	"	शतक्षाय	"
विश्वावताराय	"	शतवृत्तये	"
विषमाय	२००	शतशाखाय	"
विषमास्त्रजिते	"	शताख्यानाय	"
विष्णवे	१८६	शताध्वागाय	"
विसंशयाय	२०६	शतानन्दाय	१६४
विस्पर्शाय	२०१	शताह्वयाय	२०१
वृत्तातीताय	१६२	शतोद्गीथाय	"
वृद्धिलक्षणाय	१६४	शतोपायाय	"
वृषकेतवे	"	शम्भवाय	२००
वृषध्वजाय	"	शर्वाय	२०६
वृषभाय	"	शस्त्रमुचे	१०५
वृषादिमाय	२०६	शस्त्राविवर्जिताय	"
वेदगर्भाय	१६४	शस्त्रोज्जिभक्ताय	"
वेदवते	१८६	शिवतातये	२०५
वेदसङ्गीताय	२०५	शिवाय	१८८
वेदातीताय	१६३	शीलनायकाय	१६५
वैजयन्ताय	१६६	शीलेशाय	१६५
वेद्याय	१६४	शुचये	१६०
व्यवहारमुचे	१६५	शुद्धप्रमाश्रयाय	२०७

नामानि	पृष्ठाङ्काः	नामानि	पृष्ठाङ्काः
शुद्धात्मने	१८७	सदासुहृदे	१६६
शुभंयवे	१६५	सदासौख्याय	"
शेमुषीधराय	२०१	सदास्थितये	"
शैलेशाय	१६५	सदास्नाताय	"
शोभनाय	२०१	सदोदयाय	"
श्रद्धाधातवे	१६०	सदोत्रोताय	"
श्रीगर्भाय	१६४	सदोन्निद्राय	२०६
श्रीदाय	१६४	सनातनाय	१७८
श्रीपतये	२५०	समयातीताय	२००
श्रीपाताय	१६०	समयाय	"
श्रीयुक्ताय	२०५	समयोपज्ञाय	२०५
श्रीरमणाय	२०७	सम्बुद्धाय	१६५
श्रीरामाय	१६६	सर्वगाय	१८८
श्रेष्ठाय	१६०	सर्वजनीनाय	"
		सर्वदर्शनाय	"
		सर्वमन्त्रावतारवते	१६१
		सर्वमलोज्जिताय	१६६
		सर्वशर्मदाय	१६४
		सर्वशुद्धदयामयाय	१६६
		सर्वातीताय	१६३
		सर्वादये	१८६
		सर्वार्थसिद्धाय	१६६
		सर्वाविप्रतिपन्नाय	१८६
		सर्वेश्वराय	२०६
		सर्वोपाधिविशुद्धिमते	१६५
		सवयसे	२००
		सवित्रे	२०७
		संवृताय	२०५

स

सत्तायै	१६३
सदाज्ञानाय	१६६
सदातनाय	"
सदातृप्ताय	"
सदानघाय	"
सदाभोगाय	"
सदायोगाय	"
सदालेपाय	"
सदाविद्याय	"
सदाशिवाय	१८७
सदाश्रयाय	१६६
सदासत्याय	"

नामानि	पृष्ठाङ्काः	नामानि	पृष्ठाङ्काः
संस्कृताप्तये	१६३	स्थायिने	२०४
सार्द्धं सत्त्रिकलातीताय	१८७	स्थावराय	२००
सार्वाय	२०६	स्थास्नवे	१६४
सिद्धगिरे	१६२	स्थितिप्रणिये	२०२
सिद्धजागरिकात्रयाय	१६५	स्पर्शगोचराय	२०१
सिद्धधिये	१६२	स्पृहातीताय	१६३
सिद्धशासनाय	"	स्पृहात्यागिने	२०२
सिद्धस्थानाय	"	स्पृहापर्शवे	"
सिद्धार्थाय	"	स्पृहामुक्ताय	"
सिद्धाय	१८७	स्पृहोज्जिभताय	"
सिद्धिदाय	१६४	स्फीतकरुणाय	२०७
सुधमणे	१८६	स्फुरन्मन्त्राय	१६१
सुधमंदृशे	"	स्मयातीताय	१६२
सुधिये	१६२	स्वगर्भगाय	२०२
सुमन्त्रभुवे	१६१	स्वतोरामाय	१६६
सुयज्वने	१६०	स्वदयाचिह्नाय	१६५
सुरद्रमाय	२००	स्वदृशे	१६६
सुप्रतिष्ठाय	"	स्वधर्मगाय	१८६
सुरमणये	"	स्वयज्योतिषे	१८७
सुश्रुताय	१८८	स्वयम्प्रभवे	"
सुसंयुताय	२०६	स्वयम्बुद्धाय	१६५
सुसिद्धान्ताय	१६२	स्वयम्भुवे	१८८
सुस्थाय	१६८	स्वयम्भूरमणाय	१६६
सुस्थिताय	"	स्वयंरामाय	१६६
सूक्ष्माय	१६६	स्वरक्षिताय	१६५
स्तुत्यात्मने	१६४	स्वस्तिकाय	२०६
स्थविराय	१६०	स्वाध्यात्माय	२०२
स्थविष्ठाय	"		

नामानि	पृष्ठाङ्काः	नामानि	पृष्ठाङ्काः
		हिरण्मयाय	१६४
		हिरण्येशाय	"
हविषे	१६०	हृत्पद्मस्थाय	"
हंसगतये	१६४	हृषीकेशाय	"
हंसराजे	१६४	ह्रीपाताय	१६०
हिरण्यगर्भाय	"		

शुद्धि-पत्र

पृ०	पं०	अशुद्ध	शुद्ध
प्राक्कथन			
१६	१	महशत्रु	मोहशत्रु
२३	२५	ई० स० १६८२	ई० स० १५८२
४१	८	जयविजयजी	नयविजयजी

आर्षभोयचरित तथा विजयोल्लासकाव्य -

४	५	शाङ्गुण्य	षाङ्गुण्य
१०	१८	वासीभि	वासोभि
१३	१२	सुधां	क्षुधां
१६	१८	कलत्वात्	कुलत्वात्
१६	१९	ध्यापु	ध्यान
४८	१७	ह्यमु	ह्यमु
५०	१५	तदही	तदहो
५७	१४	व्यजिज्ञपम्	व्यजिज्ञपन्
७२	१३	पाटलिमऽहिमाशोः	पाटलिमाहिमांशोः
७३	१७	दृशोर्दोत्य	दृशोर्दोत्य
७८	७	श्रुत्वैतार्त्तो	श्रुत्वैतदात्तो
८६	११	कविर्बुध	कविबुध
८८	२०	संशयित	संशयितं
९७	४	धनमेव	धनस्येव
९७	९	दिग्मोह	दिङ्मोह

प०	पं०	अशुद्ध	शुद्ध
१०१	६	प्रेषयामा सराजा	प्रेषयामास राजा
१०२	३	व्यूनहा	व्यूहना
११०	८	भ्रुकुटि	भ्रुकुटि
११६	६	सम्पादिस च	सम्पादितं च
१२३	६	सङ्गल	मङ्गल
१२७	१०	भरभ्राजि	भरभ्राजि
१३१	१६	कुलश्रा	कुलश्री
१४६	६	हियार्पितां	ह्रियार्पितां
१५२	८	धनुराशः	धनुरीशः

सिद्धसहस्रनामकोश—

१७२ १२ तिस्रिलिङ्गकः तिस्रिलिङ्गकः

१७६ १६ के पश्चात् निम्नलिखित पुष्पिका चाहिये—

इति महोपाध्याय "श्रीयशोविजयगणि" समुच्चिते राजनगरवास्तव्य-
सङ्घमुख्य-साह'पनजी'सुश्रूषिते श्रीसिद्धनामकोशे षष्ठशतकप्रकाशः ॥६॥

१८० ८ नादोस्वरो नादोऽस्वरो
१८१ १५ उपज्ञा उपज्ञः

न्यायविशारद, न्यायाचार्य, महोपाध्याय,
श्रीमद् यशोविजयजी उपाध्याय
द्वारा रचित ग्रन्थों की सूची'

संस्कृत तथा प्राकृत भाषा के उपलब्ध ग्रन्थ

१ अज्भक्तमयपरिवला (अध्यात्ममत्परीक्षा) स्वोपज्ञटीका सहित	४ अनेकान्त [मत] व्यवस्था [अपरनाम-जेनतर्क]
+ २ अध्यात्मसार	+ ५ अस्पृशद्गतिवाद [अपरनाम-आध्यात्मिकमत- खण्डन स्वोपज्ञटीकासहित]
३ अध्यात्मोपनिषद्	

१. सूची के सम्बन्ध में ज्ञातव्य

प्रस्तुत सूची पूर्व प्रकाशित सभी सूचियों के संशोधन, परिवर्तन तथा परिवर्धन के पश्चात् यथासम्भव परिपूर्णरूप में सावधानी पूर्वक व्यवस्थित रूप से प्रकाशित की जा रही है। इसमें बहुत से ग्रन्थ नए भी जोड़े गए हैं।

इसमें ग्रन्थों के अन्तर्गत आए हुए छोटे-बड़े वादों को प्रस्तुत नहीं किया गया है। यहाँ प्रस्तुत ग्रन्थों के नामों में कुछ ग्रन्थों के नाम उनकी हस्तलिखित प्रतियों पर अंकित नामान्तर से भी देखने में आए हैं। अतः उपाध्यायजी महाराज के नाम पर अनुचित ढंग से अंकित कृतियों के नाम यहाँ नहीं दिये गये हैं। कुछ कृतियाँ ऐसी भी हैं जो इन्हीं की है अथवा नहीं? इस सम्बन्ध में अभी तक निर्णय नहीं हो पाया है, उनके नाम भी यहाँ सम्मिलित नहीं किये गये हैं। तथा अद्यावधि अज्ञातरूप में स्थित

+ ६ आत्मख्याति*	+ ११ कूबद्धिठन्तविशईकरण (कूपदृष्टान्तविशदीकरण) स्वोपज्ञटीका सहित
+ ७ आराधकविराधकचतुर्भङ्गी स्वोपज्ञटीका सहित	१२ गुरुतत्त्वविणिच्छय (गुरुतत्त्वविनिश्चय) स्वोपज्ञटीका सहित
+ ८ आर्षभीयवरित-महा- काव्य* ×	१३ जडलक्षणसमुच्चय (यतिलक्षणसमुच्चय)
६ उवएसरहस्य (उपदेश- रहस्य) स्वोपज्ञटीका सहित	१४ जैन तर्कभाषा
+ १० ऐन्द्रस्तुतिचतुर्विंशतिका स्वोपज्ञटीका सहित	१५ ज्ञानाबन्दु

कुछ कृतियाँ अपने ही ज्ञान-भण्डारों के सूची-पत्रों में अन्य रचयिताओं के नाम पर चढ़ी हुई हैं। इसी प्रकार कुछ कृतियाँ ऐसी हैं जिनके आदि और अन्त में उपाध्याय जी के नाम का उल्लेख नहीं होने से वे अनामी के रूप में ही उल्लिखित हैं, उनके बारे में भविष्य में ज्ञात होना सम्भव है।

संकेतचिह्न-बोध

प्रस्तुत सूची में कुछ संकेत चिह्नों का प्रयोग किया गया है, जिनमें* ऐसा पुष्प चिह्न अनूदित कृतियों का सूचक है।

* × पुष्प एवं (क्रास) गुणन-चिह्न ऐसे दोनों प्रकार के चिह्न अनूदित होने के साथ ही अपूर्ण तथा खण्डित कृतियों के लिए प्रयुक्त हैं।

+ ऐसा धन चिह्न स्वयं उपाध्याय जी महाराज के अपने ही हाथ से लिखे गये प्रथमादर्शरूप ग्रन्थों का परिचायक है।

(?) ऐसा प्रश्नवाचक चिह्न "यह कृति उपाध्यायजी द्वारा रचित है अथवा नहीं?" इस प्रकार की शंका को अभिव्यक्त करता है।

- १६ ज्ञानसार
 १७ ज्ञानार्णव
 स्वोपज्ञटीका सहित
 + चक्षुप्राप्यकारितावाद
 + १९ तिङ्न्वयोक्ति* ×
 २० देवधर्मपरीक्षा
 २१ द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका
 स्वोपज्ञटीका सहित
 २२ धर्मपरिक्खा (धर्मपरीक्षा)
 स्वोपज्ञटीका सहित
 २३ नयप्रदीप
 + २४ नयरहस्य
 २५ नयोपदेश
 स्वोपज्ञटीका सहित
 + २६ न्यायखण्डनखाद्यं टीका
 [स्वकृत 'महावीरस्तव'
 मूल पर निर्मित]
 + २७ न्यायालोक
 + २८ निशाभक्तदुष्टत्वविचार-
 प्रकरण
 २९ परमज्योतिः पञ्चविंशतिका
 ३० परमात्मापञ्चविंशतिका
 ३१ प्रतिमाशतक
 स्वोपज्ञटीका सहित
- ३२ प्रतिमस्स्थापनन्याय
 + ३३ प्रमेयमाला* +
 + ३४ भासारहस्य (भाषारहस्य)
 स्वोपज्ञटीका सहित
 + ३५ मार्गपरिशुद्धि
 ३६ यतिदिनचर्या (?) *
 + ३७ वादमाला प्रथम
 + ३८ वादमाला द्वितीय* ×
 + ३९ वादमाला तृतीया* ×
 + ४० विजयप्रभसूरिक्षामणक-
 विज्ञप्तिपत्र*
 ४१ विजयप्रभसूरिस्वाध्याय
 + ४२ विजयोत्लासकाव्य* ×
 + ४३ विषयतावाद
 ४४ वैराग्यकल्पलता
 + ४५ वैराग्यरति ×
 ४६ सामाचारीपयरण (सामा-
 चारीप्रकरण)
 स्वोपज्ञटीका सहित
 ४७ सिद्धसहस्रनामकोश* ×
 ४८ स्तोत्रावली—
 —आदिजिनस्तोत्र
 —शमीनाभिधषाश्वर्चनाथ
 स्तोत्र [पद्य सं० ६]

(घ)

- वाराणसीपार्श्वनाथस्तोत्र
[पद्य सं० २१]
- शङ्खेश्वरपार्श्वनाथस्तोत्र
[पद्य सं० ३३]
- शङ्खेश्वरपार्श्वनाथस्तोत्र
[पद्य सं० ६८]
- गोडीपार्श्वनाथस्तोत्र.
[पद्य सं० १०८]

- महावीरप्रभुस्तोत्र.
[पद्य सं०]
- शङ्खेश्वरपार्श्वनाथस्तोत्र
[पद्य सं० ११३]
- वीरस्तव [पद्य सं० १०६]
समाधिसाम्यद्वान्त्रिंशिका
- स्तुतिगीति तथा पत्रकाव्य*

पूर्वाचार्यकृत संस्कृत-प्राकृत ग्रन्थों पर उपलब्ध

टीका तथा भाष्य ग्रन्थ

श्वेताम्बर ग्रन्थों पर टीकाएँ

- + १ उत्पादादिसिद्धिप्रकरण
की टीका ×
- + २ कम्मपयडि (कर्मप्रकृति)
बृहत्टीका
- ३ कम्मपयडि लघुटीका
[प्रारम्भमात्र प्राप्त]
- + ४ तत्त्वार्थसूत्र की टीका
[प्रथमाध्याय मात्र उपलब्ध]

- + ५ जोगविहाण वीसिया(योग-
विधानविशिका की टीका)
- + ६ वीतरागस्तोत्र-अष्टम
प्रकाश की 'स्याद्वाद-
रहस्य'नामक तीन टीकाएँ*
[+ उत्कृष्ट, मध्यम तथा
× जघन्य]
- ७ शास्त्रवार्तासमुच्चय की
'स्याद्वादकल्पलता' टीका

१. स्तोत्रावली में ये सभी स्तोत्र हिन्दी अनुवाद सहित छपकर प्रकाशित हो चुके हैं।

८ षोडशक की टीका	+१ काव्यप्रकाश की टीका*× ^१
९ स्याद्वादमञ्जरी की टीका(?)* <u>दिगम्बर ग्रन्थों पर टीका</u>	२ न्यायसिद्धान्तमञ्जरी शब्दखण्ड की टीका
+१ अष्टसाहस्री की टीका <u>जैनेतर ग्रन्थों पर टीकाएँ</u>	+३ पातञ्जलयोगदर्शन की टीका

अन्यकर्तृक-लभ्य संशोधित ग्रन्थ

१. धर्मसंग्रह [स्वकीय टिप्पणी-सहित]
२. उवएसमाला-(उपदेशमाला बालावबोध)

सम्पादित-ग्रन्थ

द्वादशारनचयक्रोद्धार टीका आलेखनादि

स्वकृत संस्कृत और-प्राकृत के अलभ्य ग्रन्थ तथा टीकाएँ

- १ अध्यात्मबिन्दु
- २ अध्यात्मोपदेश
- ३ अनेकान्त(वाद) प्रवेश
- ४ अलङ्कारचूडामणि की टीका
[हैमकाव्यानुशासन की
स्वोपज्ञ 'अलङ्कारचूडामणि'
टीका पर की गई टीका]
- ५ आलोकहेतुतावाद
- ६ छन्दश्चूडामणि की टीका
[हैम छन्दोनुशासन की
स्वोपज्ञ 'छन्दश्चूडामणि'
स्वोपज्ञ 'छन्दश्चूडामणि'
की टीका पर की गई टीका]
- ७ ज्ञानसार अवचूर्ण
- ८ तत्त्वालोकविवरण

१. यह ग्रन्थ भी हिन्दी अनुवाद तथा विस्तृत उपोद्घात सहित अभी छपा है।

(च)

६ त्रिसूत्र्यालोकविवरण	१७ विधिवाद
१० द्रव्यालोक स्वोपज्ञटीका सहित	१८ वेदान्तनिर्णय
११ न्यायबिन्दु (?)	१९ वेदान्तविवेकसर्वस्व
१२ न्यायवादाथ	२० शठप्रकरण
१३ प्रमारहस्य	२१ सिरिपुञ्जलेह (श्रीपूज्यलेख)
१४ मङ्गलवाद	२२ सप्तभङ्गीतरङ्गिणी
१५ वादरहस्य	२३ सिद्धान्ततर्कपरिष्कार
१६ वादाणव	

इनके अतिरिक्त [हारिभद्रीय]— १९ विशिकाओं पर की गई १९ टीकाएँ तथा अन्त में 'रहस्य' शब्द-पद से अलंकृत अनेक प्रकरण-ग्रन्थ और अन्य उल्लिखित 'चित्ररूपप्रकाश', ज्ञानकर्म समुच्चयवाद' आदि छोटी-बड़ी कृतियाँ। इसी प्रकार बहुत-सी कृतियाँ अप्राप्य भी हो गई हैं।

गुजराती, हिन्दी और मिश्रभाषा में उपलब्ध कृतियाँ

१ अगियार अंग सज्भाय	*४ अध्यात्ममत परीक्षा बाला- वबोध
२ अगियार गणधर नमस्कार	
३ अठार पापस्थानक सज्भाय	५ अमृतवेलीनी सज्भायो (दो)

१. इन गुर्जर कृतियों का अधिकांश भाग 'गुर्जरसाहित्य संग्रह' भाग—१, २ में मुद्रित हो चुका है।

२. सज्भाय शब्द मूलतः स्वाध्याय का प्राकृत रूप है।

- × ६ आदेशपट्टक
 ७ आनन्दधन अष्टपदी
 ८ आठ दृष्टिनी सञ्ज्ञाय
 ९ एक सौ आठ बोल संग्रह
 × १० कायस्थिति स्तवन
 ११ चड्या पड्यानी सञ्ज्ञाय
 १२ चौबीसीओ (तीन), [पद्य सं० ३३६)
 १३ जस विलास (आध्यात्मिक पद) (पद्य सं० २४२)
 + १४ जम्बूस्वामी रास (पद्य सं० ६६४)
 १५ जिनप्रतिमा स्थापननी सञ्ज्ञाय (तीन)
 १६ जैसलमैर के दो पत्र
 × १७ ज्ञानसार बालावबोध
 × १८ तत्त्वार्थाधिगमस्तोत्र, बालावबोध
 × १९ तेर काठिया निबन्ध (?)
 २० दिक्पट चोरासी बोल
 २१ द्रव्यगुण पर्याय रास स्वोपज्ञ टवार्थ सहित
 २२ नवपदपूजा (श्रीपालरास के अन्तर्गत)
 २३ नवनिधान स्तवनो
 २४ नयरहस्यगर्भित सीमन्धर स्वामी की विनतिरूप-स्तवन, स्तवक सहित (पृ० सं० १२५)
 २५ निश्चयव्यवहारगर्भित शान्तिजिनस्तवन (प० सं० ४८)
 २७ नेमराजुल गीत
 २८ पंचपरमेष्ठी गीता (प० सं० १३१)
 २९ पंचगणधरभास
 ३०. प्रतिक्रमणहेतुगर्भ सञ्ज्ञाय
 ३१ पंचनियंठि (पंच निर्ग्रन्थ संग्रह) बालावबोध
 ३२ पांच कुगुरु सञ्ज्ञाय
 ३३ पिस्तालीश आगम सञ्ज्ञाय
 ३४ ब्रह्मगीता
 ३५ मौन एकादशी स्तवन
 ३६ यतिधर्म बत्तीसी

(ज)

- | | |
|--|---|
| × ३७ विचार बिन्दु
(धर्मपरीक्षा का वार्तिक) | ५५ सम्यक्त्व चौपाई, अपरनाम
षट्स्थानक स्वाध्याय
स्वोपज्ञ टीका सहित |
| ३८ विहरमान जिनविशतिका
(प० सं० १२३) | ४६ साधु-वन्दना रास
(प० सं० १०८) |
| ३९ वीरस्तुतिरूप हुंडो का
स्तवन स्वोपज्ञ बालावबोध
सहित (प० सं० १५०) | ४७ साम्यशतक (समताशतक) |
| ४० श्रीपालरास (केवल उत्त-
रार्ध) | ४८ स्थापनाचार्यकल्प सञ्ज्ञाय |
| ४१ समाधिशतक (तन्त्र) | ४९ सिद्धसहस्रनाम छन्द
(प० सं० २१) |
| × ४२ समुद्र-वहाण संवाद | ५० सिद्धान्तविचारर्गाभित सीम-
न्धरजिन स्तवन
स्वोपज्ञ टबार्थ
प० सं० ३५० |
| × ४३ संयमश्रेणि विचार सञ्ज्ञाय
स्वोपज्ञ टबार्थ सहित | ५१ सुगुरुसञ्ज्ञाय |
| ४४ सम्यक्त्वना सङ्गठ बोधनी
सञ्ज्ञाय (प० सं० ६५) | ५२ तर्कसंग्रह बालावबोध |

अन्यकर्तृक ग्रन्थों के अनुवाद रूप में

गुर्जर भाषा को अप्राप्य कृतियां

१. आनन्दघन बावीशी-बालावबोध तथा २. अपभ्रंश प्रबन्ध (?)

—०—

× यह चिह्न अप्रकाशित कृतियों का सूचक है ।

+ यह चिह्न उपलब्ध संस्कृत सूची में अनुलिखित कृतियों का सूचक है क्योंकि ये ग्रन्थांश रूप में ही प्राप्त हैं ।

साहित्य-कलारत्न, मुनि श्रीयशोविजयजी महाराज के साहित्य एवं कला-लक्षी कार्यों की सूची

[पू० मुनि श्री यशोविजयजी महाराज (इस ग्रन्थ के प्रधान सम्पादक तथा संयोजक) ने श्रुतसाहित्य तथा जैनकला के क्षेत्र में अत्यन्त महत्वपूर्ण सेवा की है। हिन्दी साहित्य का पाठक-वर्ग भी आपकी कृतियों से परिचित हो, इस दृष्टि से यहां निम्नलिखित सूची प्रस्तुत की जा रही है।—सम्पादक]

(१) स्वरचित एवं सम्पादित कृतियां

१-'सुयश जिन स्तवनावली' (सं० १९०१)

२-चन्द्रसूर्यमण्डल कर्णिका निरूपण (सं० १९९२)

३-बृहत्संग्रहणी (संग्रहणीरत्न) चित्रावली (६५ चित्र) (सं० १९९८)

४-पाँच परिशिष्ट' (सं० २००)

५-भगवान् श्रीमहावीर के १५ चित्रों का परिचय, स्वयं मुनिजी के हाथों से चित्रित (सं० २०१५)

६-उपाध्यायजी महाराज द्वारा स्वहस्तलिखित एवं अन्य प्रतियों के आद्य तथा अन्तिम पृष्ठों की ५० प्रतिकृतियों का सम्पुट (आलबम-चित्राधार) (सं० २०१७)

७-आगमरत्न पिस्तालीशी (गुजराती पद्य) (सं० २०२३)

-
१. इस कृति की अब तक आठ आवृतियां छप चुकी हैं। आठवीं आवृत्ति वि. सं. २००० में छपी थी।
 २. इसमें-से नौ गुजराती और एक हिन्दी स्तवन 'मोहन-माला' में दिये हैं। इसके अतिरिक्त इसमें मुनिजी द्वारा रचित गहुंली को भी स्थान दिया गया है।
 ३. ये परिशिष्ट बृहत्संग्रहणी सानुवाद प्रकाशित हुई है उससे सम्बन्धित हैं।

८-तीर्थङ्कर भगवान् महावीर [ग्रन्थ के ३५ चित्रों का तीन भाषाओं में परिचय, १२ परिशिष्ट तथा १०५ प्रतीक एवं ४० रेखा पट्टिकाओं का परिचय] (सं० २०२८)

(२) अनूदित कृतियाँ

१-बृहत्संग्रहणी सूत्र, यन्त्र, कोष्ठक तथा ६५ रंग-बिरंगे स्व-निमित्त चित्रों से युक्त (सं० १९९५)

२-बृहत्संग्रहणी सूत्रनी गाथाओ, गाथार्थ सहित (सं० १९९५)

३-सुजसवेली भास; महत्त्वपूर्ण टिप्पणी के साथ (सं० २००६)

(३) संशोधित तथा सम्पादित कृतियाँ

१-नव्वाणु यात्रानी विधि (सं० २०००)

२-आत्म-कल्याण माला (चैत्यवन्दन, थोय, सज्भाय, ढालियाँ आदि का विपुल संग्रह (आ. २. सं० २००७)

३-सज्भायो तथा ढालियाँ (सं० २००७)

४-श्रीपौषध विधि (आ. ४. सं० २००८)

५-जिनेन्द्र-स्तवादि-गुणगुम्फित मोहनमाला' (अ० ४, सं० २००६)

६-सुजस वेली भास (सं० २००६)

७-कल्पसूत्र सुबोधिका टीका सहित, प्रति के आकार में कतिपय उपयोगी विशेषताओं के साथ (सं० २०१०)

८-ऋषिमण्डल स्तोत्र (लघु और बृहत्) १६ पृष्ठात्मक तथा १०२ पाठ-भेदों के सहित का संशोधन, ३२ पृष्ठात्मक की दो आवृत्तियाँ, (सं० २०१२, २०१७ तथा २०२३)

९-यशोविजय स्मृतिग्रन्थ (सं० २०१३)

१०-ऐन्द्रस्तुति सटीक (सं० २०१८)

११-यशोदोहन (सं० २०२२)

(४) संयोजित और सम्पादित कृतियाँ

- १-यक्ष-यक्षिणी चित्रावली (२४ यक्ष और २४ यक्षिणियों के जयपुरी शैली में चित्रित एकरंगी चित्र) (सं० २०१८)
- २-संवच्छरी प्रतिक्रमणनी सरल विधि, अनेक चित्रसहित (आसन और मुद्राओं से सम्बन्धित ३२ चित्रों के साथ) (सं० २०२८ तथा ४० चित्रों के साथ सं० २०२६)¹
- ३-प्रतिक्रमण चित्रावली (केवल चित्र तथा उनके परिचय सहित, सं० २०२८)

(५) संशोधित कृतियाँ

- १-जगदुद्धारक भगवान महावीर (सं० २०२०)
- २-नवतत्त्व दीपिका (सं० २०२२)
- ३-नमस्कार-मन्त्रसिद्धि (सं० २०२३)
- ४-भक्तामर-रहस्य (सं० २०२७)
- ५-ऋषिमण्डल आराधना (सं० २०२८)

(६) प्रेरित कृतियाँ

- १-षट्त्रिंशिका चतुष्कप्रकरण (सं. १९६०)
- २-नवतत्त्व-प्रकरणम् सुमङ्गलाटीकासहितम् (सं. १९६०)
- ३-धर्मबोध ग्रन्थमाला (सं. २००८)
- ४-जैन संस्कृत साहित्यनो इतिहास, भाग १-२-३ (सं. २०१३, २०२५ तथा २०२६)
- ५-यशोदोहन (सं. २०२२)

(७) निम्नलिखित कृतियों की प्रस्तावनाएँ

- १-बृहत्संग्रहणी भाषान्तर (सं. १९६६)
- २-भुवनविहार-दर्पण
- ३-जगदुद्धारक भगवान महावीर

१. इस कृति का हिन्दी अनुवाद भी प्रकाशित हो चुका है।

- ४-नमस्कार मन्त्र-सिद्धि
५-जैन संस्कृत साहित्यनो इतिहास भाग १-२-३
६-यशोदोहन (सं० २०२२)
७-उवसगहरं स्तोत्र याने जैनमन्त्रवादनी
जयगाथा (सं. २०२५)
८-ऋषिमण्डल आराधना
९-समाधिमरणनी चाबी (सं. २०२४)
१०-संगीत, नृत्य अने नाट्य सम्बन्धी जैन उल्लेखो
अने ग्रन्थो (सं० २०२६)
११-ऋषिमण्डलस्तोत्र (सं० २०१२)
१२-ऐन्द्रस्तुति (सं० २०१०)
१३-वैराग्यरतिः (सं० २०२५)

इसके अतिरिक्त मुनिजी ने 'खेमो देदराणी, संगीतसुधा, जैन तपावलि और तपोविधि, जैनदर्शन संग्रह स्थान परिचय, यक्ष-यक्षिणी-चित्रावली, अमृतधारा, नवतत्त्व-दीपिका, अमर उपाध्यायजी, प्रगटथो प्रेमप्रकाश इत्यादि लघु पुस्तकों पर छोटे तथा आवश्यकता-नुसार प्राक्कथन अथवा प्रस्तावनाएं भी लिखी हैं।

(८) अप्रकाशित कृतियाँ

- १-पाणिनीय 'धातुकोश' (सम्पूर्ण रूप तथा आवश्यक टिप्पणी सहित)
२-पाणिनीय 'उणादिकोश' (धातु, गण, सूत्र, प्रत्यय, व्युत्पत्ति, लिङ्ग और फलित शब्द उनके हिन्दी, अंग्रेजी एवं गुजराती पर्याय सहित।
३-सिद्धचक्रबृहद्दयन्त्रोद्धारपूजनविधि (विविध चित्रसहित)

१. इसमें उपाध्यायजी की स्वहस्तलिखित तथा अन्य प्रतियों के साथ एवं अन्तिम पत्रों की ५० प्रतिकृतियों के आलम्बन की सं. २०१७ में प्रकाशित प्रस्तावना को स्थान दिया गया है;

- ४-ऋषिमण्डलयन्त्र पूजनविधि (विविध चित्रसहित)
५-हारिभद्रीय कतिपय विशिकाओं का भाषान्तर
६-ऋषिमण्डल स्तोत्र (मूल, अर्थ तथा आवश्यक चित्रों के साथ)
७-अट्टार अभिषेक विधि

(६) विचाराधीन कृतियां

- १-पारिभाषिक शब्द-ज्ञान कोश, जैनधर्म से सम्बन्धित निम्न-
लिखित कोश चित्र सहित—
१-आगमशब्दकोश (पञ्चाङ्गी)
२-आचारशब्दकोश
३-प्रतिक्रमणसूत्र शब्दकोश
४-द्रव्यानुयोग शब्दकोश
५-भूगोल, खगोल, ऐतिहासिक जैन राजा, मन्त्री आदि
से सम्बद्ध परिचय कोश
६-कथाकोश (व्यक्ति के नाम तथा उसकी अति संक्षिप्त
प्रामाणिक कथा)
७-विधि अणुष्ठान-कोश

इस प्रकार विविध पद्धति के सात भागों में कोश तैयार कराने
की योजना विचाराधीन है ।

- २-भारत की अनेक भाषा तथा विदेश की मुख्य भाषाओं में
जैनधर्म के मुख्य-मुख्य विषयों से सम्बद्ध ५० से १०० पृष्ठों के
बीच आकारवाली पृथक्-पृथक् पुस्तकें तैयार कराना आदि ।

प्रेस कापियां

न्यायाचार्य श्री यशोविजयजी गणी विरचित निम्नलिखित कृतियों
की मुनि जी प्रेस कापियां तैयार करवाई हैं—

- * १-आत्मख्याति (माध्यम नव्यन्याय-दार्शनिक कृति)
- * २-प्रमेयमाला
- * ३-विषयतावाद
- * ४-वीतराग स्तोत्र (अष्टम प्रकाश) — बृहद् वृत्ति (,,)
- * ५- " (") — मध्यम वृत्ति (,,)
- * ६- " (") — जघन्य वृत्ति (,,)
- * ७-वादमाला' (नव्यन्याय-दार्शनिक)
- * ८-वादमाला (" ")
- * ९-चक्षुरप्राप्यकारितावाद (पद्यमय)
- * १०-न्यायसिद्धान्तमञ्जरी (शब्दखण्ड टीका)
- ११-तिङन्वयोक्ति (व्याकरण)
- १२-काव्यप्रकाश (द्वितीय तथा तृतीय उल्लास टीका)
- १३-सिद्धसहस्रनामकोश (पर्यायवाचक नाम)
- १४-आर्षभीय-चरित्र (महाकाव्य)
- १५-विजयोल्लास महाकाव्य
- १६-कूपदृष्टान्तविशदीकरण (धर्मशास्त्र)
- १७-यतिदिनचर्या (आचारशास्त्र)
- १८-विजयप्रभसूरिक्षामणकपत्र (पत्रकाव्य)
- * १९-स्तोत्रावली (हिन्दी अनुवाद सहित)
- २०-एक सौ आठ बोलसंग्रह

-
१. ० इस चिह्न वाली कृतियां संशोधनपूर्वक मुद्रित हो चुकी हैं ।
 २. यह कृति हिन्दी अनुवाद, विस्तृत भूमिका एवं अन्य आवश्यक टिप्पणियों के साथ प्रकाशित हो चुकी है ।
 ३. यह काव्य हिन्दी अनुवाद सहित 'स्तोत्रावली'—ग्रन्थ में प्रकाशित है ।
 ४. इस ग्रन्थ का गुजराती भाषान्तर के साथ प्रकाशन भी शीघ्र ही करने की सम्भावना है ।
 ५. इस संग्रह का मुद्रण चल रहा है ।

२१-तेर काठिया निबन्ध

२२-कायस्थिति स्तवन ढालियावालुं

२३-विचारबिन्दु (धर्मपरीक्षा का वार्तिक)

२४---आदि अने अन्तभाग (उपाध्यायजी के समस्त ग्रन्थों का अनुवाद सहित)

इसके अतिरिक्त न्यायाचार्य जी के जीवन-कवन के सम्बन्ध में तथा अन्य अनेक कृतियों के अनुवाद और उनके बालावबोध-टब्बाग्रों के प्रकाशन की योजना भी प्रस्तुत मुनिराज ने बनाई है। आपके प्रकाशित एवं अप्रकाशित लेखों की सूची भी पर्याप्त विस्तृत है।

कलामय कार्यों की सूची

(पूज्य मुनि श्री यशोविजय जी महाराज कला के क्षेत्र में भी नैसर्गिक अभिरुचि रखते हैं तथा उसके बारे में गम्भीर लाक्षणिक सूझ रखते हैं फलतः वे कला के क्षेत्र में भी कुछ न कुछ अभिनव-सर्जन करते ही रहते हैं। ऐसे सर्जन की संक्षिप्त जानकारी भी यहां पाठकों के परिचयार्थ दी जा रही है।)

१—महाराज श्री के स्वहस्त से निर्मित बृहत्संग्रहणी ग्रन्थ (संग्रहणीरत्न) के प्रायः ४० चित्र। जो कि एक कलर से लेकर चार कलर तक के हैं। ये छपे हुए तथा 'बृहत्संग्रहणी चित्रावली' की पुस्तिका के रूप में प्रकाशित हैं। (सं० १९९८)

२—सुनहरे अक्षरों में लिखवाया हुआ बारसा-कल्पसूत्र। जो कि विविध पद्धति से लिखे हुए पत्र, विविध प्रकार की सर्वश्रेष्ठ बॉर्डर, चित्र और अन्य अनेक विविधताओं से युक्त है। (सं० २०२३)

३—रौप्याक्षरी प्रतियाँ—रूपहले अक्षरों से लिखाई गई भव्य प्रतियाँ।

४—बारसासूत्र (भगवान् महावीर के जीवन से सम्बद्ध) के जयपुरी कलम में, पोथी के आकार में पत्रों पर मुनिजी ने अपनी कल्पना के अनुसार विशिष्ट प्रकार की हेतुलक्षी, बौद्धिक बॉर्डरों से तैयार करवाये गए अत्यन्त आकर्षक, भव्य तथा मनोरम चित्र।

(त)

५—भगवान महावीर के जीवन से संबद्ध ३४ तथा एक श्री गौतम स्वामी जी का इस प्रकार कुल ३५ चित्रों का अपूर्व तथा बेजोड़ चित्र-सम्पुट ।

जिसमें चार रंग के, प्रायः '६ × १२' इंच की साइज में छपे हुए चित्र हैं। इनमें विविध हेतुलक्षी, अत्यन्त उपयोगी, बौद्धिक ४० बॉर्डर, जैन तथा भारतीय संस्कृति के—जैन कुकुमपत्रिका तथा कार्डों में प्रयोग किया जा सके और नया-नया ज्ञान मिले ऐसे—उपयोगी १२१ प्रतीक हैं। इन ३५ चित्रों का परिचय हिन्दी, गुजराती तथा इंग्लिश तीन भाषाओं में दिया गया है।

तथा इनके साथ ही १२-परिशिष्ट भी जोड़े गए हैं। जिनमें भगवान महावीर के जीवन का संक्षेप में विशाल परिचय दिया गया है। सभी रेखापट्टियों (बॉर्डर) और प्रतीकों का परिचय २८ पृष्ठों में वर्णित है।

इन चित्रों की बाइंडिंग की हुई पुस्तक जिस प्रकार तैयार की गई है वंसा ही खुले ३५ चित्रों का पेकेट भी तैयार हुआ है।

६—विविध रंगों वाली डाक टिकटों से ही तैयार किए हुए भगवान श्री पार्श्वनाथ तथा श्री हेमचन्द्राचार्य जी के चित्र ।

७—भरत काम (गूथन) में सरिकर भगवान पार्श्वनाथ आदि ।

८—रंगीन कांच पर सोने के पतरे द्वारा तैयार किया गया विविध आकृतियों का विशिष्ट संग्रह ।

९—जम्बूद्वीप और अदीद्वीप के स्केल के अनुसार ड्रेसिंग क्लाय पर तैयार किये गए ५ फुट के नक्शे (सं० २००३)

१०—मिरर (बिल्लोरी) काच-ग्लासवर्क में तैयार कराये हुए चित्र ।

११—जैन साधु प्रातःकाल से रात्रि शयन तक क्या प्रवृत्तियां करते हैं ? इससे सम्बद्ध दिनचर्या के तैयार किए जा रहे रंगीन ३५ चित्र ।

१२—प्रतिक्रमण और जिन-मन्दिर में होने वाले -विविध-अनुष्ठान आदि में उपयोगी, आसन-मुद्राओं से सम्बन्धित पहली बार ही तैयार किया गया ४२ चित्रों का संग्रह । (यह प्रदर्शन और प्रचार के लिए भी उपयोगी है।)

(थ)

१३—'पेपर कटिंग कला' पद्धति में पूर्णप्राय 'भगवान महावीर' के ३० जीवन प्रसंगों का कलासम्पुट । (यह सम्पुट भी भविष्य में मुद्रित होगा ।)

१४—इनके अतिरिक्त मुख्यरूप से भगवान आदिनाथ, श्री शान्तिनाथ, श्री नेमिनाथ और श्री पार्श्वनाथ इन चार तीर्थङ्करों के (और साथ ही साथ अवशिष्ट सभी तीर्थङ्करों के जीवन-प्रसंगों के) नए चित्र चित्रित करने का कार्य (द्वितीय चित्रसम्पुट की तैयारी के लिए) तीन वर्ष से चल रहा है । लगभग ३० से ४० चित्रों में यह कार्य पूर्ण होगा । भगवान श्री पार्श्वनाथ का जीवन तो चित्रित हो चुका है तथा भगवान श्री आदिनाथ जी का जीवन-चित्रण चल रहा है ।

यह दूसरा चित्र-सम्पुट मुद्रण-कला की विशिष्ट-पद्धति से तैयार किया जाएगा ।

—भगवान श्रीमहावीर के चित्रसम्पुट में कुछ प्रसंग शेष हैं वे भी तैयार किए जाएंगे अथवा तो पूरा महावीर-जीवन चित्रित करवाया जाएगा ।

१५ —हाथी दांत, चन्दन, सुखड़, सीप, काष्ठ आदि के माध्यमों पर जिन-मूर्तियां, गुरुमूर्तियां, यक्ष-यक्षिणी, देव-देवियों के कमल, बादाम की डिवियां, काजू, इलायची, मूंगफली, मूंगफली के दाने, छुहारा, चावल के दाने एवं अन्य खाद्य पदार्थों के आकारों में तथा अन्य अनेक आकारों की वस्तुओं में पार्श्वनाथ जी, पद्मावती आदि देव-देवियों की प्रतिकृतियां बनाई गई हैं । तथा मुनिजी ने कला को प्रोत्साहन देने और जैन-समाज कला के प्रति अनुरागी बने इस दृष्टि से अनेक जैनों के घर ऐसी वस्तुएं पहुंचाई भी हैं । इसके लिए बम्बई में कलाकारों को भी आपने तैयार किया है, जिसके परिणाम-स्वरूप अनेक साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविकाओं को मनोरम बादाम, कमल आदि वस्तुएं सुगमता से प्राप्त हो सकती हैं । मुनिजी के पास इनका अच्छा संग्रह है ।

—बालकों के लिए भगवान महावीर की सचित्र पुस्तक तैयार हो रही है ।

शिल्प-साहित्य

१६—शिल्प-स्थापत्य में गहरी प्रीति और सूझ होने के कारण अपनी स्वतन्त्र कल्पना द्वारा शास्त्रीयता को पूर्णरूपेण सुरक्षित रखते हुए, विविध प्रकार के अनेक मूर्तिशिल्प मुनिजी ने तैयार करवाये हैं, इनमें कुछ तो ऐसे हैं कि जो जैन मूर्तिशिल्प के इतिहास में पहली बार ही तैयार हुए हैं। इन शिल्पों में जिनमूर्तियां, गुरुमूर्तियां, यक्षिणी तथा समवसरणरूप सिद्धचक्र आदि हैं। आज भी इस दिशा में कार्य चल रहा है तथा और भी अनूठे प्रकार के शिल्प तैयार होंगे, ऐसी संभावना है।

मुनिजी के शिल्पों को आधार मानकर अन्य मूर्ति-शिल्प गुजरात, राजस्थान, महाराष्ट्र और मध्यप्रदेश के जैन मन्दिरों के लिए वहां के जैनसंघों ने तैयार करवाए हैं।

पूज्य मुनिजी द्वारा विगत १६ वर्षों से आरम्भ की गई अनेक अभिनव प्रवृत्तियों, पद्धतियों और प्रणालियों का अनुकरण अनेक स्थानों पर अपनाया गया है जोकि मुनिजी की समाजोपयोगी दृष्टि के प्रति आभारी है।

प्रचार के क्षेत्र में

जैन भक्ति-साहित्य के प्रचार की दिशा में 'जैन संस्कृति कलाकेन्द्र' संस्था ने पू० मुनि श्री की प्रेरणा से नवकार-मन्त्र तथा चार शरण की प्रार्थना, स्तवन, सज्भाय, पद आदि की छह रेकार्डें तैयार करवाई हैं। अब भगवान महावीर के भक्तिगीतों से सम्बन्धित एल. पी. रेकार्डें तैयार हो रही हैं और भगवान महावीर के ३५ चित्रों की स्लाइड भी तैयार हो रही है।

भगवान महावीर देव की २५००वीं निर्वाण शताब्दी के निमित्त से जैनो के घरों में जैनत्व टिका रहे, एतदर्थ प्रेरणात्मक, गृहोपयोगी, धार्मिक तथा दर्शनीय सामग्री तैयार हो, ऐसी अनेक व्यक्तियों की इच्छा होने से इस दिशा में भी वे प्रयत्नशील हैं।

धार्मिक यन्त्र-सामग्री

मुनिजी ने श्रेष्ठ और सुदृढ़ पद्धतिपूर्वक उत्तम प्रकार के संशोधित सिद्धचक्र तथा ऋषिमण्डल-यन्त्रों की त्रिरंगी, एकरंगी मुद्रित प्रतियां लेने वालों की

शक्ति और सुविधा को ध्यान में रखकर विविध आकारों में विविध रूप में तैयार करवाई हैं तथा जैनसंघ को आराधना की सुन्दर और मनोऽनुकूल कृतियां दी हैं। ये यन्त्र कागज पर, वस्त्र पर, ताम्र, एल्युमिनियम, सुवर्ण तथा चांदी आदि धातुओं पर मीनाकारी से तैयार करवाये हैं। ये दोनों यन्त्र प्रायः तीस हजार की संख्या में तैयार हुए हैं।

पूज्य मुनिजी के पास अन्य अर्वाचीन कला-संग्रह के साथ ही विशिष्ट प्रकार का प्राचीन संग्रह भी है।

इस संग्रह को दर्शकगण देखकर प्रेरणा प्राप्त करें ऐसे एक संग्रहालय (म्यूजियम) की नितान्त आवश्यकता है। जैनसंघ इस दिशा में गम्भीरता-पूर्वक सक्रियता से विचार करें यह अत्यावश्यक हो गया है। दानवीर, ट्रस्ट आदि इस दिशा में आगे आये, यही कामना है।

प्रकाशन समिति

पूज्य उपाध्याय श्री यशोविजयजी महाराज

द्वारा रचित

यशोभारती जैन प्रकाशन समिति के

अभिनव प्रकाशन

१-ऐन्द्रस्तुतिचतुर्विंशतिका (स्वोपज्ञ संस्कृत टीका, गुजराती एवं हिन्दी अनुवाद सहित)

२-वैराग्यरति : (आठ सर्गों में ५५११ पद्यों का अनुपम कथाकाव्य)

३-स्तोत्रावली : (हिन्दी अनुवाद सहित स्तोत्र एवं पत्रकाव्य का संग्रह)

४-काव्यप्रकाश : (द्वितीय-तृतीय उल्लास) उपाध्याय जी द्वारा रचित संस्कृत टीका, उसका अनुवाद तथा १४६ टीका और टीकाकारों के परिचय से युक्त विस्तृत उपोद्घात।

[ऐसे ही अन्य और भी ग्रन्थ शीघ्र छप रहे हैं।]

प्राप्तिस्थान—

श्री यशोभारती जैन प्रकाशन समिति

द्वारा—जे० चित्तरंजन एण्ड कम्पनी

३१२, मेकर भवन, रूम नं० ३, २१, न्यू मरीन लाइन्स, बम्बई—३०

